

संस्थापक-संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975



प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 7 अंक : 16

जनवरी-जुलाई, 2014

संपादक

विनोद तिवारी

सह संपादक

तेजभान

अजय आनंद

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटैक सिस्टम

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : हरिपाल त्यागी

मूल्य

एक प्रति : 75 रुपये

सदस्यता

वार्षिक : ₹ 200, संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पंचवार्षिक : ₹ 1000

आजीवन : ₹ 2500

विदेश के लिए : 75 \$

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-6762315

मो. : 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

PAKSHDHAR

A bi-annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

सम्पादकीय

जो सलीब अपनी कीलों से लिखती है	5
एक कवि : एक राग	
ग्यारह कविताएँ/अनामिका	11
व्याख्यान	
इतिहास लेखन में इतिहासकार/प्रो. सुधीर चंद्र	29
स्मरण	
मैं तुम्हें छू लेना चाहता था मार्केस!/श्रीकांत दुबे	36
बात कहीं मैं खरी	
ब्राह्मणवादी एकेडेमी ब्राह्मणवादी व्यवस्था के भीतर ही प्रगतिशीलता की तलाश करती है (चौथीराम यादव से प्रमोद कुमार शर्मा की बातचीत)	40
बहस	
बहस के लिए ज़रूरी है अध्ययन, अनुभव और स्तर/प्रदीप सक्सेना	48
लम्बी कविता	
वसंत/बृजराज सिंह	57
विशेष किताब	
डेविड हार्वे द्वारा 'पूँजी' का अध्ययन/गोपाल प्रधान	67
आलेख	
नवजागरण और आजाद ख्याल हसरत मोहानी/कर्मन्दु शिशिर	85
नेरुदा, फ़ैज और नागार्जुन के तिराहे पर	
तीसरी दुनिया का जनवाद/प्रफुल्ल कुमार मिश्र	109

कितनी तो सुन्दर है हर रूप में दुनिया/अरुणाभ सौरभ	124
क्रान्ति के लिये दोहरा मार्गवरोध/ज्यॉक दरीदा/अनु. रामकीर्ति शुक्ल	133
कहानी	
उन्नीस सौ चौरासी/राजकुमार राकेश	160
फ्रेम/प्रज्ञा	202
सुरंग/बी. एस. अनिल कुमार	211
कविता	
तीन कविताएँ/राजेन्द्र उपाध्याय	217
पाँच कविताएँ/सुधीर रंजन सिंह	222
छः कविताएँ/हरे प्रकाश उपाध्याय	229
जन्म शताब्दी	
जैनुल आबेदीन की तस्वीरें/आशुतोष कुमार (सुन्दरता का अपना घोंसला तलाशती कोयल की पुकार)	237
पुस्तक समीक्षा	
भूमंडलीय यथार्थ की कहानियाँ/अरुण होता	240
प्रगतिशीलता के पक्ष में वैचारिक मोर्चाबंदी/सुनील यादव	246
साँसों को पढ़ता जोगी/जीवन सिंह	252
बौराई इस हवा में हल और हलंत के साथ टिका एक कवि/आशीष मिश्र	259
साहित्य और परिवेश में एक जरूरी हस्तक्षेप/अभिलाष कुमार गोड़	262
निर्वासन: समय समाज और भावनाओं की बेदखली का आख्यान/अरुणेश शुक्ल	268
संकट के दौर में उत्तर कृष्ण की कथा/संजय कुमार	277

जो सलीब अपनी कीलों से लिखती है

“मैं अपने आभ्यंतर का आलोचक (Critical Insider) हूँ। अपनी संस्कृति को अपनी ही दृष्टि से देखना, अनुमान करना हमारे लिए महत्वपूर्ण है। हमारी परम्परा का विकास इसी कारण हुआ है। वेद की परम्परा आयी। बुद्ध ने इस पर प्रश्न किया। मैं भी उसी परम्परा का हूँ। साहित्य का हूँ, साहित्य में भी बसवण्णा, कनक दास, कुमार व्यास, नवोदय लेखकों, नव्य लेखकों की परम्परा का। कालानुक्रम में यही साहित्यिक परंपरा से प्रश्न करते, धक्का देते हुए उसका विकास करते हुए आये हैं।” (यू. आर. अनंतमूर्ति की पुस्तक ‘किस प्रकार की है यह भारतीयता’ से)

“नारणप्पा के शव-संस्कार का जब प्रश्न उठा तो उसका स्वयं समाधान करने की कोशिश मैंने नहीं की। मैं परमात्मा पर भरोसा करता रहा। धर्मशास्त्रों के पन्ने उलटता रहा। लेकिन क्या ठीक इसी उद्देश्य से हमने शास्त्रों का निर्माण नहीं किया है? हमारे द्वारा किये गए निर्णयों के और समूचे समाज के बीच गहरा सम्बन्ध होता है। अपनी प्रत्येक प्रक्रिया में हम अपने पूर्वजों, अपने गुरुओं अपने देवी-देवताओं, अपने मानव संगी साथियों को लपेट लेते हैं। अंतर का संपर्क इसी कारण पैदा होता है। जब मैं चन्द्री के साथ सोया था, तो किसी ऐसे संघर्ष का भान हुआ था ? क्या उस बारे में अपना निर्णय किसी विशेष नाप-तोल के बाद मैंने किया था ? (‘संस्कार’ उपन्यास में वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य का द्वाद)

“सार्वजनिक जीवन रहना चाहिए। वाच्यार्थ स्पष्ट रहना चाहिए। ध्वन्यार्थ भी स्पष्ट रहना चाहिए। लेकिन आज के कई राजनीतिज्ञों में ‘शर्म’ जैसी नैतिक भावना भी नहीं है। राजनीति में हर अच्छा व्यक्ति लगना चाहिए। केवल चुनाव लड़ना ही राजनीति नहीं है। आम लोगों की समस्याओं को हिम्मत से कहना आवश्यक बन चुका है।” (यू. आर. अनंतमूर्ति की पुस्तक ‘किस प्रकार की है यह भारतीयता’ से)

धर्म और धर्माचरण आधारित साम्प्रदायिक-राजनीतिक शक्तियों के प्रति आलोचनात्मक और अनासक्त नैतिक बोध रखने वाले, लम्पटता और कट्टरता की समूहगत राजनीति को लगातार चुनौती देने वाले, परम्परा और संस्कृति को निरंतर आलोच्य और परीक्षणीय बनाने की वकालत करने वाले, एक तेजस्वी मस्तिष्क, लोहियावादी, आधुनिक लेखक, विचारक और सार्वजनिक-बुद्धिजीवी उडुपी राजगोपालाचार्य अनंतमूर्ति ने अंततः इस दुनिया से विदा ले लिया। सार्त्र ने लिखा है कि, लेखकों को अपने घर ज्वालामुखी के मुहाने पर बनाना चाहिए। अनंतमूर्ति जैसे लेखकों ने अपने लेखक होने के उत्तरदायित्व को सचमुच ज्वालामुखी के मुहाने पर रहते हुए निभाया। भारत में ही नहीं पूरे विश्व की साहित्यिक विरादरी से अनंतमूर्ति को जो प्रेम और सम्मान मिला वह उनके लोकप्रिय होने का प्रमाण है। अनंतमूर्ति की सोच, उनके विचार, उनका सृजनात्मक-रचनात्मक कार्य उन्हें एक ऐसे भारतीय लेखक और विचारक के रूप में स्थापित करता है जो रूढ़िवादी, साम्प्रदायिक, कट्टरवादी, कूँ के दादुर-शिशुओं के लिए निरंतर समस्या पैदा करता रहेगा।

अनंतमूर्ति के पूरे रचनात्मक व्यवहार में मनुष्यता की बेहतरी के लिए धर्म, राजनीति, समाज, संस्कृति को लेकर जो निरंतर एक आलोच्य-भाव है वह किसी प्रतिक्रिया में नहीं है न ही वह 'यूरो-केंद्रित' आधुनिकता की दृष्टि का प्राच्य-भाव ही है। वह 'भारतीयता' का इतना प्रामाणिक और असंदिग्ध आधुनिक पाठ है जिसे अनंतमूर्ति को उनकी उसी 'भारतीय' परम्परा ने उपलब्ध कराया है, जिस भारतीय परम्परा ने उनका विरोध करने वाले, उनके खिलाफ नफरत और घृणा फैलाने वाले, उनकी मृत्यु का जश्न मनाने वालों को तंगनजरी दी है। 'परम्परा' को हेरिटेज मानकर उसे सिर्फ गर्व और गौरव के, महान और महानता के अविवेकी शिखर से देखने वालों के ऊपर आपको तरस भी क्योंकर आये। इसलिए जब एक व्यक्ति यह कह रहा है कि, वह अपने आभ्यंतर का आलोचक है तो उनकी समझ में ही यह नहीं आ सकता कि, दरअसल वह क्या कहना चाहता है। अनंतमूर्ति लगातार इस बात को लगातार दोहराते रहे, अपनी रचनाओं में रचते रहे कि, 'यदि आपका परंपरा से कोई झगड़ा नहीं होगा तो वर्तमान में आपसे कोई सृजन कार्य भी नहीं होगा। और यह झगड़ा बहुत बार खुद अपने आप से भी होता है। परम्परा से मेरा झगड़ा किसी बाहरी व्यक्ति का सा नाता नहीं रखता, बल्कि उसके भीतर बसे व्यक्ति का सा नाता है मेरा। इसलिए मैं उसमें अपने आप को एक आलोचनाशील अन्तर्वासी की तरह पाता हूँ। कन्नड़ साहित्य की परम्परा से भी मुझे अपने इस प्रयत्न में मार्ग-दर्शन मिलता है। हमारे आदि कवि पम्प स्वयं जैन होते हुए भी एक हिन्दू राजा के दरबार में रहे और कन्नड़ में महाभारत की रचना की। पम्प के महाभारत के वास्तविक नायक अर्जुन या कृष्ण नहीं हैं वहाँ वास्तविक नायक कर्ण है जो स्वयं कई वर्ण-व्यवस्था के ऊँच-नीच का शिकार हुआ था। बारहवीं सदी के हमारे महान शिव-भक्त वचनकार संत कवि वर्ण-व्यवस्था की, वेद की अपौरुषेयता को चुनौती देते हैं। उन्हीं दिनों महाकवि बासवण्णा ने ब्राह्मण कन्या का विवाह एक अछूत से कराया था।'

बीसवीं शताब्दी का छठा दशक 'नव-लेखन' की टेक पर देश भर की लगभग सभी भाषाओं में एक नए तेवर के साथ आता है। हिन्दी में भी 'नयी कविता' 'नयी कहानी' 'नव-लेखन' का यही दौर है। कन्नड़ में भी यह 'नव्य आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है। उसी 'नव्य-आन्दोलन' की वैचारिकी से निकले रचनाकार थे यू. आर.

अनंतमूर्ति। कन्नड़ में इस नव्य आन्दोलन के अगुआ थे विनायक कृष्ण गोकाक और गोपाल कृष्ण अडिग। इस आन्दोलन ने अपने आलोचनात्मक तेवर और आधुनिकता के तकाजों के साथ परम्परा के पुनर्मूल्यांकन, भाषा के नए प्रयोगों, सामाजिक-सांस्कृतिक असमानताओं और भेदों के चलते उस समय के सभी रचनाकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। यू. आर. अनंतमूर्ति, पी लंकेश, शांतिनाथ देसाई, ए. के. रामानुजन, शंकर मोकाशी पुणेकर, सुमतिन्द्र नाडिग, तिरुमलेश, चंद्रशेखर कम्बार, गंगाधर चित्ताल, गिरीश कर्नाड, श्रीकृष्ण आलनहल्ली, राव बहादुर, पूर्णचंद्र तेजस्वी और निसार अहमद सभी इस 'नव्य-आन्दोलन' का हिस्सा बने। जिस अपनी एक रचना 'संस्कार' के चलते अनंतमूर्ति कन्नड़ के अलावा भारत और भारत से बाहर चर्चित और प्रसिद्ध हुए वह इसी 'नव्य आन्दोलन' की देन है।

'संस्कार' विश्व की किसी भी भाषा में जो कुछ महत्वपूर्ण रचा गया है उससे होड़ लेने वाला एक ऐसा आधुनिक क्लासिक है जो धर्म, धर्माचरण, वर्णव्यवस्था, जाति, समाज, परंपरा, नैतिकता, मूल्य सबमें अन्तर्निहित पाखण्ड को उजागर करता है। कृत्रिम, बनावटी, अवास्तविक आवरणों को तार-तार करता यह उपन्यास सही अर्थों में 'ब्राह्मणवादी-संरचना' और 'व्यवस्था' का जबरदस्त क्रिटिक रचता है। धर्मशास्त्रों की स्वयं-सिद्ध प्रामाणिक नैतिकता को उसके सारे साक्ष्यों और प्रमाणों के साथ अपने जीवन में एक-एक पल पूरी ईमानदारी के साथ जीने वाला प्राणेशाचार्य चन्द्री के संपर्क में आकर इस कदर अवश हो जाता है और बाद में उसी सुख की कामना के लिए चन्द्री को ढूंढता फिरता है। अनंतमूर्ति अपने हाईस्कूल के दिनों की याद करते हुए यह बताते हैं कि 'संस्कार' उपन्यास के बीज कहाँ और कैसे पड़े। अनंतमूर्ति सनातनी ब्राह्मण परिवार से थे। अग्रहार में उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा हुयी। ऐसे ही अग्रहार के दिनों की एक घटना का जिक्र करते हुए वे लिखते हुए वे बताते हैं कि, "एक बार कस्बे में प्लेग फैल गया और टीका लगाने वाला जो डाक्टर आया था वह गाँव के बाहर बसने वाले अछूतों की बस्तियों में गया ही नहीं। प्लेग से हरिजन मरने लगे और इधर अग्रहार के कुछ दकियानूसी अन्धविश्वासी लोग उन हरिजनों की मृत्यु के लिए उनके मंदिर प्रवेश के पाप को कारण बताने लगे।...उन्ही दिनों में अग्रहार में एक हस्तलिखित पत्रिका निकालने लगा था और उसमें मैंने इसी विषय पर एक कहानी लिखी। उस कहानी का सारांश यह था कि, हरिजन जब प्लेग से मरने लगे तब उनके कुनबे की एक अत्यंत सुन्दर युवती घर से भाग निकली। मुझे पता था कि वह क्यों भागी है। सिर्फ मैं ही यह रहस्य जनता था। अग्रहार में एक नौजवान था जो सेना में था। युवती के साथ उसके अवैध सम्बन्ध थे। इसमें मुझे लगा कि, मत्स्यगंधा जैसी दिखने वाली वह काली खूबसूरत औरत अपने बस्ती के दूसरे लोगों की तरह हाथ पर हाथ धरे मरने के लिए कत्तई तैयार नहीं थी, क्योंकि उस अछूत को छुआ जा चुका था और इस स्पर्श ने उसे जगा दिया था। बाद में हाईस्कूल के दिनों की लिखी इस कहानी को पुनः लिखने की प्रक्रिया में मेरा उपन्यास 'संस्कार' बना।"

यू. आर. अनंतमूर्ति की समूची रचनात्मक-प्रक्रिया में धर्म, जाति, लिंग, भाषा आदि के आधार पर बनायी गयी सामाजिक रूढ़ियों और असमानताओं के विरुद्ध एक विद्रोहात्मक मानवतावादी लेखन का ढंग दिखायी देता है। वे अपने लोकतांत्रिक-विचारों,

मानवतावादी-सिद्धान्तों, वास्तविक व तार्किक सांस्कृतिक-मूल्यों पर अडिग रहने वाले एक ऐसे बेबाक और मुखर छवि वाले रचनाकार थे जिनकी आवाज में कभी भी हकलाहट नहीं सुनायी पड़ी। उनका प्रतिरोधी-स्वर अखीर तक प्रभावी और निष्कंप बना रहा। अपने लेखन और विचार में वे मार्क्स, गांधी, सार्त्र, लोहिया, जीडू कृष्णमूर्ति, बर्ट्रेड रसेल, डी. एच. लारेंस आदि से प्रभावित रहे। वे कन्नड़ भाषा के उन युगान्तरकारी रचनाकारों में थे, जिन्होंने भारतीय चिन्तन-धारा को नया उन्मेष दिया। अपनी रचनाओं में अनंतमूर्ति 'भारतीयता' को उसके न्यूनतम से लेकर महत्तम तक में एक ऐसे विचार के रूप में प्रस्तावित करते हैं जिसमें उसकी पहचान को किसी खास धर्म, सम्प्रदाय, परमपरा, साहित्य, भाषा, समाज, जाति, रहन, रीति, रूढ़ि, पंथ, विचार या आस्था में नहीं परिभाषित किया जा सकता। जब वे यह कहते हैं कि, 'राम का जन्म अयोध्या में नहीं हुआ था, बल्कि जब गोडसे ने गांधी को पिस्तौल से मारा था तब गाँधी के मुंह से जो राम निकला था वही असली राम था' तो वह उस राम की बात नहीं करते जो अयोध्या के राजा दसरथ के पुत्र राम हैं वरन वह एक ऐसे राम को परिभाषित कर रहे होते हैं जिसका जन्म किसी राष्ट्रवादी-पिस्तौल से नहीं वरन पीड़ा के उन महत्तम क्षणों में होता है जिसका गान नरसी मेहता करते हैं, जिसका गान कबीर करते हैं और जिसका गान इस भारत देश की लाखों करोड़ों जनता करती है। आज 'भारतीयता' को 'हिन्दू और हिंदुस्थान' वाले कट्टर राष्ट्रवादी वैचारिकी के तंग दायरे में रिड्यूस करने के जो प्रयत्न शुरू किये जा रहे हैं उसमें अनंतमूर्ति जैसे प्रतिरोधी संबल का हमारे बीच से जाना निश्चित ही हमारे समय के अँधेरे को और घना और गहरा बनाता है।

एक आधुनिक लेखक की तरह अनंतमूर्ति आधुनिकता की लगातार गहन आलोचना करने से पीछे नहीं हटते। वह पूंजीवाद के नए माडल और विकास के रूप में भूमंडलीकरण को देखते और पहचानते हैं। भूमंडलीकरण का जो सबकुछ को लील जाने और डकार जाने का डरावना रूप है—अनंतमूर्ति के यहाँ उसका बहुत ही गहरे प्रतिरोध के साथ नकार है। भूमंडलीकरण के बरक्स वे 'स्थानीयता' को 'आंचलिकता' को उसके बहुसांस्कृतिक वैविध्य के साथ जीवित और बचाए रखने की बात करते हैं। उनका दृढ़ मत है कि, आज इस भूमंडलीकरण अथवा बाजारवाद के विरुद्ध अगर कोई सही प्रतिरोधी ताकत निकलकर आयेगी वह 'स्थानीयता' के भूगोल और संस्कृति से ही निकल कर आयेगी। भूमंडलीकरण के नाम पर जो एक तरह का स्वाद, एक तरह की रुचि, एक तरह की रहन, एक तरह की संस्कृति और एक तरह का मिजाज बनाने और रचने की कोशिश लगातार चल रही है अनंतमूर्ति उसकी निरंतर आलोचना करते रहे हैं। वे मानते हैं कि, 'मेरे लिए यह कन्नड़ ही है जिसने मुझे लोक-स्मृतियों को, प्रतिरोध की संस्कृतियों को जीवित रखा है। और खुद हमारे समय में हमें पश्चिम के आप्लावाक प्रभाव से उबरने और उसे पचाने का उपाय भी सिखाया है।' अनंतमूर्ति की एक कहानी है—सूरज का घोड़ा (सूर्यन कुदुरे)। इस कहानी में जिस तरह से पूंजीवादियों की सांस्कृतिक-राजनीति और चालबाजियों का, पलायनवादी-बुद्धिजीवियों का और नव-बौद्धिक बेवकूफियों का व्यंग्यात्मक क्रिटिक रचा गया है वह अनंतमूर्ति की समझ को स्थापित करती है। अंग्रेजी के अध्यापक होने और विश्व-साहित्य और विचार को अंगरेजी के माध्यम से आत्मसात करने वाले, भारत में ही नहीं दुनिया भर में एक साहित्यिक और विचारक के रूप में

पहचाने जाने वाले अनंतमूर्ति ने हमेशा अपनी भाषा कन्नड़ में ही सृजनात्मक लेखन करना जरूरी समझा। वे मानते थे कि, 'उपनिवेशीकरण की राजनीति से उपजी मानसिकता और रुचि से हमारी वैविध्यपूर्ण बहुसांस्कृतिक पहचान की रक्षा अपनी भाषा के सृजन में ही संभव है। प्रतिरोध की प्रामाणिक अभिव्यक्ति जितने पुरजोर ढंग से हम अपनी भाषा और संस्कृति में कर सकते हैं उतनी किसी उपनिवेशित भाषा में नहीं।' वैश्विक साहित्यिक-राजनीति वाली विरादरी में वे निरंतर भारत की सृजन-शक्ति की रक्षा का वैचारिक संघर्ष करते दीखते हैं। वी. एस. नायपाल, एरिक एरिक्सन, चिनुबा अचिबे जैसे लोगों ने अनंतमूर्ति की रचनाओं को इन्हीं मूल्यों के आधार पर महत्वपूर्ण ढंग से रेखांकित किया है।

चिनुबा अचिबे के साथ एक उनकी बहुत ही दिलचस्प बातचीत है। 'उपनिवेशवाद' आधुनिकता, भूमंडलीकरण, सहित स्थानीयता के साथ अपनी जातीय पहचान और अस्मिता का संघर्ष, भाषा और वर्चस्व की राजनीति आदि विषयों पर इस बातचीत में कई बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल उभरकर आये हैं। बातचीत के एक क्रम में 'उपनिवेशन' और 'आधुनिक बनाने' की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अचिबे अपनी बात रखते हुए अनंतमूर्ति से पूछते हैं, '...अपने इतिहास के आलोक में वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण के लिए जूझने का तात्पर्य यह नहीं है कि जो कुछ पश्चिम का है सबको ही आप तिलांजलि दे दें। वहां से हम बहुत कुछ ले भी सकते हैं। यह तो सत्य है कि, यूरोप चाहे जितना भी सफल रहा हो पर सभी मामलों में उसे सफलता मिली हो ऐसी बात नहीं है। इसलिए हम केवल यूरोप को ही माडल मानकर चलते हैं तो हम एक तरफ मात्र अनुकरणशील बनते हैं और दूसरी तरफ अपने आप को पूरी तरह पश्चिमी यथार्थ-बोध से बाँध लेते हैं। आप देखें कि, लातिन अमेरिका, भारत, चीन जैसे देशों ने हजारों वर्षों तक जो जीवन जिया है, उस जीवन-व्यवहार में जो दंतकथाएं बयां हैं, उन दंतकथाओं में यथार्थ और आधुनिकता का जो लोक है उनके बारे में आप की क्या राय है?' इस पर अनंतमूर्ति की जो राय है वह इसलिए महत्वपूर्ण है कि वे किसी भी तरह के इकहरे यथार्थ, भाव-बोध, और विचार-बोध को आधुनिकता विरोधी मानते हैं। उनकी दृढ़ आस्था है कि, हमारी आधुनिकता इस लोकतंत्रिक-प्रक्रिया और संघर्ष से निर्धारित होगी कि, उसमें भिन्न धर्मों, भिन्न समाजों, भिन्न-भिन्न विचारों, मान्यताओं और विश्वसों के साथ विविध जातियों और वर्णों की समाई कितनी है। एक जाति, एक धर्म, एक संस्कृति, एक विचार ये सब तानाशाही को बढ़ावा देते हैं। इसी अर्थ में वे देश में 'अनेकता' के पक्षधर हैं न कि किसी एक संस्कृति या धर्म के तर्क पर राष्ट्रवाद के एकीकरण के। और अनंतमूर्ति ऐसी किसी भी तानशाही के विरुद्ध जीवन भर सन्नद्ध रहे। अनंतमूर्ति की इस प्रतिरोधी साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा को जीना और बचाए रखना आने वाले समय की मांग बनकर उठेगी। इसके लिए हम सभी लेखकों विचारकों, संस्कृतिकर्मियों को यू. आर. अनंतमूर्ति के इस अपील को जेहन में रखना चाहिए- 'हमें सार्वजनिक विभूति बनने से बचना चाहिए अन्यथा हम केवल अपने प्रशंसकों की आशा-आकांक्षा के गुलाम बन कर रह जायेंगे। मुझे लगता है कि, यदि हम अपनी हर नयी पुस्तक के बाद अपने कुछेक प्रशंसक नहीं खोते हैं तो जरूर ही हम लेखकों के साथ कुछ गड़बड़ है। क्योंकि अन्यथा तो हम या तो अपना ही अनुकरण कर रहे हैं या फिर अपने प्रति हमने अपनी जो

सार्वजनिक छवि बना ली है उसी को भुना रहे हैं। वक्तूता खतरनाक है, क्योंकि, यह सार्वजनिक भावावेश को, भीड़ के भावावेश को उभारती है। झूठ सुनते हुए लोग सुरक्षित और निश्चिन्तता का अनुभव करना चाहते हैं लेकिन उनकी आत्माएं दरअसल सच सुनने को व्याकुल रहती हैं। निपट एकांत में जिन चीजों के प्रति हमारी निष्ठा है उनके बारे में भरी सभा में कहने का साहस हमें नहीं खोना चाहिए। अगर हम इस कदर भटक जाएँ कि, खुद से ही झूठ बोलने लगें और उस झूठ पर विश्वास भी करने लगें तो हमें कोई नहीं बचा सकता। सार्वजनिक व्यक्तित्व या विभूति, राजनीतिक दलों के प्रवक्ता और सत्तारूढ़ वर्ग के राजकवि होने के यही सब खतरे हैं।’

अनंतमूर्ति ताओ-ते-चिंग को बहुत पसंद करते थे, उनके सूत्रों का अनुवाद किया है। अनंतमूर्ति को मौलाना रूमी भी बहुत पसंद थे। मेरे प्रिय लेखक और विचारक को श्रद्धांजलि के रूप में मौलाना रूमी की यह पंक्तियाँ—

“मेरे मरने के बाद धरती पर मेरी कब्र न खोजना
मैं तो अपने आरिफ के दिलों में पाया जाऊंगा।”

इस अंतराल में एक-एक कर कई रचनाकार और साहित्य-संस्कृतिकर्मी विदा ले हमसे दूर चले गए। गेब्रिअल गार्सिया मार्केस, नेल्सन मंडेला, अमरकांत, विजय दान देथा, राजेन्द्र यादव, परमानंद श्रीवास्तव, खुशवंत सिंह, नामदेव ढसाल, ओम प्रकाश वाल्मीकि, हरिकृष्ण देवसरे, सुचित्रा सेन, नंदा, मन्ना डे, प्राण, विनोद रैना, मधुकर सिंह, तेज सिंह, प्रसिद्ध अभिनेता और निर्देशक सर रिचर्ड एटनबरो, इतिहासकार बिपिन चंद्र सभी को पक्षधर की ओर से विनम्र श्रद्धांजलि। एक साथ जल्दी-जल्दी इन सबका जाना निश्चित ही एक बड़ा खालीपन छोड़ गया है। समय क्या इन्हें भर पायेगा ?

इन दुखद विदा-गीतों में जो सबसे पीड़ादायी रहा वह रविशंकर उपाध्याय जैसे एक होनहार युवा का अचानक विदा ले लेना। रविशंकर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे छात्र रहे। रविशंकर ने बहुत ही कम कवितायें लिखी हैं। अभी तो उसने शुरू ही शुरू किया था। रविशंकर की जो सबसे खास भूमिका थी वह थी नए से नए युवा लेखकों को पहचानना, उन्हें साहित्य के मंच पर एक साथ ले आना और उनके बीच साहित्य के परस्पर संवादी रिश्तों को बनाने में सेतु का काम करना। रविशंकर बिन खाए पिए दिन रात एक कर साहित्यिक आयोजनों में रत देखा जा सकता था। रविशंकर को चाहने वाले उस पर मर मिटने वाले युवाओं की एक लम्बी फेहरिशत है। सचमुच, रविशंकर का यँ ही शुरू-शुरू में ही चले जाना बेहद मार्मिक और दुखद है।

इस अंक के लिए आवरण-चित्र बेहद ही सरल व सहज मनुष्य हम सबके अत्यंत प्रिय जनधर्मी कलाकार श्री हरिपाल त्यागी ने बनाया है। आभार शब्द उनके लिए बहुत ही तुच्छ होगा।

पक्षधर का यह अंक गाजा में मारे गए उन अनाम बच्चों के नाम जिन्हें अब कोई नाम नहीं मिलेगा।

विनोद तिवारी

ग्यारह कविताएँ

अनामिका

गणिका-गली

सभ्यता से भी प्राचीन,
ये नदियों का तट थीं विस्तीर्ण—
चोर, नपुंसक, मूर्ख, संन्यासी, लम्पट, सामंत—
इनके तट आते डूबती नौकाओं पर
और ये उन्हें उबार लेतीं।
अब इनके प्रेमी अधेड़, विस्थापित मजूर,
“इनसे तो पैसे भी नहीं माँगते बनता, ऐ हुजूर!
पर हमारी बच्चियाँ पढ़ रही हैं
विस्तृत क्षितिज पर ककहरे—
उन्होंने उमगकर कहा और खाँसने लगीं!
लेटी हुई छत निहारती
अपभ्रंश का विरह—गीत दिखती हैं ये गणिकाएँ
पुराने शहर के लालटेन बाजार में
लालटेन तो नहीं जलती पर
ये जलती हैं
लालटेन वाली
धुँधली टिमक से!
युद्ध से घायल हो घर लौटे घोड़ों का
दुःख जानती हैं वो,
जानती हैं ये वे—लगता है कैसा

घुड़साल में उनको कहीं बाँधकर
अनमने कदमों से जब चल देता है कहीं घुड़सवार
और कभी वापस नहीं लौटता!
धीरे-धीरे भूल जाता है।
पोर-पोर उनका—
क्या होता है खरहरा,
और नाल झप से गले मिलती है कैसे—
कटे-फटे खुर भूल जाते हैं!
कोई यहाँ कभी नहीं आता!
सिर्फ एक वैद्यराज आते हैं
और भटकटैया में अश्वगंधा की
भावना मिलाकर
कुछ रसायन-सा पिलाते हैं!
गौरैया की नींद सोती हैं और
छपाक् जाग जाती हैं
रात के तीसरे पहर
बोलती हैं कुरलियाँ जो
अकुलाकर!
छाती पर हाथ धरे सोचती हैं कुछ-कुछ,
छाती पर हाथ धरे क्या सोचती हैं वे?

जड़ी-बूटियाँ

कविराज बुद्धभाव में बैठे रहते थे
दिन-दिन भर टूटी कुर्सी पर!
हम दोनों का एक अखबार साझा था
तो मिलना हो जाता सवेरे-सवेरे!

कविराज की खासियत यह थी—
अँधियारे में भी मरहम-पट्टी
कर लेते थे वे टटोलकर,
इस बारे में उनका कहना था—
“हर घाव का होता है अपना ही
ठण्डा प्रकाश,
जैसे कि सन्तों के सिर
आभामण्डल,
कालदेवता के सिर
नक्षत्रों की नागमणियाँ

अलग-अलग रंग में दमकती हैं
अलग-अलग लोगों पर!
पिछले महीने वे
मारे गये
नक्सल दस्ते से पुलिस की भिड़ंत में!
बस्तर के जंगल से
वे औषधि लाते थे,
नक्सल भी सुनते थे
बड़े गौर से उनकी बातें!
उनके उस भोले विश्वास की
कदर थी उन्हें!
मैं भी टहलती हुई चली जाती
कभी-कभी जंगल तक,
उस दिन उखाड़ी जो एक लता औषधि की
जोड़ लिए हाथ और बोले—
“यह औषधि ठहरी देवों की पितामही,
इसके इशारे पर
मंथर गति से बढ़े आते हैं
दुनिया के सारे उपचार
जैसे कि गोशाला से गायें!
बिक रहे हैं जंगल,
नदियों के तट बिक रहे हैं!
वे इनका मायका थीं!
वृद्धाओं का भी होता है वह छोह
अपने विच्छिन्न मायके से,
सो वे आहत हैं
अपना नया घर बसाते हुए
शहरी चौके के पीछे!
हे माता औषधियों की—
इन ताज़ा उखड़ी औषधियों को तेजस—दो,
रस से भरो इनका तुम पोर-पोर
कि धरती के सारे घाव भरें,
रह जाए घाव का इजोर!”

नायिका भेद : नवेलिका थेरी बोली

आचार्य, हम इनमें कोई नहीं—
कोई नहीं, कोई नहीं, कोई नहीं—

मुग्धा, प्रगल्भा, विदग्धा या सुरतिगर्विता,
 परकीया भी नहीं, न स्वकीया ही!
 मुग्धाएँ जब थीं हम—
 देनी थीं हमको परीक्षाएँ
 बोर्ड के सिवा भी कई,
 संस्थानों में प्रवेश की परीक्षाएँ देते हुए
 हमें फुर्सत ही नहीं मिली
 आनन्द सम्मोहिता या रतिकोविदा होने की।
 रात में जर्गी भी हम तो मोटी पुस्तकों में सर खपाती हुई,
 चौराहे तक निकलीं भी जब अँधेरे में—
 मुदिता या अभिसारिका भाव से तो नहीं,
 घर के कपड़ों में बस निकल पड़ीं
 चुइंगम लाने की खातिर की नींद भगे!
 प्रारब्धयौवन हुई जब हम
 नौकरी के सौ झमेले थे सर पर!
 क्लासिकल स्वकीयाएँ तन-मन से करती थीं
 पतिगृह की सेवा, हम तन-मन-धन से
 परिजन-पुरजन की, ससुराल-नैहर की,
 घर की और बाहर की
 दत्तचित्त सेवाएँ करती हुई भी
 फ़ैलती रहीं कचरमकुट्ट!
 स्वाधीन पतिका नहीं, न ही प्रवस्यपतिका
 आनन्द सम्मोहित भी नहीं, न ही कलहान्तरिता!
 कलह कभी करने का भी जी हुआ तो किससे करतीं—
 बाल-बुद्धि ही थे परमेश्वर हमारे,
 लगे ही नहीं वे कभी भी बराबर के—
 'पिया मोर बालक हम तरुनी,
 पिया ले ली—गोदक चलती बाजार' का छन्द साधती हुई
 आज जिस बाजार में हम खड़ी हैं न आचार्य जी,
 उसमें पहले नहीं, चुटकुला है हर जीव,
 तुमुल कोलाहल-कलह का ऐसा
 घनघोर-सा सिलसिला है यहाँ,
 कबीरजी की लुकाठी से
 सुलग रहे हैं बॉनफायर!
 दो-चार ब्लॉगों पर
 सुगबुगाता है कुछ री-मिक्स-सा,
 लुसफुसा रही है कुछ इधर-उधर
 'बाजार से गुजरा हूँ, खरीदार नहीं हूँ' की
 झिलमिल-सी अन्तरपाठीयता

हाँ, तो मैं यह कह रही थी—
 कि कुट्टिनी, खण्डिता वगैरह भी
 हम तो नहीं हैं,
 हमारा अलग से ही बनना होगा कोई प्रभेद :
 फूट गये हैं घड़े
 सिकहर पर टँगे नौ रसों के,
 घालमेल-सा हो गया है रसधारों का—
 वीर में वात्सल्य बहता है,
 शृंगार में बहती है कुछ भयावहता
 शान्त भी वीभत्स या रौद्र से जा मिला है!
 हर क्षण हमारा है नौ रसों का कॉकटेल
 और हम भी हैं शायद मिश्र-प्रजाति वाले
 बाँस का दूसा!
 सुना था कहीं,
 चीन देश में होती है
 बाँसों की ऐसी प्रजाति
 जिसका दूसा पड़ा रहता है
 पचपन बरस धरती के भीतर
 और तब जब चमकती है कहीं बदली
 धरती की छाती दरक जाती है,
 फोड़-फाड़कर सारी चट्टानें
 झाँकता है बाँस का दूसा
 धरती के बाहर!
 भूले भटके जो आ जाती हैं
 मादक घटाएँ उधर,
 उनकी छाया घूँट-भर पीकर
 दिन दूनी, रात चौगुनी गति से
 बढ़ जाता है बाँस का दूसा
 या बेहिसाब
 कि उसकी गर्दन झुक जाती है,
 कोई भी कंधा नहीं मिलता
 जिस पर टिके उसका माथा।
 हाँ, हम समझती हैं उनका दुख
 जिनको सर रखने को कोई भी कंधा नहीं मिलता,
 सन्न-सन्न बहती हैं सारी दिशाएँ उनके भीतर!
 मलिन वस्त्र राधा का दुःख एक ऐसा ही दुख था!
 हरि के पसीने से भींग गया
 और विरह की धूप में सूखा
 तार-तार आँचल वह राधा का

क्यों उँगलियों पर लपेटती थी राधा,
 यह हम समझती हैं—
 हालाँकि हमने किसी कृष्ण को कभी
 कहीं नहीं देखा,
 पर राधाएँ हमने देखी हैं इधर-उधर!
 नागमती 'पद्मावत' वाली—
 बड़े पलंग पर कहीं एक ओर लुढ़की पड़ी
 और गहन बारिश में निपट अकेली
 अपनी झोपड़ी छवाती हुई
 लगती है कैसी—
 जानती हैं हम ये अच्छी तरह से!
 अच्छी तरह हम समझती हैं
 हर बात पर चौंकती हैं क्यों
 उत्कंठिताएँ!
 धीरा-अधीरा वो रहती हैं क्योंकर
 काम नहीं आते क्यों उनके
 वर्षों से संचित संज्ञान और अनुभव?
 क्यों खोटे सिक्के हो जाते हैं
 सारे शुभाशय?
 बजता नहीं कभी भूले से फिर भी—
 हाथों में क्यों हरदम रखती हैं
 अपना मोबाइल?
 क्यों ध्यान से पढ़ती हैं
 सन्देश विज्ञापन कम्पनियों का
 अपना धुँधला चश्मा पोंछकर?
 किसका है इन्तजार इनको?
 कोई कभी नहीं आता इनके सिरहाने!
 सिर्फ बुद्ध आते हैं
 आती है जैसे धूप सुबह की
 टिटुरती हुई काल रात्रि के बाद
 किसी आँगन में!

थेरी गाथा : तृष्णा नदी

भिक्षाम् देहि!
 अन्न एक मुट्ठी! सम्भव अगर हो!
 ठठरी है गठरी है!
 जब तक है, है ही। तो द्वार खुले?

क्या खुलने ही चाहिए सारे दरवाजे?
पूरा ब्रह्माण्ड एक भीख की कटोरी—
तृष्णा—थेरी
मुण्डितमाथ
तृष्णा—नदी
प्रफुल्ल—गात!
प्रतिबिम्बित इसमें आकाश
और चाँद और तारे! ये भिक्षापात्र सारे!
कानों के कान में कहीं
बह रही है कानों-कान
एक बतरस नदी!
आँखों की आँख जानती है,
जिह्वा की जिह्वा भी अन्न माँगती है
कि शब्द ब्रह्म है शायद ऐसे ही।
सूर्य नहीं है वहाँ, न ही चन्द्रमा,
बिजली भी नहीं चमकती, सब अग्नियाँ मंद हैं—
जठराग्नि के सिवा!
अँधियारी सी कन्दरा में कहीं
बहती है तृष्णा-नदी!

× × ×

बन्द दरवाजों के पार
ऊँघती-सी दोपहर में
दूर किसी घर में कुछ गिरा है
पीतल की गगरी-सा!
लुढ़कती चली आई है टुनटुनाहट
कई देहलियाँ लॉघकर!
आवाज की एक नदी बह गई है
इस घर से उस घर तक!
इसमें धोकर अपने थके हुए हाथ
सोचती है यह उसकी
चौंकी हुई उबासी—
हर घर से हर घर तक जाती है राह,
इतना अकेला नहीं होता है आदमी!
एक गूँज का दामन पकड़े
अनुगूँजें कितनी चली आएँ कब भीतर—
कौन कहे!
क्या जाने मौन-कहाँ-कब का खोया
किस रूप-रस-गंध-ध्वनि की उँगली पकड़े
आ जाए मिलने, कहे—

‘कहो’, पहचाना? कैसे हो?

× × ×

नहीं, नील नदी नहीं, मिसिसिपी भी नहीं, नहीं वोल्गा
दुनिया की सबसे प्रशस्तमन नदी है प्रतीक्षा।
नदियों की आँखों ने क्या-क्या देखा है,
देखे हैं भँवरों की बाँहों में नाचते हुए सार्थवाह
और उधर तट पर
आकाशदीप बालती उनकी प्रेयसियाँ सदियों से
आँखें बिछाए हुए लहरों पर!
प्यास भी एक नदी है वैसे,
एक विलम्बित प्यास—
बालू के भीतर-भीतर बहती
ले जाती है हमको कहाँ से कहाँ!
दुनिया की सब सभ्यताएँ
प्यास के तट पर बसीं!
सौदागर मोतियों से जहाज भरे हुए
आमरण भटकते रहे
एक प्यास से दूसरी तक!

× × ×

कहते हैं, एक नदी में दूसरी बार
पड़ता नहीं कोई जाल!
मछुवारे जब तक पहुँचते हैं—
शाम से अगली सुबह तक के बीच
नदियाँ हो जाती हैं नयी-नयी,
बह चुका होता है सब पुराना पानी,
बह जाता है सब आनी-बानी—
ऋतुमत्तियों-जैसे प्रगल्भ और कटी-कटी
रहती हैं रात को नदी—
करवटें बदलती हुई!
बह जाती हैं सारी स्मृतियाँ सपनों में,
अवचेतन में डूब जाते हैं सारे नैवेद्य
और चाँद-तारे!
सुबह किसी भूले हुए स्वप्न-सी
उठ जाती हैं आँख मलती हुई!
विस्मृतियाँ भी हैं नदी-शायद
बोलो, तुम्हीं बोलो, है कि नहीं?
शकुन्तला मुझसे कल बोली—
‘मछली के पेट की अँगूठी
मेरा पहचान-पत्र क्यों होती।

भरत के पिता के जो साथ गयी,
वह भरत की माँ रही होगी,
मैं तो नहीं थी!
एक नदी में दूसरी बार
पड़ता नहीं कोई जाल,
मैं भी थी एक नदी—
स्मृतियाँ-विस्मृतियाँ
प्यास और प्रतीक्षा की
एक उद्दाम लहर—
एक अनन्त से
दूसरे अनन्त तक
उद्भ्रांत-सी
घूमती!

महाभिषग

(इरा झा, आलोक पुतुल, महेश वर्मा और बस्तर के अन्य साथियों के लिए)

दाण्ड्यायन, ये ही वे जंगल हैं
जहाँ सिकन्दर मिलने आया था आपसे!
पूछा था उसने यहीं पर—
क्या वह कर सकता है आपके लिए!
'सामने से हट जाओ,
तुम बाधित कर रहे हो धूप का रास्ता, ऐ विजेता!'
बोले थे आप जिस ठस्से से, दाण्ड्यायन,
जंगल के पोर-पोर में वो ही ठस्सा
फूल गया औषधि-लताओं-सा!
गौड़ों और भीलों ने उन्हें रक्त से सींचा।
पेटेन्टेड औषधियों के युग में दाण्ड्यायन
फिर बाधित है रास्ता—
धूप—हवा—रोशनी—नदी घेरे
उद्दण्ड खड़ा है विजेता!

2.

दो गौड़ सखियाँ
खोदकर लायी हैं औषधियाँ
जरा सुनो—
क्या कह रही हैं वे—

‘औषधि लताओं—
तुम सब जो हो आस-पास अभी
और तुम जो यात्रा पर गयी हो,
आपस में बातचीत कर लो—
एकमत होकर दो आशीष इन औषधियों को
जो हम लायी हैं
विनयपूर्वक खोदकर—धरती की गुम चोटों की खातिर!

3.

धरती की बाँह से सटी-लेटी
औषधियाँ
दरअसल हैं उसकी बेटियाँ—
उसके पुण्यों का प्रसाद!
धरती की पीठ कड़कड़ा जाती है बोझ से जब भी
ये ही तो सहलाती हैं पीठ उसकी,
और सींच देती हैं उसकी पीड़ित संधियाँ
अपने अमृत से!

4.

घुमड़ रहे हैं हर दिशा से
ये बाण लहरीले!
बिंधती हैं, फिर भी नहीं चुकता अमृत
औषधियों का!...
उनकी नहीं होती एक्सपायरी डेट कोई,
हरदम ही रहती हैं हरी-भरी, प्रायः प्रसन्न।
और देखो तो मुझे!
दुर्वचनों से फक्क पड़ी हुई
मैं क्यों हूँ फीकी—
लावण्यहीन खाद्य—सी श्रीहत, बेस्वाद, थोड़ी-सी कड़वी।
मेरे लिए उच्चरित
दुर्वचनों की औषधि, मुझे मधुर करो!
आएँ-न-आएँ मुझे युक्तियाँ जीवन की—
तुम मेरे भीतर के खेत में खिलो—
बाड़ों पर जैसे दुपहरिया के फूल।
इतना खिलो, खिलो खुलकर ऐसे मुझमें—
मैं खुद ही बन जाऊँ औषधि
धरती के-घावों की!

कहते थे महाभिषग,
बुद्धत्व के बीज सबमें हैं,
सारी वनस्पतियाँ हैं औषधि
तो क्या मैं भी?

प्रेम इण्टरनेट पर

शास्त्रीय प्रेमियों की तरह
मनोयोगपूर्वक
दबा नहीं सकता वह मेरा सब्र,
गूँथ नहीं सकता मेरी चोटी,
मटके में पानी भी भरवा नहीं सकता,
हाँ, मल नहीं सकता भटकटैया के पत्ते
मेरी बिवाइयों पर,
पर वह हँसा सकता है मुझको
मेरे विकटतम क्षणों में
अच्छे चुटकुले भेजकर!
फॉरवर्ड कर सकता है भास्वर अंश मुझको
भीतरी नायाब किताबों से।
ले सकता है मॉक-इण्टरव्यू
असली वाली अन्तर्वीक्षा के पहले!
मुझको सलाहें दे सकता है,
मोती लुटा सकता है मुझ पर
चुस्त फब्तियों के!
दोष गिना सकता है मेरे
मस्ताना निपेक्षता से!
राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर,
कर्वे और ज्योतिबाफुले वाले धीरज से
वह चला सकता है आन्दोलन,
मेरे ही नवजागरण को निवेदित!
एक ठठेरे वाली दत्तचित्तता से
वह कर सकता है पच्चीकारी
मेरे वजूद के दर के भाँडे पर!
घर में बहुत भीड़-भाड़ अगर हो तो
रह सकता है सात पर्दों में
काबिल-ए-यार की तरह
विजली-बिल खो जाए मेरा तो काबिल हेल्पर की तरह
बुझक्कड़ वाली मग्न क्षिप्रता से

कह सकता है मूँदकर आँखें—
 “देखो तो चौके टेबुल की बाईं तरफ की
 किताबों पर, कल जब तुम छौंक रही थी सब्जी
 और उद्धरण मुझको सुना रही थी उन किताबों से
 बिजली का टैरिफ बढ़ जाने पर
 नाक धुनी थी तुमने
 एक ब्रेक-सा बीच में लेकर!”
 जब भी मेरी नौकरी छूटे,
 जब मुझको मार पड़े,
 या गालियों की घटा घुमड़े
 या फिर लथेड़ लिया जाए मुझे
 कीचड़ में बीच सड़क—
 वह मुझको कर सकता है एक एस. एम. एस. ऐसा
 जो मेरे डूबते हुए मन को एक ही झपाके में
 रहट की तरह ऊपर खींचे!
 बातें भी हो सकती हैं उड़न खटोला
 और शब्द हो सकते हैं फारस का घोड़ा—
 ये उसकी बातों ने मुझको सिखाया!
 एक दिन मुझसे कहा उसने—
 प्राचीन वेल्श में हरवाहे
 बैलों का मनुहार करते हुए
 चलते थे बैलों में आगे,
 झुक-झुककर, गाते-बजाते हुए वे चलते थे
 कि बैल हों प्रसन्न
 और खेत में प्रफुल्ल कदमों से उड़ते हुए से चलें खेत में।
 मिट्टी पर उड़ते हुए कदमों से
 बैलों का चलना, मीठी फसल देता है अजी मोहतरमा!
 बैलों के साथ हो जबर्दस्ती तो
 मिट्टी जाती है रूठ!
 जिसके भी कंधे जुआ... हो,
 मनुहार उसका है वाजिब, बिल्कुल वाजिब, है न?

महानगर में अम्मा

पिंजरे की अम्मा थी गाँव में माँ,
 पिंजरा यहाँ भी है लेकिन बड़ा है।
 सींखचों से देखती है वो बाहर की दुनिया।
 फेरीवालों से बतियाती है कभी-कभी!

भाषा तो वे भी नहीं समझते उसकी,
लेकिन पुरबिए हैं
और पुरबियों की गपशप में
भाषा कहाँ आती है आड़े?
एक भी शब्द बिना समझे
वे बतिया लेते हैं खड़े-खड़े
दुनिया के सब दुख-सुख!
कभी-कभी उनसे बतियाती हुई
माँ मुझको लगती है छोटी मिनी
काबुलीवाला कहानी की!

प्रसूति-गृह में पिता

(एक पुराने सहपाठी के लिए जो अब नया पिता है)

डॉक्टर ने कहा—

“वक्त बदल गया, आप लेबर-रूम में जाएँ,
पितृत्व भी बड़ा अनुभव है जीवन का,
साक्षी बनें जन्म का!”

थोड़ा लजाता हुआ मैं भीतर गया
तो वह पहचान में नहीं आयी।

पीड़ा के उत्कर्ष पर भी

उसने कहा मुस्कराकर—

“देखो तो क्या मेरा हाल हुआ,
दो-दो दिल धड़क रहे हैं मुझमें,
चार-चार आँखों से कर रही हूँ आँखें चार में
महाकाल से!

कहती हुई यह वह फैल गई पूरी पृथ्वी पर,
उसके आवेग से थरथरा उठे सब पर्वत
ठेल दिया उसने पहाड़ों को पैरों से एक तरफ!

उठ रही थीं उससे ऐसी उसाँसें—

काँप-काँप उठते थे उसकी उसाँसों से जंगल,
इन्द्रधनुष के सात रंगों से

था वह बिछौना सौना-मौना!

जन्म ले रहा था वो क्या पुरुष

उसके पातालों से जिसका खाका खींचती थी वह

रोज सुबह मुझे चाय देती हुई,

कहती थी आकाश में जगता सूर्य देखकर—

बेटी हो तब तो चिन्ता ही नहीं,

बेटा अगर हो तो हो सुबह का सूरज,
 उसमें प्रचण्डता नहीं हो,
 लोभ, क्रोध और कामनाओं के अतिरेक से पीड़ित,
 ओजोन छिद्र भेदता
 अतिशय पुरुष
 नई धरती के किस काम का?
 खुद अपना पुरुष गढ़ेगी नई धरती अब!
 स्वस्थ होंगी धमनियाँ उसकी और दृष्टि सम्यक्!
 उसके उन उन्नत पहाड़ों से फूटेगी जब
 दुधैली रोशनी, वह पिएगा!
 अँधियारा इस जग का
 अंजन बन उसकी आँखों में सजेगा।
 झूलेगी अब पूरी कायनात झूले से,
 फिर धीरे-धीरे बड़ा होगा नया पुरुष,
 संबुद्ध प्रज्ञा से शासित-अनुकूलित,
 प्रज्ञा का प्यारा भरतार,
 प्रज्ञा को सोती हुई छोड़कर जंगल,
 इस बार लेकिन वह नहीं जाएगा।
 मेरी माँ भी कुछ-कुछ ऐसा ही
 देखा करती थी क्या सपना
 जब मुझको टखनों पर बैठाकर
 झूला झुलाती हुई गाती थी—
 “नया बीती उठे, पुराना बीती उठे
 बीती यानी भित्ति नई दीवार उठे, पुरानी गिरे
 लेकिन उठे ही क्यों कोई दीवार, आदमी उठे!
 उठ रहा है धीरे-धीरे
 माँ के ही टखनों एक नया आदमी
 कितनी सदियाँ बीत जाती हैं एक अदद आस फूल जाने में,
 कितनी लम्बी होती है, बाबा नन्ही से नन्ही इच्छा की उड़ान!

नमक

नमक दुःख है धरती का और उसका स्वाद भी!
 पृथ्वी का तीन भाग नमकीन पानी है
 और आदमी का दिल नमक का पहाड़
 कमजोर है दिल नमक का,
 कितनी जल्दी पसीज जाता है!
 गड़ जाता है शर्म से

जब फेंकी जाती हैं थालियाँ
दाल में नमक कम या ज़रा तेज़ होने पर!
वो जो खड़े हैं न—
सरकारी दफ्तर—
शाही नमकदान हैं।
बड़ी नफ़ासत से छिड़क देते हैं हरदम
हमारे जले पर नमक!
जिनके चेहरे पर नमक है—
पूछिए उन औरतों से—
कितना भारी पड़ता है उनको
उनके चेहरे का नमक!
जिन्हें नमक की कीमत
करनी होती है अदा—
उन नमकहलालों से
रंज रहता है महासागर।
दुनिया में होने न दी उन्होंने क्रान्तियाँ,
रहम खा गये दुश्मनों पर!
गाँधी जी जानते थे नमक की कीमत
और अमरुदों वाली मुनिया भी!
दुनिया में कुछ और रहे न रहे—
रहेगा नमक—
ईश्वर के आँसू और आदमी का पसीना—
ये ही वो नमक हैं कि जिससे थिराई रहेगी ये दुनिया।

करुणा थेरी ने कहा

ऊसर में एक गिद्ध निश्चिन्त बैठा है—
भूख-प्यास से एंठे बच्चे के
तीन कदम पीछे!
ठठरी में साँसें बची हैं अभी!
गिद्ध अद्भुत शील दिखा रहा है धैर्य का!
इतनी भी जल्दी क्या
वह धैर्य से कर रहा है प्रतीक्षा!
कह रहे हैं सारे पर्यावरणविद्
गिद्ध भी हो गए हैं
एक लुप्तप्राय प्रजाति
क्या कभी लुप्तप्राय
हो जाएगा आदमी भी?

यह गिद्ध सबसे टूटा-छूटा
किसी धैर्यवान जटायु का
लग रहा है फोटोकॉपी
और वो आदमी का बच्चा
हड्डियों का ढाँचा!
यह क्या
दधीचि-सा
आने वाली पीढ़ियों को
शर साधने वाला
कोई वज्र देगा?
कौन किसको मारेगा?
और कौन किसको बचाएगा?
करुणा भी
क्या किसी चिड़िया का शावक है :
गजघंट के नीचे
पल जाएगी
और जब अचानक
युधिष्ठिर
की ठोकर से टूटेगा गजघंट,
पंख फड़फड़ाकर
आकाश में उड़ेगी—
किसी अकेले गिद्ध के ही
समानान्तर?

‘अन्ना केरिनिना’ : चैपमैन बहुद्देशीय कन्या विद्यालय के पुस्तकालय में

अपनी तरफ रूठ जाने को
कहते हैं रूसना तो
बार-बार रूस जाती थीं
औरतें हमारी तरफ की!
जब कोई उनको
बिना बात टोंकता
जातीं वे रूस!
‘जाओ वहाँ, न जाने कहाँ,
लाओ उसे, न जाने किसे!’
ज़ार निकोलाई कहता था
दाँत पीसकर जब किसानों से

रूठी हुई औरतें सुनतीं,
 मन ही मन कुछ ठानकर कहतीं—
 'यही सही!'

एक बार तो मैं भी रूस गई!
 चाँद मुझे देख रहा था,
 मैंने उसी से कहा—मुझे ले भागो!
 वह मुझे अच्छे प्रेमी की तरह
 मेरे दस बच्चों के साथ मुझे ले भागा—
 मॉस्को!

अन्ना केरिनिना टहल रही थी
 वोल्गा के किनारे
 अपने बड़े गाउन में।
 मैं उससे लिपट गई
 एक पूरी जिन्दगी
 मैं घूमती ही रही
 मॉस्को की गलियों में
 उससे बतियाती!

फिर वक्त चलने का आया,
 चलते समय मैंने देखा—
 बन्द ही नहीं हो रहा मेरा सूटकेस!
 लगातार तबसे तहा ही रही हूँ
 कपड़े और स्मृतियाँ,
 खोलती हूँ, फिर तहाती हूँ
 अपनी इन आँखों में स्मृतियाँ,
 कोंचती हूँ इनको सूटकेस में किसी तरह,
 पर अब तो
 बन्द नहीं होता यह सूटकेस
 मेरे वजूद का,
 समा नहीं पाती अब इसमें मेरी आँखें :
 देखते ही देखते मेरी आँखों का,
 बढ़ गया है आयतन,
 सतमासे बच्चे की माँ हो गई हैं ये आँखें—
 प्रफुल्ल, आश्चर्यविश्वल!
 इन आँखों ने भी कुछ देखा है—
 देखा है मॉस्को,
 बैरागी आँखों में राग का उच्छिष्ट देखा है!
 सूर्यास्त की आँखों में देखा है भोर का तारा—
 आँसू की बड़ी बूँद—भर!
 ये आँखें ब्रह्माण्ड हैं अन्ना, अब—

तुम्हारे दम से!
तुम आई इन आँखों में
रात के तीसरे पहर,
नींद जब उल्टे ही पाँव
लौट जाती है चौखट से,
और झुक आता है अँधियारा
अन्तिम चुम्बन के लिए
अपनी धरती पर—
और-और-और भी करीब!
और लिपटकर सो जाते हैं
धूमिल उजाले
अभिज्ञप्त-सी उन पटरियों पर
जहाँ रेल से कूदकर
जान तुमने दी
और जी उठी उन सारी अन्नाओं में
छपरा, बलिया तक के पुस्तकालयों से लेकर
पीपीएच अनुवादों में जिन्होंने
तुम्हारी कहानी पढ़ी!

संपर्क : बी-5/3, सेक्टर-13, आर.के. पुरम, नई दिल्ली-110022 मो.-09810737469

इतिहास लेखन में इतिहासकार

सुधीर चंद्र

ये मेरा सौभाग्य है कि आप लोगों के बीच उपस्थित होने का मुझे अवसर मिला है। कुछ महीने पहले जब चिट्ठी पहुँची कि मैं इस व्याख्यान के लिए आऊँ तो मुझे एक बात याद आयी। इसी संग्रहालय में एक व्याख्यान था। मैं इलाहाबाद आया हुआ था। बाहर मैं निकला तो सत्यप्रकाश जी आये। उन्होंने कहा कि अब आपको इलाहाबाद आना होगा तो मैंने कहा, महाराज जब आपका आदेश होगा हाजिर हो जाऊँगा और आदेश देने से पहले ही सत्यप्रकाश जी चले गये। विनोद जी और बाकी लोगों को ये बात न मालूम थी, लेकिन मुझे एक अजीब अवसाद महसूस हुआ। बुलाने वो जा रहे थे और अब बुलाया जा रहा है उनकी याद में तो मैं उनकी स्मृति को नमन करता हूँ। इससे पहले जो लोग ये व्याख्यान दे चुके हैं मैं कतई इस लायक नहीं हूँ कि उस पंगत में बैठ सकूँ। नामवर जी से शुरू होती है श्रृंखला और हमारे सामने आलोक राय बैठे हैं—काश उस तरह मैं बोल सकता जैसे ये लोग बोलते हैं, सरस्वती इनकी जिह्वा पर रहती हैं। आलोक का तो कमाल है, अंग्रेजी बोल रहे हों तो हिन्दी बोल रहे हों तो। नामवर जी का मुद्दत से प्रशंसक रहा हूँ। उनका बोलना तो बस। यकीन मानिये कहाँ राजा भोज कहाँ गँगू तेली वाला हाल हो रहा है। लेकिन, अब आया हूँ तो बोलना है ही। इलाहाबाद आना मेरे लिए कोई मामूली बात नहीं है। सालों बाद आया हूँ। शहर बिल्कुल बदला लग रहा है। फिर भी शहर तो आखिर अपना ही है। इस शहर से मेरा रिश्ता अपने जन्म के पहले क्षण से हुआ। यानी मुझे याद भी नहीं है तब से मेरा रिश्ता इस शहर से है; क्योंकि मेरा जन्म यहाँ हुआ। मेरी माँ का मायका था और फिर बीच-बीच में ननिहाल आना होता था। लेकिन, असल में मेरा रिश्ता बना आज से तकरीबन पैंसठ साल पहले जुलाई, '50 में। मेरे पिता ने एक चिट्ठी मुझे दी और कहा कि प्रो. टंडन के पास चले जाना। वो अद्भुत जमाना था। मैं उनके पास गया। मैंने उनके पैर छूकर उनको चिट्ठी दी। चिट्ठी पढ़के बोले कि अच्छा, तुम हो सुधीर! प्रकाश (प्रकाश मेरे पिता) ने तुम्हें ये चिट्ठी दी है। प्रकाश ने तुम्हें ये चिट्ठी पढ़ाई है या नहीं। जी नहीं, उन्होंने तो कहा बस आपके

पास ले जाकर ये दे दूँ। पढ़ो ये चिट्ठी। सो चिट्ठी में ये था—‘यू मे रिमेंबर दैट इन्फैन्ट यू यूज्ड टू कैरी इन योर लैम्प एन इट इज द इन्फैन्ट यू इन सेंडिंग टू यू नाऊ। इन द होप यू लुक आफ्टर हिम’ और उस चिट्ठी के मार्जिन पर अब सोचिये आज ये सम्भव है, प्रो. टंडन ने लिखा—Admit और कहा कि बी.बी.एल सक्सेना के पास जाओ सर सुन्दर लाल हॉस्टल के सुपरीटेडेन्ट हैं, तुम्हारा एडमिशन हो जाएगा। ये कौन-सा जमाना था? आज कोई हिम्मत करेगा? आज फोन तो हो जाएगा। लेकिन, लिख के कोई नहीं देगा। यह कौन सा आत्मविश्वास था। ये विश्वास कि कोई गलत काम नहीं कर रहे हैं और रिकॉर्ड पर, ये रह सके तो उस इलाहाबाद से मेरा सम्बन्ध असल मायने में शुरू हुआ। बहुत कुछ अच्छा-बुरा यहाँ हुआ। आज तमाम बातें याद आ रही हैं और चूँकि इलाहाबाद में मुझे बोलना है तो मैंने सोचा कि जिसमें तुमने पढ़ना-लिखना और सोचना असल अर्थ में शुरू किया, बिल्कुल अनिश्चित रहते थे अपने बारे में कि मैं जानता भी हूँ या नहीं जानता, तो क्यों नहीं उस शहर में जब जा रहे हो तो ऐसे विषय पर बोलो जिस पर हाल में सोचना शुरू किया है। ज्यादा से ज्यादा यही होगा कि बात नहीं बनेगी—अटपटी बनेगी। तो उसकी हिम्मत इसलिए कर रहा हूँ कि यहाँ मैं विद्यार्थी था और आज उसी विद्यार्थी की तरह आप लोगों के सामने बोल रहा हूँ। कुछ कोशिश कर रहा हूँ कहने की। इतिहास लेखन में इतिहासकार। पता नहीं क्यों मैंने जब विषय दिया तो इतिहासकार की भूमिका लिख दिया। लेकिन, अभी जब विनोद जी शीर्षक बोल रहे थे तो मुझे लगा कि इतिहास की भूमिका नहीं। इतिहास लेखन में इतिहासकारों के बारे में मुझे बात करनी है। मैं अपनी बात को शुरू करूँगा। आप जानते हैं कि न्याय में शब्द को प्रमाण माना गया है और दर्शनों में भी है। न्याय विशेष रूप से शब्द को प्रमाण मानता है। तो शब्द को प्रमाण मानते हुए मैं दो आप्तवाक्य आपके सामने रखूँगा और उन आप्तवाक्यों के सहारे अपनी बात को बढ़ाने की कोशिश करूँगा। पहला आप्तवाक्य ‘अमरवाणी’ में एक बंदिश है—मिया की तोड़ी की। बंदिश है—‘कौन भरम ढूँढ़े मन ज्ञानी अनजानी कुछ न जानी विद्या बड़ी सयानी।’ तो एक आप्तवाक्य ये विद्या बड़ी सयानी और दूसरा आप्तवाक्य देश के बाहर से है एडविन जांबेज की। ‘बुक ऑफ क्वेश्चन’ में जांबेज कहते हैं—‘यू आर ही हू राइट्स एण्ड दिस रिटेन।’ वह तुम ही हो और जो लिखा जा रहा है या लिख रहा है/लिख रही है।

मैं जब इतिहास लिखता हूँ और सोचता हूँ तो मैं इतिहास लिख भी रहा हूँ और लिखा भी जा रहा हूँ। कितना मैं जागरूक हूँ कितना मुझे ज्ञान है इस बात का कि मैं लिखा जा रहा हूँ और लिखने की बात हो या लिखे जाने की बात हो लिखने को और लिखे जाने दोनों को अगर जोड़ लें तो इतना हम समझ पाते हैं कि हमने क्या लिखा। मैं आपसे बिल्कुल ईमानदारी से कह रहा हूँ कि जब मैं अपना पीएच.डी. का शोध प्रबन्ध लिख रहा था तो उस समय कार्ड के नोट्स हुआ करते थे। मैं अपना नोट्स पढ़ता था। चैप्टर का डिवीजन हो गया था। नोट्स पढ़ के लिखना होता था और जब मैंने अपना शोध प्रबन्ध लिखना शुरू किया तो शुरू में ही मेरी समझ में ये बात आ गई कि ये क्या हो रहा है। जो मेरे नोट्स हैं और जो मैं समझ रहा हूँ क्या मैं वही लिख रहा हूँ या कुछ अपनी दिशा ढूँढ़ रहा हूँ या कि मैं कोशिश कर रहा हूँ इसको सँभालने की लेकिन यह कहीं और जा रहा है। लगभग तौंगे या इक्के में बिगड़े घोड़े की तरह। इक्के वाला समझा रहा है घोड़े को लेकिन, घोड़ा तैयार नहीं है उस रास्त पर जाने को। कुछ इस तरह का भाव मुझे बिल्कुल शुरू में आ गया और आज तक वह भाव मुझे छोड़ता नहीं है और फिर अपने आप से पूछता हूँ कि ये क्या चीज होती है कि मेरे वश में आता नहीं। और जिस हद तक वो मेरे वश में नहीं आ रहा है वहाँ कुछ तो ऐसा है जो लिखा जा रहा है वो मैं अच्छी तरह नहीं

जानता जो अनजाने का लिखा जाना है वो कहाँ से आ जाता है और उसका कितना हो पाता है, कितना ज्ञान हमको नहीं हो पाता है। तो इस तरह नहीं जानता या अच्छी तरह नहीं जानता। इस तरह प्रश्न कुछ बहुत शुरू से मन में रहे। लेकिन, वो मन में रहते रहे फिर धीरे-धीरे काम बढ़ा और एक स्थिति ये आई कि लगा एक काम करते हो और दूसरा अपने आप उस काम से निकलता है। देखिए, एक बात मैं यहाँ कह दूँ चूँकि गलत समझे जाने की बड़ी गुंजाइश है। जब मैं कह रहा हूँ इतिहास लेखन में इतिहासकार। तो एक तरह से बात कर रहा हूँ इतिहास और आत्मचरित के सम्बन्ध की। और आत्मचरित की बात तो अपने चरित्र से की जा सकती है। ये तो ऑटोबायोग्राफी की बात है। बायोग्राफी की बात तो हो नहीं रही और 'ऑटोबायोग्राफी' तो मेरी ही हो सकती है। मैंने कुछ दिन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पढ़ाया है। इरफान हबीब मेरे प्रिय और सीनियर कुलिग थे और अतहर अली इरफान हबीब के पुराने साथी। ये लोग साथ पढ़े। अतहर अली इरफान हबीब को डॉक्टर साहब कहते थे और इरफान साहब अतहर अली को उस्ताद कहते थे। जब मैं नया-नया डिपार्टमेंट गया तो इरफान साहब ने मुझसे कहा कि सुधीर साहब ये उस्ताद डॉ. अतहर अली, इनसे मिलिए। माई ऑटो बायोग्राफर। ये मुझे बहुत ही अच्छा लगा माई ऑटोग्राफर। सो अब मेरी तो ऐसी किस्मत है नहीं कि मेरा कोई ऑटो बायोग्राफर हो। आई केन रियली आउन बायोग्राफर। तो मैं जब हिस्ट्री और ऑटो बायोग्राफी की बात करूँगा तो अपनी ही। इसको आप विज्ञापन न मानें कि मैं अपने काम का विज्ञापन कर रहा हूँ। मैं उस अन्तस्सम्बन्ध की बात करने के कारण बात कर रहा हूँ।

शोध प्रबन्ध था—'19वीं सदी में भारतीय राष्ट्रीय चेतना का विकास।' 1857 का आन्दोलन जब समाप्त हुआ उस समाप्ति के क्षण से लेकर काँग्रेस की स्थापना तक 28 साल का वो अध्ययन है। उस अध्ययन के दौरान मैंने कुछ ऐसी चीजें पायीं जिससे लगा कि जो हम लोग जिस तरह से समझते आये हैं शायद चीजें वैसी साफ़ है नहीं। क्योंकि हमारा जो सोचना, पढ़ना था वो परस्पर विरोधी कोटियों में चीजों को बाँट के देखने का तरीका था, मसलन एक को नरम दल कह दिया दूसरे को गरम दल कह दिया। एक को इकोनॉमिक नेशनलिज्म कह दिया दूसरे का कल्चरल नेशनलिज्म कह दिया। एक को नेशनलिज्म कह दिया दूसरे को कम्युनलिज्म कह दिया। ये अमूमन तरीका था। और जब मैं देखने लगा तो मुझे लगा ये मामला ऐसा है नहीं, इसमें कुछ गड़बड़ है और मैंने देखा कि जो व्यक्ति एक समय तक सुधारवादी रहता है फिर वो कुछ ऐसा रूप ले लेता है कि पुनरुत्थानवादी लगने लगे तो ये कैसे हो सकता है। उस समय मेरी समझ में एक बात आयी कि समय के साथ या विषय के अनुसार लोगों के अलग-अलग रूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं। विवाह का मामला हो, अन्तर्जातीय विवाह का मामला हो तो हो सकता है कोई बड़ा सुधारवादी हो लेकिन विदेश यात्रा करनी है या नहीं इसको लेकर वो सुधारवादी न हो, मसलन ये कि विषय के मुताबिक आदमी का रवैया बदल सकता है और इस रवैया को आप कह सकते हैं कि वह पुनरुत्थानवादी है जो शब्द की प्रचलित कोटियाँ थीं शायद आज भी हैं कि एक खास समय तक जवानी में विशेष रूप से लोग बड़े रेडिकल होते और उसके बाद धीरे-धीरे ज्वार उतर जाता है। फिर उनको हम रेनेसियल या दकियानूस कहने लगते हैं। मेरी समझ में आया कि यह एक डिवाइड होता है। वो थिमेटिक डिवाइड हो सकता है या क्रोनोलॉजिकल डिवाइड हो सकता है। विषय के अनुसार या समय के अनुसार। फिर मैंने उसी काम को और आगे बढ़ाया। मुझे लगा कि बात अभी समझ में नहीं आ रही है, तो जो अभी राष्ट्रीय चेतना थी वह सामाजिक चेतना बन गई। बात वही चल रही थी और मैं साहित्य में चला गया। 19वीं सदी के साहित्य में देखने, खँगालने की कोशिश करने लगा कि साहित्य में क्या उभर कर आता

है और साहित्य ने तो एक ऐसी अन्तर्दृष्टि दे दी कि जो ऑर्डिनरी आर्काइबल मेटेरियल नहीं दे सकता था। साहित्य ने मुझे यह दिया कि अलग-अलग विषयों पर नहीं और अलग-अलग समय में नहीं, बल्कि एक ही विषय लेके एक क्षण में, एक ही समय में एक व्यक्ति के नाना रूप दिखाई पड़ सकते हैं। मैं एक ऐसे नाम की बात करना चाहता हूँ जिसका नाम सुनकर थोड़ा आश्चर्य होगा। वो हैं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर। साहित्य से मुझे ये बात समझ में आयी फिर मैं गहरे जा कर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को पढ़ना शुरू किया और मैंने पाया कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जिन्होंने इतना काम किया विधवा विवाह के लिए, कहीं अन्दर उनके मन में यह भावना थी कि अच्छा यही है हिन्दू विधवा के लिए कि सम्भव हो तो विवाह न करे। पुनर्विवाह न करें। आदर्श स्थिति तो यही है कि वह विवाह न करें। लेकिन, अगर वह विवाह किए बगैर रह नहीं सकती तो विवाह कर ले और आप अगर उनका दोनों पैम्फलेट्स पढ़ें तो जो उनका बड़ा तर्क है वो ये है कि, आप पराशर-स्मृति को देखिए और पराशर-स्मृति कहती है कि कलियुग में विधवा को विवाह करने की अनुमति है। अब जरा गौर कीजिए सतयुग में नहीं, त्रेता में नहीं, द्वापर में नहीं, लेकिन, कलियुग की स्त्रियाँ उस महान् आदर्श के योग्य नहीं रहीं तो उनको ये छूट दे दो कि व्याभिचार न फैले समाज में। अब जरूरी यह बात है कि पराशर-स्मृति और कलियुग ईश्वरचंद्र विद्यासागर को याद क्यों आते हैं। और मैं अब थोड़ा हट के बात कर रहा हूँ। मैंने एक पर्चा लिखा था—‘नाइटिन्थ सैन्च्युरी इंडियन लिटरेचर एण्ड द क्वेश्चन ऑफ विडो मैरेज’ जिसमें कि मैंने दिखाने कि कोशिश की कि जिनको हम समाज सुधारक मानते हैं उनके मन में भी एक दुविधा-सी रहती थी। मैं जानता हूँ कि दुविधा सही शब्द नहीं है जो सही शब्द है वो अंग्रेज़ी ‘एँविवैलेंस’। अब एँविवैलेंस की मैंने बहुत कोशिश की कोई बहुत अच्छा हिन्दी का शब्द मिले लेकिन, मुझे अभी तक कोई शब्द नहीं मिला है और आप लोगों को मिले तो अवश्य मुझे दीजिएगा। आप उसे उभयभाव कह सकते हैं। उभयभाव, उभयभावता तक मैं जाने को तैयार हूँ लेकिन यह चलता नहीं। ऐसा शब्द चाहिए जिसमें एक खास तरह की रवानगी हो। आप आसानी से बोले और दूसरा उतनी ही आसानी से समझ ले। एँविवैलेंस में जो एक खास चीज़ है वो ये है कि हम जिसे परस्पर विरोधी भाव मान रहे हैं वो परस्पर विरोधी भाव इस तरह से उस चेतन में व्यवस्थित हैं कि कोई उसमें विरोध नहीं देखता। तो विरोध का न देखा जाना महत्त्वपूर्ण है। हम तो देखते हैं कि, ये विरोध है। हम तो कह सकते हैं कि ये हिप्पोक्रेसी है, यह छल कर रहा है, लेकिन वो होता नहीं है। और जब बहुत बड़े फ्रांसीसी इतिहासकार इमानुएल नारूएला अदूरी से मिलने का इत्तेफाक हुआ तो मुझसे कहा गया कि अदूरी से मिलोगे? मैंने कहा नेकी और पूछ-पूछ। जिस दिन आप कहीं सर के बल मिलने जाऊँगा, तो उनका कहना था, अपना कुछ लिखा दे दो ताकि इमानुएल तक भिजवा दें और एक दिन मेरे पास फोन आया कि कल तीन बजे इमानुएल तुम्हारे ऑफिस आएँगे। मैंने कहा-मेरे ऑफिस! मैं तो उनके पास जाने वाला था। सो तीन बजने में दस मिनट बाकी थे कि नॉक हुई। मैंने कहा, कम इन प्लीज, तो देखा कि ये लम्बा सुन्दर आदमी चश्मा लगाए। उन्होंने अंग्रेज़ी में कहा—आई एम सॉरी आई, एम कम बिफोर टाइम। मैंने कहा, अरे बैठिए। बात शुरू हुई। तुम्हारा ये विधवा विवाह और 19वीं सदी का भारतीय साहित्य मैंने पढ़ा। और तुम उसमें एँविवैलेंस की बात करते हो जिसे बड़े-बड़े समर्थ भी कहने में थोड़ा झिझकते हैं। उन्होंने कहा कि तुम्हें ये बताना चाहता हूँ कि जो तुम 19वीं सदी के हिन्दुओं की बात कर रहे हो यह तो आज के यूरोपियन पर लागू होती है। मैंने कहा, क्या-क्या? वे हँसकर बोले ठीक है यार हमारे यहाँ दूसरी, तीसरी चौथी शादियाँ होती हैं, लेकिन हर आदमी की चाहे वह दूसरी शादी करे चाहे वह तीसरी शादी करे इच्छा यही होती है कि हो सके तो वह अपनी दूसरी शादी ऐसी स्त्री से करे जिसकी पहली-शादी हो रही हो। सो मैंने क्षत योनि, अक्षत योनि की बात की थी

तो उन्होंने मुझसे अंग्रेजी में कहा 'दे ऑल वॉन्ट अक्षत योनि'। मैं दंग रह गया। 1983 में ये लीडिंग फ्रेन्च हिस्टोरियन मुझसे कह रहा है। यहाँ मैं अपनी बात कुछ सेकेण्ड के लिए रोकना चाहूँगा। दो और आप्त वाक्य बोलने लिए। देखिए एक बड़ी बात हेरॉक्लीटस ने तीन-साढ़े ती हजार साल पहले कही थी। वो बात हम सब जानते हैं—'यू केन नॉट इंटर द सेम रिवर एट सेम टाइम्स' एक मुद्दत बाद ये समझ में आया कि बेटा ये सवाल सिर्फ नदी का ही नहीं तुम्हारा भी है। ये नहीं है कि एक नदी में तुमने पैर रखा और जब दूसरी बार पैर रखा तो पानी बह चुका था। दूसरे क्षण में तुम भी बह चुके हो। अपने बहने और बदलने की बात बड़ी देर से समझ में आयी। तो हेरॉक्लीटस की ये बात कि क्षण-क्षण आज सब कुछ बदल रहा है। अगर कुछ शाश्वत है तो परिवर्तन। बहुत दिनों तक मेरे मन में ये सत्य बैठा था। ऐसा नहीं है कि मैंने वह सत्य आज छोड़ दिया है। लेकिन एक दूसरा सत्य भी मेरे मन में उसी तरह से जड़ जमा कर बैठ गया है और उस सत्य को बताने के लिए एक वाक्य नहीं कहूँगा, मैं कई आप्तवाक्य बोलना चाहूँगा।

उसकी आप इजाजत दें। पहला 'गीता' से। "न तो ऐसा है कि मैं काम में नहीं था। तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं हैं। और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे। सो हम थे और रहेंगे।" अब आप कह सकते हैं कि भाई ये तो हिन्दू मामला है। तो मैं बाइबल का एक कोटेशन आपको देना चाहूँगा—“जो हो चुका है वही है। जो होगा और जो किया गया है वही है जो किया जाएगा। सूरज के तले नया कुछ भी नहीं।” ब्लेख का एक आप्तवाक्य—“मैं भूत वर्तमान और भविष्य को एक साथ घटते देखता हूँ।” टी.एस. एलियट को तो आप सब जानते ही हैं। अब तो हमारी शताब्दी रही नहीं। टी.एस. एलियट का सिद्धान्त भूत और वर्तमान दोनों को शायद भविष्य में उपस्थित करता है। टी.एस. एलियट 20वीं सदी तक आते-आते शायद इस बात पर जोर देते हैं। अब आप सोचिये हेरॉक्लीटस कहता है कि अगर कुछ रियल है तो चेंज रियल है। और यहाँ ये कि कुछ भी नहीं बदल रहा है। जो हम हैं वही रहेंगे। जो हो रहा है वही होगा। ऐसी अद्भुत निरन्तरता। कुछ नहीं बदल रहा है। वही होगा तो अगर मेरे लिए ये दोनों सत्य हैं तो इतिहासकार के नाते मैं क्या करूँ? इतिहासकार अपने को या इतिहास विषय ये मानता है कि विशिष्ट से उसका साबका होता है। सार्वभौम में इतिहासकार इतिहास की खास दिलचस्पी नहीं है। लगे हाथ कुछ कह दे तो अलग बात है कि और परिवर्तन देखना चाहता है इतिहास। विशिष्ट और परिवर्तनीय विशिष्ट को देखता है और परिवर्तन को देखता है। वो जो सार्वभौम है जो शाश्वत है, इतिहास उसको दर्शन के लिए छोड़ देता है। और कहीं बीच में सोशियोलॉजी आ जाएगा। जहाँ ड्राइकोनिंग लगभग खत्म हो जाएगी सिफ़. सिंक्रोनिंग बचेगी। लेकिन, अगर मुझे इतिहासकार के नाते से ये लगने लगे कि हेरॉक्लीटस भी सही था और गीता भी सही है तो मैं क्या करूँ। ऐंविवैलेंस मुझे बताती है कि ऐंविवैलेंस नहीं बदल रही है। ऐंविवैलेंस वही की वही रहती है। उससे निजात नहीं मिलती। हम लाख समझ लें कि इससे निजात मिल गई लेकिन हमें उससे निजात मिलती नहीं। मित्रो! अब मैं फिर उस बात पर वापस आना चाहता हूँ जहाँ मैंने अपनी बात रोक रखी थी। अदूरी से जो सिलसिला शुरू हुआ। वो ज्ञान के स्तर पर, शोध के स्तर पर चीजें शुरू हुईं। और कुछ ऐसा इत्तेफाक हुआ कि कई इस तरह के अनुभव मुझे ज्ञान के स्तर पर हुए। ये मैं '83 की बात कर रहा हूँ। अगले साल '84 हुआ। और इत्तेफाक की बात कि उस समय मैं दिल्ली में था। 31 अक्टूबर और पहली दूसरी नवम्बर की बात आपसे कर रहा हूँ। 2 नवम्बर को दिल्ली की दीवारों पर अचानक एक नारा आ गया। वह नारा था—“हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई/सिक्खों की अब करो सफाई।” सिक्खों का मारा जाना अब एक अनुभव था। आपको याद होगा कि इन्दिरा गाँधी के मारे जाने से पहले सिक्ख सैप्रेटिज्म या सिक्ख टेरेरिज्म चल रही थी। लेकिन, हिन्दू और सिक्खों के सम्बन्ध नहीं बिगड़े थे। लेकिन, इन्दिरा गाँधी की हत्या के

तुरन्त बाद घण्टों के अन्दर न सिर्फ़ सिक्खों को मारा गया, बल्कि ये नारा लग गया। ‘हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई/सिक्खों की अब करो सफ़ाई।’ पहली बार जीवन में मुझे ये लगा कि अनुभव के स्तर पर या अस्तित्व के स्तर पर जो मैं देख रहा हूँ या अनुभव कर रहा हूँ वो बौद्धिक स्तर पर इतने महत्त्व का विषय है। उसे कैसे इतिहास लेखन में ला सकता हूँ। कैसे सम्भव है। इस पर गौर करिए। मान लीजिए यही नारा इन्दिरा गाँधी की हत्या के पहले दिल्ली की दीवारों पर आया होता तो क्या कोई ये नारा लगा सकता था और कोई लगा भी देता तो किसी को विश्वास होता? डिसमिस कर दिया जाता। ये पागल है। पकड़ो देखो कौन है, किस तरह की बातें कर रहा है। लेकिन, 2 नवम्बर को फिर इतिहासकार के नाते मेरे मन में सवाल आया— कि क्या ये सम्भव है कि लोगों के दिलों में, लोगों के दिमागों में कोई कीड़ा पहले से नहीं? तो क्या ये चीज़ सम्भव हो सकती है? तो वो क्या चीज़ हो सकती है जो बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ती जो अन्दर ही अन्दर बिल्कुल अदृश्य रह के उतनी ही यथार्थ होती है जितनी कि ऊपर आकर दिखाई पड़ने पर यथार्थ लगती है। उस यथार्थ को समझने का कोई तरीका हमारे पास है या नहीं या तभी समझ पाएँगे जब वो ऊपर आ गई हो या सरफेस हो गई है। तो इतिहास किसको देखता है किसको समझता है? कितना कुछ है जो इतिहासकार के पल्ले नहीं पड़ता, समझ में नहीं आता। क्या कोई तरीका हो सकता है उसको समझने का? अब उस घटना ने मुझे ये सबक सिखाया और 1984 के बाद मेरा इतिहास लेखन काफ़ी आत्मविश्वास के साथ ऐंविचैलेंस को ले आगे बढ़ता है। पहले जहाँ मुझे थिमेटिक डिवाइड और क्रोनोलॉजिकल डिवाइड की जरूरत पड़ती थी अब मैं बगैर उस डिवाइड के ये देखने की हिम्मत कर सका कि एक ही क्षण में, एक ही पल में, दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ चल रही हैं। एक तो साहित्य ने ये दृष्टि दी। साहित्य की दृष्टि को जैसे कन्फरमेशन मिला 2 नवम्बर को अचानक नमूदार हुए उस नारे से और फिर मैं अपनी दूसरी किताब ‘द ऑप्रेसिव प्रेजेन्ट’ में पूरी बात सिर्फ़ इस ऐंविचैलेंस के सहारे कह सका कि अगर हम सामाजिक चेतना को समझना चाहते हैं तो ये सामाजिक चेतना ऐंविचैलेंस के सहारे ही हमें समझ में आ सकती है। तो अब आपसे जो बात कहना चाह रहा हूँ वो ये है मुझे यह बार-बार अनुभव हो रहा है कि मैं पढ़ रहा हूँ और ये ऐंविचैलेंस सिखा रही है। ‘द ऑप्रेसिव प्रेजेन्ट’ 1992 में आता है और इत्तेफ़ाक आप ये देखिए कि 1992 में ही 6 दिसम्बर, बाबरी मस्जिद विध्वंस, सूरत में उसी रात मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा, मार-कटाई शुरू हुई। लगे हाथ मैं ये भी कह दूँ कि कम से कम 1990 के बाद जो सांप्रदायिक दंगे हुए, उन साम्प्रदायिक दंगों के एक्सप्रेसन का तरीका गलत है। दंगे जब होते हैं तो भले ही गैर बराबरी की लड़ाई हो पर असल में वह सम्प्रदायों में लड़ाई होती है। 1990-92, 2002 में दंगे नहीं हुए। किलिंग हुए, संहार हुआ, हिंसा हुई। मैं एक शोध संस्थान में सूरत में उस समय काम करता था। 6 दिसम्बर को हम लोग 2 बजे तीसरे पहर चाय के लिए फैंकल्टी में बैठे थे। बी. बी. सी. से तो खबर आ गई थी लेकिन हिन्दुस्तान में तब तक खबर नहीं आई थी। हमारे रेडियो ने नहीं दी थी कि हमला हो चुका है मस्जिद पर। हम लोग बात कर थे। सोचिए सूरत में बैठे हुए। वहाँ सूरत और गुजरात के एक्सपर्ट हैं जिन्होंने काम किया है सूरत पर और गुजरात पर वो ये बात कह रहे हैं कि अगर खुदा न खास्ता आज अयोध्या में कुछ गड़बड़ हो गई तो गुजरात तो जलेगा। और सब एकमत थे कि गुजरात में कुछ भी हो लेकिन सूरत शान्त रहेगा। और तर्क दिए गए कि क्यों सूरत शान्त रहेगा। सूरत में हिन्दू और मुसलमानों की परस्पर आर्थिक निर्भरता है जो परम्परा से चली आ रही है। अनेक तर्क दिए गए कि गुजरात जलेगा लेकिन सूरत शान्त रहेगा। पर दुर्भाग्य, उसी रात सूरत में ऐसी हिंसा फैली। और 3-4 दिन के अन्दर-अन्दर हमारे समाज-वैज्ञानिक ये बता रहे थे कि क्यों सूरत में हिंसा फैली। तो हम हमेशा जान लेते हैं कि जो हुआ क्या हुआ और ये भूल जाते हैं कि हफ्ते भर पहले ही जब कह रहे

थे कि ये हो नहीं सकता। तब हम भी नहीं कहते कि क्यों हमने ये कहा कि हो नहीं सकता। हम गलत हैं। खैर वो दीगर बात है। शरणार्थियों के लिए जो कैम्प थे हम वहाँ जाते थे। दो-चार मार्च ऑर्गनाइज कर देते थे और पीस-मार्च में जाते वक्त भी लगता था कि क्या इसका मतलब है? हम पीस मार्च कर रहे हैं और पुलिस हमारे बचाव के लिए हमारे साथ-साथ चल रही है। मैं समझ नहीं पा रहा था कि ये क्या हो रहा है। मैं एक शिविर में गया। शरणार्थी शिविर में। एक छोटी बच्ची खड़ी थी। बिल्कुल डेस्ट, कम्पलीट डेस्ट। 12 की थी या 13 की थी ठीक याद नहीं और एक अधेड़ महिला चिल्ला-चिल्ला कर कह रही थी कि भाई इस बच्ची के साथ बुरा कर्म किया—इस बच्ची के साथ बुरा कर्म किया। ये सब देखने या सुनने को मिला। मैं अपने मित्र के यहाँ बैठा हुआ था बात कर रहे थे। अचानक उसकी पड़ोसन आयी और यह बताने लगी कि मालूम है- आउटर पर गाड़ी रोक ली गई। औरतों का रेप किया गया। उसका जाना था कि मेरे मित्र ने मुझसे कहा—ये सब अफवाहें फैल रही हैं आजकल। और जब मेरा मित्र कह रहा था कि सब अफवाहें फैल रही हैं मैंने पाया, मैं सोच पा रहा था कि वो औरतें हिन्दू औरतें तो नहीं थीं। एक क्षण के लिए इसको नैनो सेकेण्ड आप कहना चाहें, मेरे मन में ये भाव आया कि वो हिन्दू स्त्रियाँ तो नहीं थीं और मैंने अपने आपसे पूछा कि तुम तो बचपन से मुसलमानों के बीच रहे। तुम एक साल एक मुस्लिम परिवार में बेटे की तरह रखे गये। तुम जब ये शहर में देख रहे हो, तुम, जिसने बौद्धिक रूप से ही नहीं भावनात्मक रूप से माना है कि तुम्हारे मन में इस तरह का कोई तासुर नहीं है, तुम ये कैसे सोच सके। मेरी किताब लिखी जा चुकी थी। किताब के लिखे जाने के बाद मुझे वो कन्फ्रेंटेशन मिला अपने ऐंविवैलेंस का कि मैं लाख सोचता रहूँ, लेकिन मेरे अन्दर भी वो दूसरी चीज़ कही न कहीं छुपी हुई है। तो आप देखें कि ये जो इतिहासकार है जिसको किताब लिखने के बाद अपने जीवन में ये एहसास होता है। यह एहसास भी चेतन स्तर पर भले रहा हो, लेकिन अन्दर उसके अवचेतन में कहीं ये चीज़ रही होगी जिसे अवचेतन ने उसको ऐंविवैलेंस तक पहुँचाया होगा। मैं अब तक जो बात कहता रहा हूँ उसमें थोड़ा भी दम है तो एक सम्बन्ध बनता है। इतिहास लेखन और इतिहासकार के अपने जीवन और जीवन चरित्र के अपने अनुभवों में। हम इतिहासकारों की दुश्चारी शायद ये है कि सिद्धान्त के स्तर पर हम बहुत बात करते हैं व्यक्ति की, इतिहासकार व्यक्ति की। किस तरह से इतिहासकार जब इतिहास लेखन करे तो उसको अपने पूर्वग्रहों से मुक्ति पा लेनी चाहिए। न जाने कितने सैद्धान्तिक विवेचन इस बात के होते हैं व्यक्ति के अपने पूर्वग्रह उसे कैसे प्रभावित करते हैं। लेकिन, जब इतिहास लेखन होता है उस लेखन में ये सारी सैद्धान्तिकी जैसे भुला दी जाती है। कोई इतिहासकार यह नहीं लिखता कि उसका अपना जीवन क्या रहा है उसके अपने अनुभव क्या रहे और उन अनुभवों ने उसके इतिहास लेखन को किस तरह प्रभावित किया है। चेतन स्तर पर ये जितना हो सकता है। अवचेतन और अचेतन की बात की नहीं जा सकती है मुझे लगता है ये किया जाना चाहिए। ऑटोबायोग्राफी के प्रति सन्देह की दृष्टि नहीं होनी चाहिए। उसका स्वीकार होना चाहिए। एक जागरूक स्वीकार। ऐसा स्वीकार नहीं जो कि अब ये अनिवार्य ही रहेगा इसका हम क्या कर सकते हैं। मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। जागरूक स्वीकार इस बात का कि मैं इस लेखन में हूँ। धन्यवाद!

लिप्यंतरण : अजय आनंद

(‘सत्यप्रकाश मिश्र साहित्य संस्थान’ द्वारा स्व. सत्यप्रकाश मिश्र की स्मृति में प्रत्येक वर्ष आयोजित होने वाली व्याख्यान माला का सातवाँ व्याख्यान -22 फरवरी, 2014)

संपर्क : वाई-ए-3, सहविकास अपार्टमेंट्स, आई.पी. एक्सटेंशन, पटपड़गंज, नई दिल्ली-110092, मो.-08860153163

मैं तुम्हें छू लेना चाहता था मार्केस!

श्रीकांत दुबे

गाब्रिएल गार्सिया मार्केस का मतलब क्या होता है? इस प्रश्न के एकाधिक उत्तर हैं। समूची दुनिया के लिए एक 'अनिवार्य' और महान किस्सागो। लेकिन पूरे लैटिन अमेरिका के लिए इससे कहीं अधिक, मार्केस माने एक उत्सव।

मेरे मेक्सिको प्रवास के शुरूआती दिनों में जब सूरज और चाँद के सिवाय हर चीज अजनबी दिखती थी, ऐसे में मेट्रो-बस के अन्दर किसी भी उम्र के शख्स के हाथों में झूलती मार्केस की किताब का दिख जाना आसपास किसी अपने के होने जैसा एहसास देकर खुश कर देता था। मेरी टूटी-फूटी स्पैनिश के अलावा मार्केस ही थे जो मेक्सिको और मेरे बीच की दूरियां मिटाते, जगह-ब-जगह। मैं जैसे ही किसी से पहली बार मिलता, दो चार मिनट बातें करता, हमारे बीच मार्केस आ जाते। ऐसा अपवाद स्वरूप कभी हुआ हो तो नहीं पता, लेकिन, बैंक के फुल टाइम कर्मचारी से लेकर रेस्तरां के वेटर और टैक्सी ड्राइवर तक, सब ने कभी न कभी 'मार्केस' को पढ़ रखा था और सराहा था। मेक्सिको में मार्केस के बारे में सोचते, बोलते इस विषय वाली मेरी स्पैनिश इतनी निखर गयी थी कि अक्सर ही ऐसे संवादों के अंत में मुझे इस भाषा पर अपनी पकड़ को लेकर तारीफ भी मिल जाती। हालाँकि मेरे द्वारा किसी और भाषा की बनिस्पत स्पैनिश ही सीखे जाने के मूल में भी मार्केस ही थे। उन दिनों मैं बीए. द्वितीय वर्ष का छात्र था, जब युवा कथाकार चन्दन पाण्डेय ने मुझे मार्केस का लिखा 'लव इन द टाइम ऑफ कालरा' नामक उपन्यास दिया। मैंने पहली बार इस उपन्यास को अपनी कमजोर अंग्रेजी के नाते रुक-रुक कर पढ़ा। लेकिन एक बार पूरी होने के बाद दीवानावार दूसरी बार भी पढ़ डाला। कुछेक महीने बाद तीसरी बार भी। और किताब या मार्केस का मुझ पर असर कुछ यूँ हुआ कि मेरी ईमेल आईडी का पासवर्ड, जो कि तब तक मेरी गर्लफ्रेंड का नाम हुआ करता था, बदल कर उपन्यास की एक किरदार 'फेर्मिना दासा' (Ferminadaza) का नाम हो गया। मार्केस को और गहरे से समझने के लिए, मैंने तय किया कि उसकी बाकी किताबें मूल स्पैनिश में ही पढ़ूँगा और मैं अपने अभियान में लग गया।

लैटिन अमेरिका में, सीमा विवाद एवं पासपोर्ट और वीसा की बाध्यताओं के बावजूद अंतर्देशीय विवाहों की बहुलता है। रंग एवं वर्ण भेद नहीं के बराबर हैं। इस तरह, संस्कृतियाँ आपस में इतनी घुली-मिली हैं जैसे पतीले में पक रहे चावल के दाने। अतः मेक्सिको सिटी भर में जिन लोगों से मेरी जान पहचान हुई, उनमें पेरू, पनामा, ग्वाटेमाला और चिली तक के नागरिक रहे, जिनसे मुझे पता चला कि समूचे लैटिन अमेरिका में मार्केस 'गाबो' की संज्ञा से बुलाये जाते हैं। एक लेखक के लिए इससे बड़ा सम्मान और क्या हो सकता है कि देश ही नहीं, बल्कि एक पूरा महाद्वीप उसे दुलार करता है। इस बात की तसदीक करता एक प्रसंग-दिसम्बर महीने की शुरुआत में मेक्सिको सिटी में 'एल फिन' यानी 'वर्ष के अंत' के नाम पर जगह-जगह पुस्तक मेले लग रहे थे। कुछेक घनघोर 'असाहित्यिक' स्टाल्स के अतिरिक्त कोई भी विक्रेता ऐसा नहीं मिलता जिसके पास 'गाबो' मौजूद न हो। मैं यदि पूछता कि 'मार्केस की 'फलां' किताब है कि नहीं', तो वे आपस में बोलते, 'गाबो' की 'फलां' किताब दे दो।' इन दिनों जैसे शॉपिंग माल्स में हमें वस्तुओं पर 'बाई वन गेट वन' जैसे ऑफर मिल जाया करते हैं। पुस्तक मेलों में ऐसे ऑफर्स सबसे अधिक मार्केस की किताबों के साथ दीखते। मेक्सिकन मुद्रा के सामने करीब पांच गुना अवमूल्यित भारतीय रुपयों के नाते मेरे लिए उन दिनों इससे अधिक खुशी की बात और क्या हो सकती थी?

यह बात मुझे तब तक नहीं पता थी कि जन्म से लेकर बतौर लेखक विश्व विख्यात होने तक मुख्यतः कोलंबिया में रहे मार्केस इन दिनों मेक्सिको में रहते हैं, जब तक कि मेरे ऑफिस की सहकर्मी मारिया उईदोब्रो उर्फ 'तोनी' ने एक रोज यह न पूछ लिया कि "गाबो मेक्सिको में ही तो रहते हैं, तुम उनसे मिल क्यों नहीं लेते?" तोनी ने, हालाँकि, यह बात यूँ ही कह दी थी, लेकिन मैंने इसे बेहद गंभीरता से लिया और आते-जाते तोनी से इस बात की ही गुहार लगाता रहा कि वो मेरी मुलाकात मार्केस से करा दें। दो रोज की लगातार जिद के बाद तोनी ने मुझे आश्वासन दिया कि वह जरूर ही इस सिलसिले में प्रयास करेंगी। तोनी ने अपने रिश्तेदारों और उनकी जान-पहचान के लोगों तक को फोन कर-करके किसी म्यूजियम, पुस्तकालय, आर्ट गैलरी आदि में काम करने वाले कम से कम दसियों लोगों से बात की और मार्केस का पता और फोन नम्बर जानने की कोशिश की। इस सिलसिले में एक फोन नंबर मिला भी, लेकिन उसकी सेवायें रद्द थीं। यूँ, ढेर सारी छानबीन करने के बाद पता चला कि सन् 1999 के बाद से मार्केस ने फोन का प्रयोग करना बंद कर दिया था और उन तक पहुँचने का इकलौता जरिया फिलहाल उनके छोटे भाई खाइमे गार्सिया मार्केस हैं। तोनी अपनी कोशिश में अगले दिन भी लगी रहीं और कोलंबियाई दूतावास में काम करने वाले अपने किसी दूर के सम्पर्की के जरिये खाइमे गार्सिया मार्केस का फोन नम्बर उपलब्ध कर लिया।

यह बात फरवरी के दूसरे या तीसरे सप्ताह की रही होगी, जिसके बाद मेक्सिको में मेरे प्रवास के करीब दस-बारह दिन और बचते थे। तोनी ने मेरी ख्वाहिश के बारे में खाइमे गार्सिया मार्केस को इत्तला देकर अपॉइंटमेंट लेने की खातिर फोन मिलाया। कोई जवाब नहीं आया। हमने दो-तीन दफे और कोशिश की, लेकिन सिर्फ़ घंटी बजती रही, बिना उत्तर।

मैंने अगली सुबह खुद ही खाइमे गार्सिया मार्केस को फोन करने का निश्चय किया और होटल वापस आ गया। मैंने अपने फोन में अधिक क्षमता का मेमोरी कार्ड डालने के साथ उसके ऑडियो रिकॉर्डर की जांच की और पूरी तैयारी कर ली कि सुबह से लेकर शाम तक का जो भी कोई वक्त मुझे दिया जाए, मार्केस से अपनी मुलाकात के लिए मेरे बंदोबस्त मुकम्मल हों। हालाँकि अभी तक सब कुछ अनिश्चित था, लेकिन मैं अगले दिन के लिए कुछ वैसे ही

उत्साहित था जैसे समूचा बचपन मैदानी क्षेत्रों में गुजार देने के बाद मैं पहाड़ को सिर्फ़ देख नहीं, बल्कि एक बार छू लेना चाहता था। असल में मैं मार्केस को भी एक बार छू लेना चाहता था। मैं मार्केस को पृथ्वी के दूसरे छोर तक के लोगों के दिलों में पल रहे उनके लिए बेशुमार प्यार के बारे में बता आना भी चाहता था।

‘मार्केस-मार्केस’ रात बीती। मैंने भारत से ले आये कपड़ों में से पैंट-शर्ट का सबसे अच्छा दिखने वाला जोड़ा पहना, जूते आदि साफ़ किया और ऑफिस के लिए निकल लिया। मुझे पता था कि अगर अपॉइंटमेंट तय हो गया तो काम की दुहाई देकर मेरी मैनेजर मुझे रोकेंगी नहीं (जिस भंगिमा के लिए मैं उनका शुक्रगुजार हूँ)। बाकी, मैंने एक दूसरे अजीब सहकर्मी क्रिसोफोरो से भी बात कर ली थी गाड़ी लेकर मेरे साथ चलने के लिए। ऑफिस में मुझसे पहले ही से तोनी मौजूद थीं। हमने मेक्सिकन संस्कृति के तहत एक दूसरे के गाल से गाल छूकर अभिवादन किये और तोनी ने बिना पूछे डायरी निकाल खाइमे गार्सिया मार्केस का नंबर मिला दिया। घंटी फिर से बजी और चंद सेकेंड्स में उठा भी लिया गया। तोनी ने पूछा तो उधर से जवाब आया कि ‘हाँ, मैं खाइमे।’ तोनी ने उनसे कहा कि भारत से एक ‘युवा लेखक’ श्रीकांत आया है, जो गाबो से मिलना चाहता है। मुलाकात के लिए यदि अपॉइंटमेंट मिल सके तो मेहरबानी होगी। खाइमे की बुजुर्ग आवाज ने मेरी भावना का स्वागत किया और इस पर अपनी खुशी जताई। लेकिन साथ ही साथ उन्होंने ‘मुलाकात संभव न होने’ की बात भी जोड़ दी। उन्होंने बताया कि पिछले कुछ रोज से मार्केस साहब की तबीयत खराब हो गयी है और वे चिकित्सकों की निगरानी में हैं। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि मैं चंद हफ्ते रुककर फिर से उन्हें फोन कर लूँ, स्थिति में सुधार रहा तो गाबो भी मुझसे मिलकर खुश होंगे। इसके बाद किसी तरह की जिरह की संभावना नहीं बचती थी। मैंने गाबो के स्वास्थ्य लाभ की शुभकामना देकर खाइमे जी को अलविदा कहा और तोनी को ढेर सारा शुक्रिया।

वह शायद शुक्रवार का दिन था। काम में मेरा मन न लगा, इसे मेक्सिको की मेरी पूरी टीम ने भांप लिया। जैसे एक बच्चा दूर शहर से आने वाले अपने चाचा द्वारा लाये जाने वाले खिलौने का इंतजार कर रहा हो और अचानक पता चले कि चाचा का घर आना फिलहाल टल गया। तोनी और क्रिसोफोरो समेत समूची टीम ने चुपके से तैयारी की और लंच के नाम पर हम क्रिसोफोरो तथा एक अन्य सहकर्मी की कारों में बैठकर मेक्सिको सिटी के न जाने किस कोने तक बढ़ आये। बता दूँ, कि मेक्सिको समेत लैटिन अमेरिका के अधिकतम देशों में दोपहर के भोजन के बाद एक घंटे के विश्रामावकाश लेने की परंपरा है। इस तरह से लगभग प्रत्येक कार्यालय में मध्यावकाश कुल दो घंटे का हो जाता है। यँ, अचानक योजित इस लंच की तफसील फिर कभी, लेकिन कुल मिलाकर ‘मार्केस से न मिल पाने’ की खलिश के बावजूद दिन यादगार रहा।

सप्ताहांत बीता और सोमवार तड़के ऑफिस पहुँचने पर मैंने पाया कि मेरे मेलबॉक्स में मेरी वापसी का पक्का टिकट मेरा इंतजार कर रहा था। यात्रा का दिन शुक्रवार। यानी कुल मिलाकर मेक्सिको में मेरी रहनवारी के पाँच दिन बचे। जबकि खाइमे गार्सिया मार्केस के मुताबिक मुझे चंद हफ्तों बाद फिर से फोन करना था। फोन करूँ या न करूँ की पशोपेश में दो दिन और भाग गए। बुधवार की दोपहर बाद तक मैं खुद को रोक नहीं पाया और फिर से खाइमे गार्सिया मार्केस का नम्बर डायल कर दिया। फोन किसी महिला ने उठाया, जो शायद गाबो की पत्नी ‘मेसेदेस बार्चा’ उर्फ ‘गाबा’ थीं। उन्होंने बताया कि खाइमे फिलहाल मेक्सिको से बाहर गए हैं। मैंने सीधे मुद्दे पर आते हुए पूछा, ‘और गाबो?....’ लगे हाथों मैंने खुद के

लेखक और हिन्दुस्तान से होने वाली स्क्रिप्ट भी पढ़ दी और पूछ बैठा कि क्या गाबो से मेरी बात हो सकती है, फोन पर ही सही? उन्होंने काफ़ी विनम्रता के साथ खेद जताया और बोली कि गाबो के फेफड़ों में संक्रमण हो गया है, सांस लेने तक में तकलीफ है और उन्हें ठीक होकर बातचीत कर पाने में महीनों लग सकते हैं।

यूँ, गाबो से मिल पाने के इस अंतिम आस के टूटने के चंद ही घंटों बाद एक मीटिंग से यह बात निकल कर आई कि अप्रैल के अंत तक मुझे वापस मेक्सिको आना पड़ सकता है। उनकी खराब तबीयत के बाद गाबो से मिल पाने की सबसे मुफीद सूरत ऐसे ही बन सकती थी कि मैं कुछेक महीनों बाद वापस आऊँ, जब तक कि वे स्वास्थ्य लाभ कर लें। यूँ, घंटे दर घंटे मेक्सिको के छूटते जाने की खटकन के बावजूद मैं एक उम्मीद भर की खुशी के साथ भारत लौट आया।

आज 18 अप्रैल है और मेरे मेक्सिको वापसी की योजना काफ़ी आगे तक बढ़ चुकी है। और जल्द ही रवानगी की तारीख और टिकट मेरे हाथ में आ सकते हैं। इस बीच यह खबर कि “मार्केस नहीं रहे।” अभी-अभी लग रहा है कि ठीक मेरे पैरों के नीचे एक सुरंग बनने लगी है, जिसमें घुसता जाता हुआ मैं पृथ्वी के उस पार यानी मेक्सिको में निकल जाने वाला हूँ। भाग-भाग कर पूरा शहर खोजने वाला हूँ। और बस यही पाने वाला हूँ कि “मार्केस नहीं रहे।” यूँ तो दुनिया तुम्हें सदा ही अपने आस-पास पायेगी और महसूसती रहेगी, लेकिन मैंने कहा न मार्केस, कि मैं तुम्हें छू लेना चाहता था, ओह!

संपर्क : द्वारा-बी. पांडेय, बी-59/जी-2, (निकट न्यू क्रिश्चियन पब्लिक स्कूल), दिलशाद कॉलोनी, दिल्ली-110095

बात कहुँ में खरी

ब्राह्मणवादी एकेडेमी ब्राह्मणवादी व्यवस्था के भीतर ही

i x fr 'khyrk d h ryk'k d jr h gs

(चौथीराम यादव से प्रमोद कुमार शर्मा की बातचीत)

प्रमोद कुमार शर्मा—भक्ति काव्य में धर्म की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं?

चौथीराम यादव—पूरे मध्यकाल में भक्ति की बहुत ही निर्णायक भूमिका रही है। जो धार्मिक वर्चस्ववाद है वह यथास्थितिवाद को बराबर बनाए रखना चाहता है। धर्म की भूमिका इस रूप में महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल में राजसत्ता और ज्ञानसत्ता का संयुक्त गठबंधन है जिसे हम सामंती पुरोहिती संस्कृति कहते हैं। राजसत्ता पर सामंतों का और ज्ञानसत्ता पर पुरोहितों का एकाधिकार था जिसे हम religious bureaucracy कहते हैं। मध्यकाल के निर्गुण संत कवियों ने धार्मिक वर्चस्ववाद पर प्रहार किया। समाज में व्याप्त विषमता को दूर कर कैसे समता लायी जाए इसका प्रयास करते हैं संत कवि। मानवीय मूल्य, जीवन मूल्य की बात करते हैं। निर्गुण संत सामाजिक अन्याय के विरोध में दलितों, स्त्रियों या हाशिये के समाज के पक्ष में खड़ा होते हैं और उनकी आवाज बनकर राजसत्ता और ज्ञानसत्ता का विरोध करते हैं। एक प्रकार से देखा जाये तो ब्राह्मणों और क्षत्रियों का जो द्विजकुल बना था वह शूद्र संस्कृति के विरोध में था। कबीर इत्यादि संत धार्मिक वर्चस्ववाद पर प्रहार जो छः सौ साल पहले कर रहे हैं, उसको बाद में चलकर ज्योतिबा फुले, अम्बेडकर ने आगे बढ़ाया। ज्योतिबा फुले का सारा आन्दोलन religious bureaucracy के खिलाफ में है। religious bureaucracy के माध्यम से ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करना चाहते थे।

प्रमोद कुमार शर्मा—भक्ति आन्दोलन में जो धार्मिक पतन था या इस्लाम के आक्रमण से जिस रूप में ब्राह्मणवादी व्यवस्था आहत हो रही थी क्या उसी रूप में निम्न जातियाँ भी आहत हो रही थीं ?

चौथीराम यादव—नहीं, उस रूप में निम्न जातियाँ आहत नहीं हो रही थीं। जो बाहरी आक्रमण हो रहे थे उन्हें अपने शासन तंत्र को चलाने के लिए उन लोगों की जरूरत थी जो वर्चस्ववादी जातियाँ थीं। हिन्दुस्तान में जो मुस्लिम आये थे वे सीमित संख्या में थे। उन्हें अपना

शासन व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए वर्चस्ववादी जातियों के सहयोग की आवश्यकता थी। उनके आने से वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई क्योंकि जातिवाद से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। इसलिए दलित समुदाय या निचले तबके के लोग भी उसमें शामिल हुए। शकों, हूणों, कुषाणों के आने के बाद जैसे वर्ण-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हुई थी या जैसे बुद्ध ने छिन्न-भिन्न किया था।

पुराणकाल में आकर फिर से नये ग्रन्थ एवं नई स्मृतियाँ लिख-लिखकर उस वर्ण-व्यवस्था को मजबूत किया गया। उसे पुनः व्यवस्थित किया। अवतारवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल के सिद्धांत की कल्पना ये सारे सिद्धांत ब्राह्मणवादी व्यवस्था की अवधारणा हैं जो वर्ण-व्यवस्था को अकाट्य, पुख्ता और मजबूत बनाये रखने के लिए किया गया। कबीर तथा निर्गुण संतों ने इस अवतारवाद का विरोध किया। कर्मफल का तो बहुत साफ़ नहीं है लेकिन चार्वाकों, लोकायतों ने जैसे कर्मफल के सिद्धांतों की धज्जियाँ उड़ाई और कहा था कि यह ब्राह्मण, पुरोहितों का छद्म है, कबीर में उसके अंतर्विरोध मिलते हैं क्योंकि बुद्ध में स्वयं अंतर्विरोध हैं। बुद्ध की जातक कथाओं में पुनर्जन्म की बात है। कबीर के यहाँ भी पुनर्जन्म तथा कर्मफल को लेकर अंतर्विरोध हैं। लेकिन वर्ण-व्यवस्था की श्रेष्ठता को उन लोगों ने चुनौती दी। ये बहुत बड़ी चीज थी राजसत्ता के लिए। उस समय की सामन्ती सत्ता थी राजसत्ता और जो ज्ञान की सत्ता थी पुरोहितवाद। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों समुदायों के पुरोहितवाद की धज्जियाँ उड़ाई हैं। हिन्दू और मुस्लिम पुरोहितवाद का जो संयुक्त समाज था वह उच्च वर्ग के लोगों को प्रश्रय देता था। दलितों, स्त्रियों इन सबको हीन समझता था। कबीर ने साहसी ढंग से उनका विरोध किया है।

प्रमोद कुमार शर्मा—कबीर की जो विद्रोही चेतना है उसको बार-बार आलोचकों द्वारा रेखांकित किया गया है लेकिन जो उनका व्यक्तिगत चिंतन या प्रेम का पक्ष है, जैसे—‘दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै’, या ‘विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोई’ इन पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। कबीर के प्रेम तत्त्व को आप किस रूप में देखते हैं ?

चौथीराम यादव—देखो, जब भीष्म साहनी ने ‘कबीरा खड़ा बाजार में’ लिखा उस पर उनके कई मित्रों ने यह सवाल किया कि इसमें कबीर का जो सामाजिक विद्रोह वाला पक्ष है उसको आपने हाइलाइट किया है। कबीर के आध्यात्मिक पक्ष को आपने महत्त्व नहीं दिया है, जिसमें प्रेम भी है। ‘कबीरा खड़ा बाजार में’ की भूमिका तुम पढ़ लो। उसमें भीष्म साहनी ने बताया है कि जो अध्यात्म है, प्रेम है और जो सामाजिक चिंतन में विद्रोह है ये एक ही व्यक्तित्व की देन हैं। आप इसको अलग-अलग करके नहीं देख सकते हैं। वे एक ही व्यक्तित्व की छवियाँ हैं, जैसे कोई संत है तो वह एक आध्यात्मिक जीवन भी जीता है, एक जीवन मूल्य होता है। सदाचार पर बल देता है, लेकिन उसी समाज में जो असमानताएँ हैं विषमताएँ हैं उस तरफ भी उसकी दृष्टि जाती है। उसका वह विरोध भी करता है। इसलिए एक ही व्यक्तित्व के जो अलग-अलग पहलू हैं उसका मूल्यांकन समग्रता में करना चाहिए। कबीर की कविता में प्रेम, अध्यात्म, रहस्यवाद, विद्रोह यह सब कुछ है। रामचंद्र शुक्ल ने रहस्यवाद के नाम पर कबीर को खारिज किया। कबीर की प्रेम कविताओं में रहस्यवाद है जैसे—‘दुलहिन गावहुँ मंगलाचार’ या ‘ये अँखियाँ अलसानी पिया हो सेज चलो’ लेकिन जिन पंक्तियों को आप रहस्यवादी कह रहे हैं इनमें ‘अध्यात्म राग’ कितना महत्त्वपूर्ण है और ‘लोकराग’ कितना महत्त्वपूर्ण है यह देखना जरूरी है। ‘आई गवनवां की साड़ी’, ‘नैहर में दाग लगाई आई चुनरी’ इन सब में लोकरंग ज्यादा चटक है, अध्यात्म रंग से। अर्थात् लोकजीवन में स्त्री की विडम्बना इस लोक रंग में ज्यादा उभर कर आता है।

विश्लेषण करेंगे तो देखेंगे कि प्रेम अपने आप में निर्बंध होता है। उसके आध्यात्मिक

और महाराग वाले पक्ष को छोड़कर हमें उसके लोकरंग वाला जो पक्ष है उसको ज्यादा तरजीह देनी चाहिए।

प्रमोद कुमार शर्मा—भक्तिकाव्य सामंती मूल्यों का निषेध किन रूपों में करता है और किन रूपों में नहीं करता है ?

चौथीराम यादव—भक्तिकाव्य में जो पूरी प्रेम कविता है, खासकर सूर की और मीरा की कविता की पूरी परम्परा वह पूरे सामंतवाद को चुनौती भी है और उसका निषेध भी। क्योंकि सामंती समाज व्यवस्था में स्त्रियों की जो स्थिति है वह तमाम वर्जनाओं द्वारा घेरी गई है। वह कवि कितना महत्वपूर्ण होगा जो राधा-कृष्ण और गोपियों के माध्यम से स्त्री के सवाल को उठा रहा है। स्त्रियों की स्वतंत्रता की घोषणा कर रहा है। क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि मध्यकाल में कोई स्त्री और पुरुष गले मिलकर, हाथ में हाथ डालकर घूमते हुए समाज में दिखाई पड़े। यह यूटोपिया है। मध्यकाल में यदि सूरदास ऐसा चित्रित कर रहे हैं तो अपने समय से बहुत आगे के समाज की बात कर रहे हैं। प्रेमी और प्रेम का जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ एकनिष्ठता का भाव होता है। प्रेम सारे बन्धनों को तोड़ता है। वह जाति नहीं पूछता। प्रेम मन की स्वाभाविक वृत्ति है। 'उधौ मन माने की बात' प्रेम मन से मन के मिलने की बात है। यह जो प्रेम कविता है वह सारे सामंती समाज में चुनौती है। क्योंकि सारे शास्त्रों का आक्रोश प्रेम पर है। विवाह पर ज्यादा फोकस है। वहाँ विवाह का मतलब स्त्री की पराधीनता से है। इसमें पुरुष के अधीन स्त्री वाले पक्ष को लिया गया है।

प्रमोद कुमार शर्मा—तुलसी और कबीर की स्त्री सम्बन्धी अवधारणा तथा सूर और मीरा की स्त्री सम्बन्धी अवधारणा को आप किन रूपों में देखते हैं?

चौथीराम यादव—पहली बात तो यह है कि जो स्त्री का प्रश्न है वह मध्यकाल के एजेंडे में है ही नहीं। वे कबीर हों या तुलसी। कबीर बड़े क्रांतिकारी थे। स्वाभाविक होते हुए भी स्त्रियों के पक्ष में बातें की जानी चाहिए। नाथों, सिद्धों की परम्परा में कई कवि ऐसे हैं जो वर्ण-व्यवस्था और जाति-पाति के विरोधी हैं, लेकिन स्त्री भी दलितों की कोटि में आती है, यह समझ उस समय नहीं थी। यह उस युग की सीमा थी, जो कबीर और तुलसी दोनों में दिखाई पड़ती है लेकिन जिसने भी प्रेम कविता को स्वीकार किया है उस सीमा को तोड़ा है। तुलसी, कबीर के यहाँ स्त्री पराधीनता और उसकी जकड़न की बातें की जाती हैं तो तुलसीदास वहीं पर यह भी लिखते हैं कि,

कत विधि सुजहिं नारि जग माहीं।

पराधीन सपनेहुं सुख नाही॥

जब पौराणिक या धर्मशास्त्रों का पुनर्पाठ करते हैं तब यह लिखते हैं—'अवगुन आठ सदा उर रहीं', 'ढोल गंवार सुद्र पसु नारी', या 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरहिं नारी'।

यह शास्त्रों का पुनर्पाठ है लेकिन सवाल यह उठता है कि आप पुनर्पाठ क्यों कर रहे हैं? शास्त्र जो स्त्री और दलित विरोधी हैं, यदि तुलसीदास इसका पुनर्पाठ कर रहे हैं तो वे कठघरे में खड़ा होते हैं। लेकिन 'पराधीन सपनेहुं सुख नाही' लिखते हैं तो लोकजीवन में स्त्री की पीड़ा को शिद्दत से महसूस भी करते हैं। स्त्री विरोधी पंक्तियों को जब हम यह कहते हैं कि यह बात तुलसीदास ने नहीं कहा है, यह तो समुद्र, रावण, शबरी इत्यादि ने कहा है तब हम तुलसीदास को गलत ढंग से संरक्षित करते हैं। लिखा तो उन्होंने ही है, पुराणों का पुनर्पाठ तो उन्होंने ही किया है। ऐसी कौनसी आवश्यकता थी कि आपने ऐसा पुनर्पाठ किया।

जाहिर है कि जब भक्ति आन्दोलन ने कबीर को आमंत्रित किया था तो उस समय

स्त्री, पुरुष, दलित सब आये। हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदाय की निम्न जातियाँ उसमें शामिल हुईं, साथ-साथ सवर्ण भी आए। जो सवर्ण आए वे अपनी श्रेष्ठता के अहंकार को दरकिनार कर के आए। मीराबाई शामिल हुईं। मीराबाई जैसी सवर्ण समाज, राजपरिवार की स्त्रियाँ उसमें शामिल हो रही हैं तो यह रुढ़िवादी, परम्परावादी, ब्राह्मणवादी परम्परा के लोगों के लिए बड़ा खतरा था क्योंकि वे दलितों के साथ संपर्क कर रही थीं। इसमें शुद्धतावादी लोगों को वर्ण संकरता का संकट नजर आ रहा था। प्रेम कविता लिखने वाली मीराबाई तथा जायसी, सूर ये तमाम सारे लोग जानते हैं कि प्रेम का चित्रण स्त्री पराधीनता के खिलाफ है। जायसी कहते हैं कि—

“ए रानी मन लेहु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।”

अर्थात् हिन्दू समाज व्यवस्था में एक लड़की जब तक अपने पिता के घर में है, स्वतंत्र है। वह मुस्कुरा सकती है, बोल सकती है लेकिन विवाह संस्था से जुड़ जाने के बाद ससुराल में उस पर तमाम प्रतिबन्ध लग जाते हैं। घूँघट अनिवार्य हो जाता है, हँसना, खिलखिलाना मना है यानी विवाह नामक संस्था नारी पराधीनता का अमोघ बंधन है।

प्रमोद कुमार शर्मा—क्या इन कवियों ने स्त्री को लेकर प्रत्येक जगह यथास्थिति का ही चित्रण किया है या कोई विकल्प भी दिया है और दूसरी बात यह है कि क्या भक्तिकालीन कथा नायकों के अधीन स्त्री को महसूस किया जा सकता है ?

चौथीराम यादव—यथास्थिति का चित्रण, हाँ यह बात तो है लेकिन अधीनता का सवाल नहीं है। हम कृष्ण कथा के सन्दर्भ में देख सकते हैं कि रुक्मिणी तो कृष्ण की विवाहिता है, पटरानी है। जब प्रभास क्षेत्र के मेले में बहुत दिनों के बाद मिलन होता है तो इधर ब्रज क्षेत्र की स्त्रियाँ राधा के साथ मेले में उपस्थित हैं और उधर रुक्मिणी और कृष्ण भी वहाँ उपस्थित हैं। उस दृश्य को देखो। रुक्मिणी ने यह हमेशा से सुन रखा था कि कृष्ण का राधा से बहुत ही रागात्मक तरीके का सम्बन्ध है, छेड़छाड़ भी करती रहीं लेकिन वह तो पत्नी है फिर भी वह पूछती हैं कि—“बूझत है रुक्मिणी प्रिया इनमें को वृषभान किसोरी” अब बताइए पत्नी अपने पति से पूछ रही है कि इनमें कौन वृषभान किशोरी है। “जाकै गुन गर ग्रंथित माला कबहुं न उर से छोड़ी” जिसके गुणों की माला को गूँथकर तुमने अपने गले में पहन रखा है और आज भी नहीं उतार रहे हो, वह राधा कौन है? तुम्हारी अन्या कौन है? अनन्या पूछ रही है अपने पति से, इसके बाद कृष्ण बस इतना कहते हैं कि—“वह लख जोती वृन्द में ठाढ़ि नील बसन तन गोरी” वह जो लाखों के बीच में खड़ी है, नीली साड़ी में और गोरे बदन की है। वह राधा है। तब “रुक्मिणी राधा ऐसे भेंटी, ज्यूं बहुत दिनन की बिछरी एक बाप की बेटी” जैसे सपत्नी भाव ही खतम हो गया। सामंती समाज व्यवस्था में स्त्रियाँ समझौता करके ही जी सकती थीं। उसके अलावा और कोई विकल्प नहीं था। उस त्रिकोणात्मक प्रेम को सूर, जायसी ने एक प्रकार से सामाजिक बनाया। एक प्रकार से सामंती भाव में जो ईर्ष्या भाव है वह खत्म होकर ‘बहनापे’ में बदल जाता है। जायसी ने ‘नागमती’ और ‘पद्मावती’ के बीच एक ‘बहनापा’ स्थापित किया है। सूरदास ने भी रुक्मिणी गोपियों या राधा के बीच एक बहनापा स्थापित किया है।

प्रमोद कुमार शर्मा—दलित चिंतकों तथा पूरे दलित समुदाय को तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ से शिकायत रही है। क्या यह शिकायत वाजिब है? तुलसी के शूद्र चिंतन के सन्दर्भ में आपका क्या ख्याल है?

चौथीराम यादव—देखो, मानस को लेकर तुलसी को मैं भी कटघरे में खड़ा करता हूँ। उससे वह बच नहीं सकते। जो उनके रामराज्य का ढिंढोरा पीटा जाता है उस रामराज्य में

दलित और स्त्रियाँ कहाँ हैं? यदि हैं भी तो 'जिमि स्वतंत्र होई बिगरहिं नारी', 'ढोल गंवार सुद्र पसु नारी' के रूप में। यानी उन्होंने पुराणों के पुनर्पाठ के रूप में प्रस्तुत किया है। दलितों की बात छोड़ दीजिए। मार्क्सवादी आलोचकों के बीच में भी तुलसीदास controversial हैं। मुक्तिबोध ने उनकी आलोचना की है। 'दूसरी परम्परा की खोज' में नामवर सिंह ने उन पर सवाल उठाए हैं। तुलसीदास ब्राह्मणवादी व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं तो जाहिर है कि आपका approach क्या है। वे पुराणों का समर्थन करते हैं। ये पौराणिक पुनरुत्थानवाद है। पुनरुत्थानवाद अतीतगामी होता हुआ प्रतिक्रियावादी होता है। उनकी तुलना में तो सूरदास ज्यादा प्रगतिशील हैं। उन्होंने पुराणों से प्रेरणा जरूर ग्रहण की लेकिन यह नहीं लिखा कि-

“जब जब होहिं धरम की हानी,
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।”

यानी गीता का जो श्लोक था—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानि' इसका पुनर्पाठ तो सूरदास को करना चाहिए था क्योंकि वे कृष्णकाव्य परम्परा को लेकर चल रहे हैं लेकिन उस काव्य परम्परा का पालन तुलसीदास ने किया। यानी तुलसीदास ने कृष्ण के व्यक्तित्व को राम के व्यक्तित्व में आरोपित करते हुए वर्ण-व्यवस्था की रक्षा की है। मैंने तुलसी के सन्दर्भ में लिखा है कि "तुलसीदास की कविता यात्रा मोहभंग की कविता यात्रा है।" 'रामचरितमानस' में पुराणों से मोहग्रस्त है, वहाँ पुराणकार का चेहरा लगाए हुए हैं लेकिन जब 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और सबसे ज्यादा हनुमान बाहुक में जाते हैं तब तुलसीदास यथार्थ के करीब जाते हैं। 'रामचरितमानस' का समाज तुलसीदास का समय-समाज नहीं है। अतीतकाल की हासोन्मुख प्रवृत्तियाँ हैं और पौराणिक समय का समाज है। लेकिन जब आगे जाते हैं कलिकाल और भक्ति का जो द्वंद्व होता है वहाँ तुलसीदास कलिकाल से त्रस्त हैं। 'विनयपत्रिका' में कलिकाल को देखकर वे हहर जाते हैं। भगवान, हनुमान से प्रार्थना करते हैं कि इस कलिकाल से रक्षा कीजिये। कलिकाल क्या है? कलिकाल अपने समय का यथार्थ है। रामराज्य का आदर्श कल्पित आदर्श था जो ढह रहा है। निर्गुण संत जो कि वर्ण-व्यवस्था को तोड़ रहे थे, उस वर्ण व्यवस्था को पुनः स्थापित करने के लिए तुलसीदास ने रामराज्य की कल्पना की। मैंने एक बहुत बड़ा लेख 'अवतारवाद का समाजशास्त्र और लोकधर्म' नाम से लिखा था, जो तद्भव के उन्नीसवें अंक में छपा था। यह सारा कुछ मैंने उसमें लिया है जो निर्गुण-सगुण का अंतर्द्वंद्व है। उसमें रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल को मैंने कटघरे में खड़ा किया है क्योंकि जो ब्राह्मणवादी एकेडेमी है वह ब्राह्मणवादी व्यवस्था के भीतर ही प्रगतिशीलता की तलाश करती है। यदि तुलसी पर अंगुली उठा दीजिये तो छाती पर हथौड़ा पड़ जाता है। रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल के अंतर्विरोधों पर बात कीजिये तो ये लोग बर्दाश्त नहीं करेंगे। उस लेख में मैंने भक्तिकाव्य की जो आलोचना विकसित हुई उसको खण्डित किया है।

प्रमोद कुमार शर्मा—यदि वर्ण व्यवस्था जन्म से न होकर कर्म से ही हो जाए तो क्या यह वैज्ञानिक है ?

चौथीराम यादव—देखो, समय सापेक्ष होता है। पौराणिक परम्परा जन्मना मानती है। बुद्ध की परम्परा उसे कर्मणा मानती है। शुरुआती दौर में ऋग्वेद के काल में सारे जो शुद्धतावादी, आर्य संस्कृति और हिन्दू संस्कृति का विकास होता है, वह ऋग्वेद को ही मानते हैं। उस ऋग्वेद के काल में जन्मना का नहीं कर्मणा का ही है। आप वैदिक काल में देखिये, एक ऋषि के चार पुत्र हैं। कोई शास्त्रों का अध्ययन कर रहा है, कोई चमड़े का व्यवसाय कर रहा है, कोई दूसरा धंधा कर रहा है। एक ही घर में चार संतानें अलग-अलग काम कर रही हैं। जो चमड़े का पेशा करता था वह शूद्र कहा गया। वैदिक काल में कर्मणा ही था। जन्मना की बात ही

नहीं थी। एक ही पिता की चार संतानें चार व्यवसाय में लगे हैं। बाद में वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के लिए या ब्राह्मणवादी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जन्मना को ब्राह्मणों द्वारा लागू कर दिया गया जो कि ऋग्वैदिक काल के बाद से शुरू होता है। जन्मना वाले सिद्धांत को 'उपनयन संस्कार' में देख सकते हैं जो उनकी श्रेष्ठता का आधार है। शूद्र संस्कृति बड़ी प्रबल थी। शूद्रों की संस्कृति का जब विरोध किया गया तो ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को अपने में मिला लिया तब उसे द्विजकुल कहा गया। द्विजकुल का मतलब ब्राह्मण और क्षत्रिय का संयुक्त मोर्चा बनाया गया और कहा गया कि जनेऊ संस्कार केवल ब्राह्मणों की संतानों का नहीं बल्कि क्षत्रियों की संतानों का भी होगा लेकिन वैश्य और शूद्र का नहीं होगा। श्रेष्ठता का यही आधार है।

दूसरा आधार है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य जांघ से तथा शूद्र पैर से पैदा बताए गए। पुरुष के सबसे ऊँचे हिस्से से वे पैदा बताए गए इसलिए वे श्रेष्ठ हो गए। यानी इस तरह से पायदान बनाया गया। यह नैसर्गिक व्यवस्था नहीं है। बुद्ध ने इसका विरोध किया। बुद्ध ने जो समानता की बात की उससे वर्ण-व्यवस्था को बहुत क्षति पहुँची। इसलिए पुराण काल में बुद्ध के प्रभाव को खत्म करने के लिए उन्होंने अवतारवाद की कल्पना की। कृष्ण को लाकर खड़ा किया, क्योंकि कृष्ण के द्वारा सामंजस्य हो सकता था, राम के द्वारा वह संभव नहीं था। वे शुद्धतावादी आर्य के परम्परा के थे। आर्येतर परम्परा का सामंजस्य कृष्ण के द्वारा ही हो सकता था। इसलिए उनको सोलह कलाओं का पुनर्वतार कहा गया। राम को केवल बारह कलाओं का अवतार माना गया। यानी कलाओं में जो नृत्य है, गीत है, संगीत है वह शुद्धतावादी आर्यों की परम्परा में नहीं मिलेगा। इसका समाहार या तो कृष्ण के द्वारा हो सकता है या शिव के द्वारा। कृष्ण जो कि निचले तबके के लोकनायक थे, अपने ही लोक के विरुद्ध पुराणकारों ने उन्हें अपने पक्ष में झुका लिया तथा वर्ण-व्यवस्था पर हस्ताक्षर भी करा लिए। कृष्ण का झुकना हुआ, पुराणकारों को अपने पक्ष में मिला लेना। अवतारवाद में मैंने कृष्ण पर विस्तार से चर्चा की है।

प्रमोद कुमार शर्मा—सर, आज के सन्दर्भ को लेकर एक सवाल है। आज के विमर्शों में ईश्वर की सत्ता को नकार दिया गया है, जबकि भक्तिकाल के सारे कवि ईश्वरीय सत्ता में विश्वास रखते हैं तो क्या आज के इन विमर्शों से उस साहित्य को समझने में चूक हो सकती है?

चौथीराम यादव—भक्तिकाल के कवियों में देखेंगे जैसे कि कबीर हैं- 'दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' जिस ईश्वर को स्थापित किया गया है वह तो अवतारवाद के नाते किया गया है। कबीर उस अवतारवाद का विरोध करते हैं। नाथों, सिद्धों एवं निर्गुण निरंजन के ईश्वर से कबीर का ईश्वर मिलता-जुलता है। ईश्वर की बात वह भी करता है। इसलिए कई बार दलित लोग कबीर, रैदास को दलित साहित्य का नहीं मानते थे, क्योंकि वे ईश्वर की बात करते हैं। वे ईश्वर का नाम लेते हैं। लेकिन वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर का नाम ही उनके लिए काफ़ी है जो दलितों को भी प्रेरणा देता है। एक जमाने में ईश्वर का नाम लेने से हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदाय में राहत मिलती थी। वह एक प्रतीक था। क्या कारण है कि आज उसी ईश्वर का नाम लेने से एक समुदाय दहशत में आ जाता है। बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना से राम नाम लेने से या राम नाम का जो तांडव हुआ वह दहशत से भरा हुआ है। उस समय मुस्लिम समुदाय के सारे गायक रामवतारी, तांडवानी गाते थे। एक Composite culture का विकास हो रहा था। राम का जो रूप तुलसीदास तथा वाल्मीकि के रामायण में मिलेगा वही चरित्र या कथा प्राकृत, अपभ्रंश या दूसरी परम्परा में नहीं है। वहाँ वर्ण धर्म की रक्षा के लिए राम या कृष्ण अवतार नहीं लेते बल्कि वे दलितों और पिछड़ों के

साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं। भगवान सिंह का एक उपन्यास आया था 'अपने अपने राम' उसको पढ़ो तो लगेगा कि अपने-अपने राम हैं। राम के अनेक रूप हैं। जातक कथाओं में राम और सीता को भाई और बहन के रूप में चित्रित किया गया है। उनका अलग रूप होता है। कथाएँ अपने अनुकूल गढ़ी जाती हैं और अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए उस तरीके के तर्क गढ़े जाते हैं।

प्रमोद कुमार शर्मा—भक्ति आन्दोलन के समय का आर्थिक परिवर्तन क्या वास्तव में निम्न जातियों को सामाजिक रूप से मजबूत कर रहा था? जैसे रामविलास शर्मा, इरफान हबीब इत्यादि विद्वानों ने जिक्र किया है कि छोटे-छोटे बाजार स्थापित हुए। सड़कों का निर्माण होने लगा था। निम्न जातियों को काम मिलने लगा था और जब ये आर्थिक रूप से संपन्न हुई तो उनके अन्दर आत्मसम्मान का भाव या विद्रोही चेतना पनपने लगी। क्या इस बात से आप इत्तेफाक रखते हैं?

चौथीराम यादव—आर्थिक पक्ष उतना स्पष्ट नहीं है, उस पर अभी शोध होना बाकी है। मध्यकाल का जो आर्थिक इतिहास है वह उस रूप में सामने नहीं आया है लेकिन जो इरफान हबीब इत्यादि तमाम लोगों ने उद्धृत किया है उसके आर्थिक कारण तो होंगे। मूल कारण तो आर्थिक ही होता है। भक्ति साहित्य में रहट, बाजार इत्यादि की चर्चा है। आर्थिक विकास जब होगा तो उसके बाद विनिमय वितरण का भी रूप होगा। उसके साथ ही बाजार आएगा। उत्पादन करने वाली शक्तियों के द्वारा दलितों एवं पिछड़ों का शोषण भी होगा। अलाउद्दीन खिलजी लगभग पचास प्रतिशत मालगुजारी वसूलता था।

देशज आधुनिकता, देशी पूंजी, व्यावसायिक पूंजी या वित्तीय पूंजी ये सब आधुनिक पूंजीवाद के रूप में दिखाई पड़ती हैं जिससे नवजागरण का विकास हुआ। मध्यकाल में जिसको रामविलास शर्मा लोकजागरण कहते हैं, उसमें व्यावसायिक पूंजी का विकास हो रहा था।

पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में बंजारों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। बंजारे विनिमय करते थे। मेरे बचपन में हींग बेचने वाला अफगानी आता था। हींग देने के साल भर बाद आकर पैसे ले जाता था। यह व्यावसायिक पूंजी का प्रसार है। यह विनिमय वितरण का एक रूप है। सूरदास के यहाँ मिलता है 'आयौ घोष बड़ौ व्यापारी'। बंजारे अपना माल लादकर पशुओं के पीठ पर घूमते फिरते थे। स्त्रियों के लिए जो शृंगारिक प्रसाधन होते थे वे ही मुहैया कराते थे, एक प्रकार से बाजार और व्यावसायिक पूंजी का विकास हो रहा था। इस विकास के बाद एक आधुनिकता भी आई। पूंजीवाद आया तो बड़ा व्यापारी छोटे व्यापारियों का शोषण भी करेगा। उस समय का सबसे पुराना उद्योग वस्त्र उद्योग था। वस्त्र उद्योग, चर्म उद्योग से जुड़े हुए तमाम लोग भक्ति आन्दोलन में आए। रामविलास शर्मा ने कहा कि आगरा बहुत बड़ी मंडी थी। भक्ति आन्दोलन कांचीपुरम अर्थात् दक्षिण में पैदा हुआ। मदुरई से कांचीपुरम तक वस्त्र उद्योग का बड़ा केंद्र था। भक्ति आन्दोलन का प्रवर्तन उत्तर भारत में कबीर, रैदास ने काशी से किया। काशी वस्त्र उद्योग का बड़ा केंद्र था। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रिजवी के हवाले से कहा कि वहाँ से लेकर बंगाल तक एक धनुषाकार पट्टी में जुलाहों की बस्तियाँ कायम थीं। कबीर, रैदास, सेना, नाई या अब्दुलरहमान ये सभी लोग व्यवसाय से जुड़े हुए थे। इसलिए आर्थिक आधार भी एक कारण बनता है।

प्रमोद कुमार शर्मा—आज के समय में भक्ति साहित्य को किन मूल्यों के कारण याद किया जाएगा या हम महज मध्यकालीन दस्तावेज के रूप में याद करेंगे ?

चौथीराम यादव—उस साहित्य को आज भी याद किया जाता है। जैसे कबीर को ले तो।

कबीर को हम आज भी याद करते हैं। जनवादी भी याद करते हैं, प्रगतिशील लेखक भी याद करते हैं और आज का दलित आन्दोलन भी उन्हें याद करता है। मध्यकाल में ब्राह्मणवाद, जातिवाद के खिलाफ संघर्ष करने वाले कबीर अकेले हैं। प्रगतिशील और जनवादी आन्दोलन भी कबीर से जुड़ते हैं क्योंकि ये भी ब्राह्मणवाद, जातिवाद का विरोध करते थे और एक सांस्कृतिक जनवाद की अवधारणा सामासिक संस्कृति का विकास चाहते थे। साम्प्रदायिकता के खिलाफ कबीर से ज्यादा किसने लिखा है। हिन्दू-मुस्लिम दो समुदाय उस समय आमने-सामने थे और उनकी साम्प्रदायिकता पर इतने कड़े प्रहार करना और फिर भी जिन्दा बच जाना अदम्य साहस का काम था। भीष्म साहनी ने क्यों लिखा 'कबीर खड़ा बाजार में' ? भीष्म साहनी साम्प्रदायिक फासीवाद का चेहरा भारत-पाकिस्तान विभाजन में देख चुके थे। साम्प्रदायिकता के खिलाफ जब उनको नाटक लिखना हुआ तो कबीर याद आए। मुक्तिबोध के 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' में एक लेख है 'भक्ति आन्दोलन के विविध पहलू'। वे नई कविता के शिल्प, विषय वस्तु, भाषा, शैली पर विचार कर रहे हैं—अचानक उनको मध्यकाल क्यों याद आता है ? और लेख के केंद्र में कबीर हैं। क्यों मुक्तिबोध को कबीर याद आते हैं ? क्योंकि मुक्तिबोध जब लिखते हैं कि-

*'अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सारे।'*

तो कबीर 600 साल पहले मठ और गढ़ को तोड़ चुके थे। गढ़ों का मतलब सामंतवाद और मठों का मतलब पुरोहितवाद। सामंतवाद और पुरोहितवाद के खिलाफ मुक्तिबोध के पहले कबीर लड़ चुके थे। हिन्दू-मुस्लिम दोनों समुदाय के कट्टरपंथियों को नाराज कर चुके थे। वह साहस का काम था। जिन्दा कैसे बच गए आश्चर्य की बात है। कबीर, मुक्तिबोध, भीष्म साहनी जैसे प्रतिष्ठित लेखक याद आते हैं तो जाहिर है कि कबीर चुका हुआ लेखक नहीं है। इसलिए जब भक्ति आन्दोलन की बात करते हैं तो पूरे भक्ति साहित्य में तुलसी की अपेक्षा कबीर ज्यादा प्रासंगिक लगते हैं। जो अपने समय-समाज की समस्याओं से सीधे टकराते हैं। तुलसीदास भागते हैं 'नाना पुराण निगमागम' की शरण लेते हैं। अपने समय-समाज तथा कबीर के प्रश्नों का उत्तर उनके यहाँ नहीं है। वे पुराणों के बीच भागते हैं। नागार्जुन ने कहा कि-

*जनता मुझसे पूछ रही है क्या बतलाऊँ।
जन कवि हूँ साफ़ कहूँगा क्यों हकलाऊँ।*

जो जनता का कवि होता है वह साफ़-साफ़ कहता है। तुलसीदास जनता के सवालों पर, जाति-पाँति, छुआछूत इत्यादि के सवालों पर हकलाने लगते हैं और नाना पुराण निगमागम की साक्षी लेकर आते हैं। कबीर उसका प्रतिरोध करते हैं। नामवर जी ने नागार्जुन को आधुनिक कबीर कहा तो कबीर नागार्जुन, मुक्तिबोध, भीष्म साहनी इत्यादि तक फैले हुए हैं। वे सारे प्रगतिशील आन्दोलन, जनवादी आन्दोलन और आज के दलित आन्दोलन को भी प्रभावित कर रहे हैं। इसलिए मध्यकाल का पूरा नहीं लेकिन जो कबीर का मामला है वह सांस्कृतिक जनवाद के निर्माण का है। अपने सांस्कृतिक जनवाद के कीमती विरासत के साथ कबीर न केवल आधुनिक दिखाई पड़ते हैं बल्कि आज के लेखकों के समसामयिक भी हैं। मध्यकाल की ये विशेषता है।

प्रमोद कुमार शर्मा—धन्यवाद सर।

प्रमोद कुमार शर्मा शोध छात्र, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद, मो.- 09492425246,
चौथी राम यादव, एन-13/209, जे-6, वृज एन्क्लेव, सुन्दरपुर, वाराणसी-221005, मो.- 09415989793

बहस

बहस के लिए ज़रूरी है अध्ययन, अनुभव और स्तर

प्रदीप सक्सेना

जनवरी-दिसम्बर-2013 के 'पक्षधर' में संपादक श्री विनोद तिवारी ने एक विस्तृत लेख प्रकाशित किया है, श्री रवि श्रीवास्तव का, "लाज़िम नहीं कि खिन्न की हम पैरवी करें।"¹

अपने संपादकीय में श्री तिवारी ने वर्तमान समय की अलोचना के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं कि-

"हिन्दी-आलोचना को लेकर इधर बराबर यह सन्देह प्रकट किया गया है और किया जा रहा है कि वह लगातार कमज़ोर, लचर, सतही, असम्वादी और अविश्वसनीय हुई है। आलोचना ने अपनी साख गँवाई है। उसकी विश्वसनीयता का दायरा कमतर हुआ है। हिन्दी आलोचना में यह निराशा का दौर है।"²

लगता है, संपादक महोदय ने उपर्युक्त चिन्ताओं के प्रमाण रूप में रवि बाबू के लेख को तो प्रकाशित नहीं किया। बहुत सम्भव है। क्योंकि उस लेख से इन सभी संदेहों और चिन्ताओं की पुष्टि होती है। यह बात मेरा सन्देह भी हो सकती है, अतः मैं चाहूँगा कि पाठक यह निर्णय स्वयं करें, या इस निर्णय की तर्कों और प्रमाणों के प्रकाश में छानबीन करें। आने वाले पृष्ठों में प्रस्तुत सामग्री से उन्हें सहायता मिल सकती है। **रेखांकन सभी मेरे होंगे।** कोशिश होगी कि पाठक, **व्यक्तिगत विद्वेष का समानधर्मा उत्तर यहाँ नहीं पायेंगे** और मुद्दों और तथ्यों से, उनके प्रस्तुतीकरण और विश्लेषणों से अपने निष्कर्षों को समृद्ध कर सकेंगे। वैज्ञानिक प्रतिवाद की शिक्षा हमें मार्क्स और मार्क्सवाद दोनों से ही प्राप्त होती है।

क्या रवि बाबू का आलेख व्यक्तिगत विद्वेष का आदर्श रूप प्रस्तुत करता है? ऐसे में मुद्दे केवल इति सिद्धम का रूप नहीं लेते क्या? तथा इससे कैसी प्रतिक्रियात्मक पद्धति जन्म लेती है जो प्रतिक्रिया की सेवा ही करती है, या नहीं? इन प्रश्नों का स्वतः निवारण हो जायेगा। पूरे लेख के केन्द्र में मैं हूँ—प्रो. प्रदीप सक्सेना, जो लेखक का आभारी है कि उन्होंने चरित्र हनन को आलोचना का नाम देते हुए, ध्वंस के लिए ही सही, मुझे विश्लेषण के केन्द्र में रखा।

बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा? मैं शुक्रगुज़ार हूँ कि इतने विशेषण एक साथ एक लेख में मुझे प्राप्त हुए। 'पक्षधर' के 129 से 163 पृष्ठों के बीच ये विशेषण व्यंजना शक्ति, कटूक्तियों, 'फ्रब्तियों', 'उपाधियों', 'सूक्तियों' और 'सादृश्यों' के रूप में मुद्दों को ढँक लेते हैं। देखें मैंने पिछले 10-15 वर्षों में, विशेषकर 2012 में—

“युगान्तरकारी लेखन किया है...अप्रतिम शैली विकसित की है...रामविलास शर्मा पर आरोप पत्र तैयार किया है...हल्ला बोल दिया है...प्रदीप जी फ़रमाते हैं, चोर नारि जिमि प्रकट न रोई...उन रास्तों पर भी फ़रटा दौड़ लगाते दिखायी देंगे जहाँ समझदार लोग पाँव रखते घबराते हैं...यह प्रदीप जी का अपना झूठा-सच है। प्रदीप सक्सेना की हेकड़ी समझ में आती है।...ऐसा अडिग आत्म विश्वास इस कलियुग में दुर्लभ है...उनका इतिहास बोध उनके अंधे आत्म विश्वास का सगा भाई है।...यहाँ भी प्रदीप जी ने काफ़ी दीदा दिलेरी दिखायी है।...

प्रदीप जी की स्थिति रूसी नाटककार फ़ौनविसिन के 'द ब्रिगेडियर' के नायक इवानूस्का जैसी है...बौद्धिक काहिली...ठगविधा...लहना सिंही...दुःसाहसी...फेनिल बौद्धिकता...लीक छोड़ तीनों चलें शायर सिंह सपूत!...ब्रलड जॉकजिभि वक्रगति...कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना...गिरहबाज़...परम बुद्ध...अदने से अदने...घटिया बौद्धिक गोताखोर...मीडिया कर...” वगैरह

एक ही लेख में इतने विशेषणों से उपकृत करना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि विद्वान मित्र का उद्देश्य बहस चलाना है ही नहीं, मुझ जैसे नकली और फर्जी और रामलिलास शर्मा द्रोही को सबक सिखाना है। इसे हम व्यक्तिवादी आलोचना के अन्तर्गत ही ग्रहण कर सकेंगे। हिन्दी-आलोचना ऐसे विषम ज्वर से ग्रस्त चल ही रही है। चाहे वह सामान्य आलोचना हो, खेमे की हो, या तथाकथित वाम!

उपर्युक्त विशेषणों का पूँजी-संचय, श्री तिवारी द्वारा संकेतित आलोचना-परिदृश्य के लिए अनिवार्य है। इनके प्रत्युत्तर में हमें उसी स्तर पर नहीं उतरना होगा। इसकी जगह हम मुद्दों और सिद्धान्त संबंधी 'आधार कार्ड' की समीक्षा करना चाहेंगे तथा उन प्रमाणों की छानबीन और तथ्यों का एकसरे पेश करना चाहेंगे, जिससे 'पक्षधर' के पाठक उस वायरस से बच सकें जिसका उद्देश्य स्वस्थ आलोचना को ग्रस लेना है। सबसे पहले प्रमाण और तथ्यों की छानबीन!

रवि बाबू ने इस वायरस के लिए मेरे 2000 से लेकर 2012 तक के 3-4 लेखों को केंद्र में रखा है—“इससे पहले दिल्ली से प्रकाशित 'आलोचना' अप्रैल-जून, 2001 में 'मार्क्सवादी आलोचना और रामविलास शर्मा के मूल्यांकन की समस्याएँ', 'अप्रैल-जून, 2010 की 'आलोचना' में प्रकाशित '1857 : रूसी अध्ययनों और कथनों से परे' तथा 'पहल' अप्रैल-जून 2000 में प्रकाशित 'अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है?' आदि अपने लेखों में श्री प्रदीप सक्सेना ने डॉ. रामविलास शर्मा और उनके तथाकथित 'स्कूल' के 'पूजकों' को बिना नाम लिये 'चोर नारि जिमि प्रकट न रोई' वाली मुद्रा में पानी पी-पी कर कोसा है। इसी तरह 'उद्भावना' नवम्बर-दिसम्बर, 2012 के रामलिलास शर्मा महाविशेषांक के अपने संपादकीय में भी उन्होंने रामविलास शर्मा पर केन्द्रित बहस की जड़ों में मार्क्सवाद का काफ़ी मट्ठा डाला है।...इन आरोपों में धुआँ अधिक है तत्त्व कम।”³

और लेख पाठकों के पास या उनके ध्यान में नहीं भी हो सकते हैं, 10-15 साल पुराने हैं। लेकिन रामविलास शर्मा महाविशेषांक की खुशबू अभी हवा में है। उसके सज़िल्लद संस्करण की समीक्षाएँ भी अभी आ रही हैं। हाल ही में 'वागर्थ' में रुस्तम राय ने उस पर लिखा है।⁴

अतः उचित होगा कि पाठक देखें कि 724 पृष्ठों के इस महाविशेषांक में मैंने मार्क्सवाद

का कैसा और कितना मट्ठा डाला है? इस अंक को तैयार करने से पहले यानी रामविलास शर्मा पर महान बहस संगठित करने से पहले हमने अपनी समझ को स्पष्ट कर दिया था और कई पत्र-पत्रिकाओं में एक सर्कुलर भेजा था। यह पूरा सर्कुलर 'उद्भावना' के 'अज्ञेय' अंक में सुरक्षित है।⁵

इसमें मैंने कहा है—“2012 डॉ. रामविलास शर्मा की जन्मशती पर उनका यह महनीय सन्देश हमारी प्रेरणा है कि “मुझे बिल्कुल याद न किया जाए, इसके बजाय, मैं जिन समस्याओं को हल करने में लगा रहा या जिन प्रश्नों पर सोचता विचारता रहा, उन्हें याद किया जाये।”⁶

हमारी लाइन उसमें बिल्कुल स्पष्ट थी: “1985 से लेकर आज तक डॉ. रामविलास के बहुआयामी ऐतिहासिक योगदान की मैं समय-समय पर अनेकायामी मंचों पर स्मरण करता रहा हूँ। अक्सर उनके प्रति अपने अलोचनात्मक रुख के साथ। पिछले वर्षों से हिन्दी में आलोचना, चिन्तन या इतिहास-लेखन के स्वास्थ्य के लिए हमने आलोचनात्मक आदर को तरज़ीह दी है। यानी हम किसी व्यक्ति का आदर इसी को समझते हैं कि उसके योगदान पर पुनः काम किया जाये और अधिकाधिक विचार-विमर्श हो। उसे अन्य अनुशासनों और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों के बीच रखकर देखा-परखा जाये। यह न ध्वंसन है, न मूर्ति भंजन। यह है, वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा और संस्थापना। व्यक्तिगत राग-द्वेष से परे। इससे हिन्दी आलोचना का अजीर्ण कुछ कम होगा। मुद्दों और कर्तव्यों का ज्ञान बढ़ेगा।”⁷

पाठक बतायें, इसमें रवि बाबू का कौन-सा विशेषण सही बैठता है? अंक को मैंने उपर्युक्त सर्कुलर के आलोक में तैयार किया था। सर्कुलर की तरह ही मैंने 2012 में ही प्रकाशित प्रख्यात आलोचक मधुरेश पर संपादित अपनी पुस्तक “आलोचना सदैव एक संभावना है” की भूमिका में यह स्पष्ट कहा था—“यह कितना सुखद संयोग है कि 2012 डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म-शताब्दी वर्ष है। इस वर्ष में, मार्क्सवाद और हिन्दी-कथा आलोचना के स्वस्थ उदाहरण के रूप में, मधुरेश जी पर यह ‘मूल्यांकन-प्रस्तुति’ तैयार करते हुए मैं निरन्तर डॉ. शर्मा की साधना, संघर्ष और मार्क्सवाद में अटूट आस्था का स्मरण करता रहा हूँ। ये तीनों चीज़ें न केवल मेरी प्रेरणाएँ रही हैं, मेरी नज़र में बुद्धि-जीवी जगत के असाध्य हो चले रोगों का निदान भी हैं।”⁸

इन पंक्तियों में रवि बाबू का कौन-सा विशेषण फिट हो रहा है? ये पंक्तियाँ भी 2012 की ही हैं और प्रदीप सक्सेना की ही हैं। अब हम उस संपादकीय को किंचित विस्तार से उद्धृत करेंगे क्योंकि उसे रवि बाबू ने जड़ों में मट्ठा डालने वाला सिद्ध किया है।⁹ विस्तार से जिस पर आक्रमण किया है। इस संपादकीय को मैंने बाक्रायदे एक शीर्षक देकर लिखा था—“जबकि जनशत्रु अधिकाधिक संगठित हो रहे हैं...प्रतिरोध ही सौन्दर्य है।”¹⁰

डॉ. शर्मा के समस्त लेखन, चिन्तन, आलोचना आदि का सार मुझे इसी शीर्षक में सुरक्षित प्रतीत हुआ। ‘प्रतिरोध ही सौन्दर्य है’ को रामविलास शर्मा के परम प्रेमी और मेरे सम्माननीय अग्रज कवि विजेन्द्र ने बहुत ही मौजूं पाया। उन्हें यह शीर्षक इतना सटीक प्रतीत हुआ कि उन्होंने मुझे इसी शीर्षक के तहत ‘कृति ओर’ में रामविलास शर्मा पर एक लेखमाला लिखने को कहा। एक पत्र में एक लेखे सैद्धान्तिक रूप से-इसी पर केन्द्रित-लिखने को कहा। इस शीर्षक को मित्रों ने ‘केवल जलती मशाल’ से बेहतर पाया। यह बहुत प्रिय मुझे भी था क्योंकि मैंने इसे जर्मन सौन्दर्य शास्त्री पीटर वाइस के ग्रंथ ‘ऐस्थेटिक्स ऑफ़ रेसिस्टेंस’ की मूल आत्मा से अभिप्रेरित होकर तैयार किया था लेकिन रवि बाबू ने इसे नज़रसानी करने लायक भी नहीं पया। यह तीसरा ग्रंथ था जो मैंने रामविलास शर्मा को समर्पित किया था। इस बात को भी उन्होंने ध्यान देने लायक नहीं समझा—लेकिन पाठक मुझे यह बतायेंगे ऐसे कितने उदाहरण

हैं कि एक ही व्यक्ति ने रामविलास शर्मा को अपने 3 ग्रंथ समर्पित किये हैं? चतुराई और चालाकी इसमें क्या है? कहाँ पर है? लोग तो ऐसे व्यक्तियों को समर्पित करते हैं ग्रंथ जिनसे नौकरी, या यश, यात्रा या 'अन्य' सुख प्राप्त हों। मैंने तो रामविलास जी को समर्पित करके कोई लाभ नहीं लिया। जबकि किसी ऐसे को भी समर्पित कर सकता था जो 10-20 हजार का पुरस्कार तो फँसवा ही सकता था। मैं तो किसी ऐसी को एक कप चाय का भी गुनहगार नहीं हूँ। संपादकीय के दूसरे पैसे में ही मैंने लिखा था—

“यह तीसरा ग्रंथ है जो मैंने डॉ. रामविलास शर्मा को समर्पित किया है। 1992 में ‘पहल’ प्रकाशित हुआ था, 2012 में पुनः प्रकट हुई। लेकिन इस बीच प्रगाढ़ता में कोई कमी नहीं आयी; उस सब आलोचनात्मक सामग्री से, जो मैंने इन वर्षों में रामविलास शर्मा के विविध पक्षों के विरुद्ध प्रस्तुत की थी।”¹¹

सर्कुलर में भी यही बात थी। यानी आलोचनात्मक आदर देने की बात कही थी। यह बात मैं पिछले 35 वर्षों से कहता रहा हूँ। साफ़-साफ़ लफ़्जों में। क्योंकि मेरी यह समझ है—“बल्कि जितना मैं उनका आलोचनात्मक अवगाहन करता जाता हूँ, उतनी ही यह प्रगाढ़ता बढ़ती जाती है। आदर का विलयन उतना ही सान्द्र होता जाता है।”¹²

क्या यह कोई अन्तर्विरोध है? तो कितना सुन्दर अन्तर्विरोध है। यह ज्ञान के द्वन्द्ववाद का स्वाभाविक परिणाम है। लेकिन मेरे स्पष्ट मत में “इसे राग-द्वेष से सने हुए मस्तिष्क न समझ सकते हैं, न ही पसन्द कर सकते हैं।”¹³

क्यों? “क्योंकि ये मस्तिष्क अन्तर्विरोध जैसे महान मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धान्त को ठीक से ग्रहण नहीं कर सके हैं। और प्रतिमा-पूजन या प्रतिमा-भंजन, स्थापना या उच्छेदन, आकाश या पाताल, गोरा या काला, देवता या राक्षस-यानी उनके सोचने की दुनिया द्वित्वों की दुनिया है—न कि द्वन्द्वात्मकता की।”¹⁴

अतः इस समाज का अनिवार्य परिणाम—‘रामविलास शर्मा की पूजा करो’ या ‘रामविलास शर्मा मार्क्सवाद विरोधी हैं—हिन्दुत्व प्रेमी हैं इसे मानो!’ मेरा मत था—“अवश्य ही हमें इस द्वित्व में से किसी भी एक को चुनने के जाल में नहीं फँसना चाहिए और जैसा मार्क्सवाद सिखाता है, रामविलास शर्मा को भी एक मनुष्य मानते हुए, इतिहास में उनके योगदान को स्वीकारते हुए, उन आग्रहों और सीमाओं की भी चर्चा करनी चाहिए जिससे संगठन और आन्दोलन दोनों को नुकसान पहुँचा है और पहुँचता रहेगा, जब तक कि हम प्रतिष्ठा और ध्वंस का, जनशत्रुओं का खेल खेलते रहेंगे।”¹⁵

बस यही गुनाह किया कि साफ़ कहा! यह हो सकता है कि विद्वान मित्र ऐसा मानते हों कि रामविलास शर्मा आग्रहों और सीमाओं से मुक्त थे। और हम ऐसा नहीं मान पाये हों, यह बहुत सम्भव है। ऐसा मैंने 1985 से ही कहा है। यह एक समझ है और गलत हो सकती है लेकिन यह किसी सस्ते यश की कामना की उपज नहीं है। मैंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि मैं रामविलास शर्मा से किस रूप से प्रभावित हुआ! 1975 में मैं उनके सम्पर्क में आ चुका था मैंने लिखा था। कि “उनके अनेक रूपों से अनेक तरह के लोग प्रभावित रहे हैं। साधना से। संघर्ष से। मैं प्रभावित हूँ उनके मिशनरी रूप से। सैन्य मानस से। साधना से।”¹⁶

मैंने अपने कर्ममय जीवन की, संघर्ष मय जीवन की, विचारधारात्मक जीवन की प्रेरणास्रोत के रूप में खुली घोषणा की—उसी सम्पादकीय में कि मैं पिछले 37 वर्षों से संगठनों और विचार की सेवा में उसी उत्ताप से लगा हुआ हूँ, जिसकी बुनियाद 1975 में मज़बूत हो चुकी थी।¹⁷

यानी कि जब मैं शर्मा जी के सम्पर्क में आ चुका था। लेकिन मैं संगठनों और पार्टी-मंचों

से होता हुआ आया था। मैंने शर्मा जी के सबसे प्रेरणास्पद पक्ष को उद्घाटित और स्वीकार करते हुए लिखा था कि उनका यह रूप था—‘बिना लाभ-लोभ के मार्क्सवाद की सेवा! अत्यन्त प्रेरक यही रूप उनका मेरी नज़र में सर्वाधिक मूल्यवान है। प्रेरक है। प्रासंगिक है और प्रतिष्ठा योग्य है।’¹⁸

वहाँ यह भी दर्ज़ है—‘उनका घोर और अनवरत साम्राज्यवाद विरोधी रूप मेरा आराध्य है। विशेष रूप से अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध होना।’¹⁹

इसके प्रमाण के लिए मैंने ‘पूर्वग्रह’ और अशोक वाजपेयी को लिखा। 4-9-86 का शर्मा जी का पत्र भी उद्धृत किया है। उसी संपादकीय उपशीर्षक ‘क्योंकि दुनिया पर खिंची तलवार है’ के अन्तर्गत मैंने यह भी आह्वान किया था कि ‘जो भी रामविलास शर्मा के इस साम्राज्यवाद विरोधी अभियान में शरीक होगा, मैं उसे हर सम्भव मदद पहुँचाऊँगा।’ और पहुँचायी पूरे 2012-13 के वर्ष के दौरान!

लेकिन रवि बाबू इन सब चीज़ों को नहीं उद्धृत करते। केवल ‘मतलब की बात’ में नाकारात्मक लक्ष्य सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं। चरित्र हनन भी आगे बढ़ने की तकनीक जो है आजकल! विस्तार से दूसरे उपशीर्षक ‘विरासत के प्रति आलोचनात्मक रुख ही प्रगति के विचार को विस्तार देता है’ में मैंने अपनी समझ को शीर्षक से ही ज़ाहिर कर दिया था और अपने मतभेद के बिन्दु भी स्पष्ट किए थे। इसे अगले पृष्ठों में स्पष्ट किया जायेगा। फिलहाल रामविलास जी के क्रद के मुताबिक, उनकी बहुज्ञ छवि की माँग के अनुसार, बहुआयामिता तथा साधना के विविध क्षेत्रों को ध्यान में रखते हुए मैंने महाविशेषांक में ये 3 संकल्प व्यक्त किये ताकि उनकी प्रतिमा के साथ न्याय किया जा सके—

- एक, यानी सबसे पहले यह कि बहस बड़े पैमाने पर प्रतिनिधि सामग्री से संगठित होगी। इस दृष्टि से पूर्व प्रकाशित सामग्री का कोई उपयोग नहीं किया जाए। ताज़ा तरीन सामग्री को ही जगह दी जायेगी। कोई भी बासी विचार या माल चमकाकर नहीं रखा जायेगा। साक्षात्कार-सामग्री भी 1-2 महीने से अधिक पहले की नहीं होगी। साक्षात्कार वगैरह सब कुछ ताज़ा तरीन।
- दो, व्यक्तिगत संस्मरणों, फिज़ूल के विवरणों, आग्रहों और हिसाब-किताब साफ़ करने वाली सामग्री से बचा जायेगा। सिर्फ़ इश्यूज पर केन्द्रित किया जायेगा जैसा कि रामविलास शर्मा चाहते थे। सभी प्रकार के वाम दलों, समूहों और व्यक्तियों से आग्रह किया जायेगा, यानी ‘व्यापक वाम की दृष्टि’ से इस अभियान को संगठित करना है क्योंकि भविष्य संकट पूर्ण होगा अगर मौजूद संकीर्णताओं पर विजय नहीं पायी गयी। अपने-अपने क्षेत्र के पेशेवर लोगों से लिखवाया जायेगा ताकि ‘रिकॉग्निशन’ में ठोस कदम उठाये जा सकें। युवा प्रतिभाएँ अपना मत रखें। आयुभेद की कोई श्रेणी नहीं। सभी को पर्याप्त समय न्यूनतम 6 माह दिया जायेगा और विषय पर केन्द्रित करना होगा। सैन्य अनुशासन रहेगा। पृष्ठों का बन्धन नहीं। जिसको जितने स्पेस में अपनी बात कह पाने का सन्तोष हो, दिया जायेगा। नयी पीढ़ी की रौशनी में भी देखा जायेगा रामविलास जी को।
- तीन, सभी भौतिक साधनों की सहायता भी प्रदान की जायेगी क्योंकि यह रचनाकार का नहीं आलोचक-चिन्तक का मामला था। पुस्तकें, मूल दस्तावेज़, फोटो स्टेट प्रतियाँ, तथा अन्य सामग्री मुहैया करायी जाएँगी जो भी मन से श्रम करने को तैयार होगा। क्योंकि मैं उनके अंग्रेज़ी-लेखन पर एक पूरा खण्ड-चाहता था, जो अब तक उपेक्षित रहा है और जिस क्षेत्र में उनकी प्रतिमा मेरी दृष्टि में विश्व मनीषा को टक्कर देती

अत्यन्त भास्वर थी। उनकी प्रतिमा, उनका श्रम, अध्ययन, दृष्टि, तर्क, पद्धति, निष्कर्ष जहाँ मुझे मोहित किये हुए हैं। मानक मार्क्सवादी आलोचना के रूप में। यह भी उनकी स्त्री-दृष्टि और मार्क्सवाद पर हमारे स्त्री-चिन्तक भी विचार करें। अलग से। और आलोचना स्फटिक हो उठे। पारदर्शी।”²⁰

एक पैरा, अन्तिम पैरा और पढ़ने की ज़हमत ग़वारा करेंगे पाठक वृन्द—“आलोचक, कवि, चिन्तक, इतिहासकार, समाज-विज्ञानी, भाषा-विज्ञानी, राजनीतिक, अनुवादक चिन्तक, अर्थशास्त्री, संस्कृतिविद्, नाटककार, संगीत-दर्शन में रुचि रखने वाले, सौन्दर्यशास्त्री और मार्क्सवाद को विकसित करने वाले रामविलास शर्मा की बहुआयामी प्रतिभा पर विचार सामग्री है यहाँ।...ऋग्वेद, शेक्सपीयर, तुलसीदास, साम्राज्यवादी, किसान-चेतना, काव्यत्व, काव्यशास्त्र, 1857 भाषा और समाज, प्रगतिशील लेखक संघ, आन्दोलन और हिन्दी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला और प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल, केदार के साथ ही सैद्धान्तिक पक्षों में आधुनिकता, हिन्दी ~~की~~ और हस्तक्षेप-II दिये गये हैं। यानी रामविलास शर्मा के ज्ञान-ज्वार के मोतियों की परख यहाँ है।”²¹

अब पाठक यह निर्णय करें कि रवि बाबू का यह कथन कितना वस्तुनिष्ठ है कि “मैंने यहाँ ‘चोर नारि’ का काम किया है? तथा उनका यह विद्वेष मूलक वक्तव्य कि ‘उद्भावना नम्बर-दिसम्बर 2012 के रामविलास शर्मा महाविशेषांक के अपने ‘संपादकीय’ में भी उन्होंने रामविलास शर्मा पर केन्द्रित बहस की जड़ों में मार्क्सवाद का काफ़ी मट्ठा डाला है।”²²

तथा यह कहना कहाँ तक तर्कसंगत है कि “इतने असन्तोष के बावजूद उन्हें यह लगता है कि रामविलास शर्मा हमारे शिखर आलोचक हैं और कोई शिखर पर यों ही नहीं पहुँच जाता। इसके पीछे उनकी साधना, पारदर्शी दृष्टि, सूचना-सामग्री, विश्लेषण क्षमता और वाम निष्ठा जैसे कितने ही आयाम होते हैं। इतने जघन्य अपराध और लामुहाला प्रशंसा के ये शब्द! किसी बलिदानी से कहीं बड़ा बलिदान!”²³

इस व्यंग्य का क्या औचित्य! क्या रामविलास शर्मा की महानता ‘गैंग ऑफ़ फोर’ का पेटेन्ट है या वह निषिद्ध क्षेत्र है जहाँ हर उसका प्रवेश वर्जित रहेगा जो आपसे सहमत नहीं है? हम इसे आलोचना के स्वस्थ विकास के लिए अनपेक्षित समझते हैं। स्वयं रवि बाबू ने हिन्दी जाति पर विस्तार से लिखा था। उस अंक में यह भी क्या मट्ठा था?

× × × × × × ×

दरअसल, जितना ही रवि बाबू यह दोहराते हैं कि रिमार्क का रास्ता पतन का रास्ता है उतना ही वे इस पथ के पथिक बनते जाते हैं।

उनके मस्तिष्क में यह बात जमी हुई है कि रामविलास जी तो बेचारे सैद्धान्तिक चर्चा कर रहे थे और शेष लोग उनको घेर कर हमला कर रहे थे। और हमलों की वे निरन्तरता भी पाते हैं। यानी लगभग 60-65 साल से यह हमला जारी है और अब रवि बाबू अपने स्वनिर्मित आग्नेयास्त्र से इन हमलावरों से रामविलास जी को बचा रहे हैं। ये हमलावर कौन हैं? और क्या है इनमें तालमेल? पाठक देखें :

“सर्वविसर्जन और रामविलास शर्मा की ‘कुत्सित समाजशास्त्रीय’ आलोचना—पद्धति से हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना की छुट्टी के लिए कुछ भूतपूर्व एवं कुछ अभूतपूर्व मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने एक बार फिर अपना अलग ‘पोलित ब्यूरो’ खोल रखा है। पहले उसकी अगुवाई अमृतराय, शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव आदि ने की थी। आज रामविलास शर्मा की भ्रष्ट पद्धति एवं प्रकृति से मुक्ताबले के लिए नामवर जी की अगुवाई में वागीश शुक्ल, वीरभारत तलवार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रदीप सक्सेना आदि की नयी संयुक्त मोर्चा सरकार ने बड़े-बड़े प्रस्ताव

पारित किये हैं। दिल्ली से प्रकाशित त्रैमासिक 'आलोचना' उनके विचारों का साझा मंच है। यानी शेख-बरहमन साथ-साथ।'²⁴

जब यह बात तय हो गई कि 'एक पोलित ब्यूरो और संयुक्त मोर्चा सरकार' रामविलास जी के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर रही है और हमलावर है तो रवि बाबू ठीक ही अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। इस संयुक्त मोर्चा में आगे चलकर शिव कुमार मिश्र, विश्वनाथ त्रिपाठी और मैनेजर पाण्डेय तक शामिल हो जाते हैं।²⁵

अब कौन बचा? मुझ पर उनका कोप इसलिए अधिक है, क्योंकि जो काम 2001 में 'आलोचना' ने किया था, वही काम 2012 में 'उद्भावना' के माध्यम से मैं कर रहा हूँ। और उस महाविशेषांक का संपादक मैंने किया है। नामवरजी के साथ काम करने का यही संयोग और प्रमाण है कि उस अंक में मैं लेखक था यहाँ मैं संपादक हूँ। वहाँ मेरा योगदान एक लेख का था—'मार्क्सवादी आलोचना और रामविलास शर्मा के मूल्यांकन की समस्याएँ।'²⁶

अधिक से अधिक यही अपराध बनता है कि मैंने 'आलोचना' के इस षड्यन्त्र में हिस्सा लिया और हमला किया। लेकिन अगर उस अंक में लिखने मात्र से ही मैं पोलित ब्यूरो में पहुँच गया तो उसमें रामविलास जी के सेनापतियों की भी मौजूदगी है। सर्वश्री भाई अजय तिवारी, भाई राजेन्द्र कुमार जी, भाई शंभूनाथ जी, पी.एन. सिंह जी, सम्माननीय पूरन चन्द्र जोशी जी और खगेन्द्र ठाकुर जी भी।²⁷

रवि बाबू ने इन सबको गुनहगार क्यों नहीं माना? ये सब 'शव साधना' अंक में क्या कर रहे थे? ये क्यों उसके अंग बने? क्यों इन्होंने उस 'गन्दे संयुक्त मोर्चे' को बल प्रदान किया? केवल मुझ पर कृपा करने का विचार क्यों आया रवि बाबू को? क्या यही ईमानदार आलोचना है? प्रगतिशील लेखक संघ के प्रतिनिधि श्री वीरेन्द्र यादव क्या नहीं हैं वहाँ? उनको रामविलास शर्मा स्कूल के दूसरे आचार्य ने 'श्वान पुत्र' कह कर सम्बोधित किया। रवि बाबू उनके अभिन्न मित्र हैं। उन मित्र की तुलना में रवि बाबू ने यह मेहरबानी जरूर की है कि रिमार्क्स के साथ खुली मोहल्ला-गलियों से मुझे बख्श दिया है। मैं इसके प्रति उनका आभार व्यक्त करता हूँ। कहना न होगा आजकल हम ऐसे उदाहरणों से बहुत समृद्ध हैं कि समस्त प्रगतिशील, जनवादी, क्रान्तिकारी मार्क्सवादी, एक ही दर्शन, दल और संघों के साथी एक-दूसरे पर तो हमला करने में पूरे ओज और प्रतिभा का प्रदर्शन करते हैं, एक-दूसरे को भुस भर सकते हैं या देह चीरकर नमक भर सकते हैं; लेकिन व्यवस्था के खिलाफ, हिन्दुत्ववाद के खिलाफ कैसा चुप धारण करते हैं! रवि बाबू को उस संपादकीय में मुझ पर आक्रमण करने के लिए 3 पृष्ठ निकल आये लेकिन 'शंकर शरण' के खिलाफ उनकी लेखनी 3 शब्द भी नहीं टपका सकी!²⁸

शायद इसका कारण वाम मित्रों की यह समझ है कि पहले घर के दुश्मन से निपटा जाये! व्यवस्था को तो वे जब चाहें चुटकियों में मसल डालेंगे। और साम्राज्यवाद तो कागज का शेर है; हिन्दुत्ववादी और फासिस्टवादी ताकतों तो खौफ ही क्या, असल लड़ाई तो विचार-बन्धुओं से है, लिहाजा पहले इनका इलाज किया जाये! और ध्यान रहे, सबसे बड़े दुश्मन ये विचार बन्धु ही हैं। अमृतराय, यशपाल, प्रकाशचंद्र गुप्त, शिवदान सिंह चौहान, राहुल सांकृत्यायन, मुक्तिबोध, नामवर सिंह, वीर भारत तलवार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, प्रदीप सक्सेना तक सब षड्यन्त्रकारी प्रतिक्रियावादी हैं। और शंकर शरण, हृदय नारायण दीक्षित, तरुण विजय ये सब भाई हैं। शिव कुमार मिश्र, मैनेजर पाण्डेय और विश्वनाथ त्रिपाठी वहाँ तक ही ठीक हैं, जहाँ तक वे शर्मा जी की लाइन पर चलते हैं। यह रवि बाबू की समझ रही है।

सवाल है, कि शंकर शरण ने शर्मा जी के बारे में क्या मान्यता दी थी जिसे मैंने संपादकीय

में उद्धृत किया था। उन्होंने कहा था—“शर्मा जी की रचनाएँ, उनका लेखन विद्वत् जगत में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाया। ख्याति प्राप्त विद्वान टॉम बाटमोर द्वारा संपादित प्रसिद्ध ग्रन्थ—‘ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट’ (1983) में दुनिया के लगभग साढ़े-सात सौ मार्क्सवादी, रेडिकल लेखकों की रचनाओं की सूची है। उसमें शर्मा जी का नाम नहीं है।”²⁹

इन पंक्तियों को क्यों नहीं पढ़ा रवि साब ने? क्यों नहीं जवाब दिया इसका! इससे भी आगे जाकर शंकर शरण कहते हैं : “यदि यह किसी विदेशी मार्क्सवादी विद्वान की चूक मानी जाये, तो स्वयं भारत के अनेक बड़े मार्क्सवादी विद्वानों ने भी (हिन्दी वाले मार्क्सवादियों को छोड़ शर्मा जी को ज़िक्र के लायक नहीं माना है।”³⁰

इन पंक्तियों को भी पढ़ क्यों नहीं पाये रवि बाबू! उनका परशु यहाँ क्यों नहीं उठा? क्योंकि निबटना तो घर के दुश्मन से था। शंकर शरण तो अपने ही हैं। पाठक, इस संकट को समझ सकते हैं। यह वाम का आत्म-संघाती संकट है कि फासिस्ट शक्तियों से हाथ मिलाया जा सकता है, लेकिन आपस में नहीं। भूल नहीं, सब षड्यन्त्र होता है। जो जिसको एकमात्र सही समझ ले—स्वयं को, रामविलास शर्मा को, सोवियत संघ को, अपने दल या संगठन को—उसी को ईश्वर के दर्जे पर ले जाये बिना नहीं मानता। हमारा देश धर्म-प्राण है ही। लिहाज़ा प्रत्येक दल जब तक मज़हब का रूप ग्रहण नहीं कर लेता, सार्थक नहीं होता। सफल नहीं होता। 3 बड़ी कम्युनिस्ट पार्टियाँ, 13 छोटी क्रांतिकारी पार्टियाँ, कितने ही क्रान्तिकारी ग्रुप और नेता क्या सब एक मात्र सही नहीं हैं? कम्युनिज़्म फिर भी कोसों दूर है। इन सबमें कॉमन एलीमेन्ट है—**घर के दुश्मन का सफाया**। घर का दुश्मन कौन है? जो भी भिन्न मत रखता है। असहनशीलता और मृत्युपर्यंत परस्पर घृणा हमारे दौर की वाम उपलब्धियाँ हैं। क्या किया जाये, “हमें भी क्रान्ति करनी ही है!”

मैं समझता हूँ उपर्युक्त तथ्य, तर्क, प्रमाण और विश्लेषण यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि हमारे विद्वान मित्र ने बहुत लापरवाही से चढ़ाई कर दी। वे दूसरे पक्ष को डिस्टॉर्शन से पराजित करना चाहते हैं। आवेश और उताप का सार ही है व्यक्तिगत लेना चीज़ों को। हद तो यह है कि वे सारे तर्क और सुबूत भी शर्मा जी से ही उधार लेते हैं। अकेले रांगेय राघव का ही उदाहरण लें तो पाठक देखेंगे कि वे 39 वर्ष जिए। 19वें वर्ष से लिखना मानें तो 39 तक, 20 वर्ष उन्होंने लेखन किया। लगभग 117 पुस्तकें लिखीं। इनमें 15-20 पर्याप्त आकार की हैं। मान्यताओं की दृष्टि से कम से कम 10 महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से रवि बाबू ने कितनी पुस्तकों को खण्डन का आधार बनाया? केवल रामविलास जी के एक लेख से ही सारी आलोचना कर डाली। इससे क्या न्याय हो सकता था?

हिन्दी जाति पर किन सैद्धान्तिक ग्रंथों का उपयोग वे करते हैं? मार्क्सवादियों के बीच बहस का कितना उपयोग है यहाँ? हिन्दी-उर्दू मसले पर किन उर्दू विद्वानों के मतों को उन्होंने उद्धृत किया! कम से कम पाँच उर्दू-विद्वानों ने हिन्दी जाति के विरुद्ध विस्तार से लिखा है। हम समझते हैं—एक तरफा ढँग से मूल्य-निर्णय देने का काम उन्होंने किया है जिससे कई हल्के मित्रों को प्रसन्नता हुई है। उन्हीं को हो सकती है। अवश्य ही मुझे बहस में उच्च कोटि की निष्ठा है, बशर्ते उसका स्तर भी उच्च कोटि का हो। जिनका उद्देश्य साम्राज्यवाद से लोहा लेना हो उन्हें अपनी ऊर्जा और समय व्यक्ति-विरोध की जगह, घर के दुश्मन की जगह, व्यवस्था-विरोध में अधिक लगाना चाहिए।

फिर भी हम रवि बाबू का शुक्रिया अदा करना चाहेंगे कि उन्होंने हमें ‘पक्षधर’ के पाठकों को सम्बोधित करने का एक अवसर प्रदान किया। रामविलास जी से मतभेद, भारत में मार्क्सवाद को लागू करने की पद्धति और निष्कर्षों से मतभेद है; न कि उनकी साधना, श्रम, निष्ठा और

प्रतिबद्धता से। अतः हम उनका आदर करते हैं लेकिन मतभेद का अधिकार भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। क्योंकि, हमारी दृष्टि में मतभेद विकास का लक्षण है, विकार का नहीं।

रवि बाबू के सन्दर्भ में भी हमारा यही मत है। वे प्रबुद्ध मित्र हैं, लेकिन मतभेद का आदर उन्हें करना चाहिए। आशा है, अपनी ऊर्जा की ऐसी गोलाबारी वे अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध करके हमें सन्तोष प्रदान करेंगे। इति। रामविलास जी से मतभेद को 'पक्षधर' में फिर कभी अवसर प्राप्त होगा। ऐसा अवसर श्री तिवारी शीघ्र प्रदान करेंगे।

सन्दर्भ:

1. देखिए : 'पक्षधर' : सं. विनोद तिवारी, जन-दिसम्बर-2013, पृ. 129-163
2. उपर्युक्त, संपादकीय-पंक्तियाँ, पृ. 5
3. उपर्युक्त, देखिए, लेख: लाजिम नहीं कि खिन्न की हम पैरवी करें...रवि श्रीवास्तव पृ. 130
4. देखिए, रुस्तम राय की समीक्षा—प्रतिरोध का सौन्दर्य : 'वागर्थ'— अंक 224, मार्च-2014 संपादक : एकान्त श्रीवास्तव, कोलकाता से प्रकाशित, पृ. 92
5. देखिए, 'उद्भावना'—'अज्ञेय अंक'—98-99, मई-2012, पृ. 6
6. उपर्युक्त, पृ. 6
7. वही, पृ. 6
8. देखिए, आरम्भिक पंक्तियाँ, 'आलोचना सदैव एक संभावना है' मधुरेश पर एकाग्र : संपादक प्रदीप सक्सेना, पृ. 9
9. 'पक्षधर', पृ. 130
10. देखिए, संपादकीय, 'उद्भावना' का रामविलास शर्मा महा विशेषांक, नवम्बर-दिसम्बर-2012, सं. प्रदीप सक्सेना, : प्रतिरोध ही सौन्दर्य है : पृ. 1
11. उपर्युक्त, पृ. 1
12. वही,
13. वही,
14. वही, पृ. 2
15. वही, पृ. 2
16. वही, पृ. 3
17. वही, पृ. 3
18. वही, पृ. 3
19. वही, पृ. 4
20. वही, पृ. 12
21. वही, पृ. 13
22. उपर्युक्त, 'पक्षधर', पृ. 130
23. वही, पृ. 130
24. पक्षधर, उपर्युक्त, पृ. 145
25. वही , पृ. 157
26. देखिए, 'आलोचना' का सहस्राब्दी अंक, अप्रैल-जून, 2001
27. द्रष्टव्य, उपर्युक्त
28. देखिए, मेरे संपादकीय में शंकर शरण का विरोध, 'उद्भावना', उपर्युक्त, पृ. 9-10
29. वही, पृ. 10
30. वही, पृ. 10

संपर्क : हिन्दी विभाग, अ.मु.वि वि, अलीगढ़-202002, मो. 09259017982

वसंत

बृजराज सिंह

मैं अब तीस साल का हो गया हूँ
जीवन के तीस वसंत बीत गए
इस प्रकार कुल तीस वसंत मैंने देखे
पर एक की भी याद नहीं है
मुझे नहीं याद कि मैंने कभी सुनी हो 'प्रथम पिक पंचम'
हमारे समय में मुहावरे अपने अर्थ खोते जा रहे हैं
जैसे कि इसी को ले लें

अगर मैंने तीस वसंत देखे हैं
तो एक की भी याद क्यों नहीं है
शायद तीस कि उम्र में अल्जाइमर नहीं होता है
या होता भी हो (आज कल कुछ कह नहीं सकते)
हो सकता है कि मुझे कोई दूसरी गंभीर बीमारी हो
बीमारियों का क्या है वे कभी भी कहीं भी बिना बताये आ सकती हैं
जैसे कि प्यार, जैसे कि आता है वसंत
'प्यार एक बीमारी है' यह भी तो एक मुहावरा है
तीस के तीस वसंत भूल गया मैं
पुरानों को छोड़ भी दें तो कम से कम
पचीस तो याद रहना चाहिए
कौन यकीं कर सकता है मेरा कि मैं सच बोल रहा हूँ
मेरे पास कोई सबूत भी तो नहीं है

वह भी तब जब भूलना एक आसान हथियार और गंभीर बीमारी हो
स्मृतिलोप का ऐसा आक्रमण कि कुछ भी शेष न रहा

सोचने की बात यह है कि
बाकी सब तो मुझे अब भी याद है, बस वसंत की याद क्यों नहीं आती
याद है मुझे पांचवीं कक्षा की
जब सत्रह का पहाड़ा याद नहीं रहने पर विश्वगुरु ने पटक पटक मारा था
और उससे पहले की भी कुछ यादें हैं
स्लेट पर लिखा पहला प्रेम-पत्र.....वगैरहवगैरह
वसंत है कि तब का भी याद नहीं आता
वसंत में प्रवेश के नाम पर हर साल एक परीक्षा देते आए हैं
प्रवेश मिला नहीं अभी तक (ठीक-ठीक कह नहीं सकता)
प्रवेश मिला होता तो याद तो रहता ही
तीस में से कोई तो याद रहता

मैं भारत गणराज्य का नागरिक हूँ
याद है मुझे, बोध भी है, न्याय में विश्वास भी है
इसीलिए सोचता हूँ शिकायत करूँ
संविधान की किस धारा के तहत करूँ
कि वसंत के नाम पर मुझसे ली गयी है हर साल एक परीक्षा
उत्तीर्ण होने के बावजूद आज तक प्रवेश नहीं दिया गया
डर इस बात का है कि वे कह देंगे कि मुझे 'डिमेंशिया' है
वसंत के लक्षण भूल गया हूँ
या वे कह देंगे कि इसमें पड़ोसी मुल्क का हाथ है
या यह वायरस अटैक है और यह चीन से आया है
एक्सपर्ट की राय ली जाएगी और मुझसे कहा जायेगा कि शट-डाउन कर लूँ

(2)

खैर, मैं इसे ऐसे ही कैसे जाने दे सकता हूँ
आखिर तीस-तीस वसंत का सवाल है
एक-दो का रहता तो जाने भी देता

कहते हैं पतझड़ के बाद आता है वसंत
हर साल आता है
सब कुछ नया-सा हो जाता है
इस नएपन से मेरा क्या?
मेरे तो बाल बस गिरते जाते हैं साल दर साल
इसका मतलब तो यही हुआ न कि

मेरे ऊपर से होकर वसंत की हवा नहीं गुजरी कभी
वैसे तो मेरी याददास्त भी ठीक-ठाक है
आज भी मुझे याद है प्लासी का युद्ध कब हुआ था
प्रथम स्वतंत्रता संग्राम 1857 में, चीन की लड़ाई 1962 में
पाकिस्तान की लड़ाई 1972
सत्तर में बंगाल की लड़ाई, बस्तर की लड़ाई, झारखण्ड की लड़ाई
आप कहेंगे कि बस लड़ाई-लड़ाई ही याद है
तो मुझे याद है गाँधी की हत्या भी
अभी कुछ दिन पहले वाशिंगटन पोस्ट की छपी खबर भी याद है मुझे
'भारत सरकार के प्रधानमंत्री घोटालेबाजों के मुखिया हैं'
यह 2012 है महाराज!
इसमें कमजोर याददास्त का आदमी जी नहीं सकता
बहरहाल अब यह तो पता चल ही गया होगा कि
याद रखने में मुझे कोई समस्या नहीं है
फिर यह वसंत याद क्यों नहीं आता?

अब कितना कुछ बताऊँ कि मुझे क्या-क्या याद है
क्या, मैं अपने पाँच दोस्तों के नाम बताऊँ
तो उनसे पूछ कर ताकीद करना चाहते हैं कि
मैं झूठ तो नहीं बोल रहा हूँ
लीजिये अभी बता देता हूँ
लेकिन इससे क्या होगा?
सवाल मेरे वसंत का है
दोस्तों को इस अनुत्पादी मामले में घसीटना ठीक नहीं

(3)

सुना है मैंने
वसंत जब आता है तब पता चल जाता है
जज्बात काबू में नहीं रहते
कामदेव अपना शिकार खोजने निकलते हैं
उनसे बचा भी नहीं जा सकता, अनंग जो ठहरे
सुना है मन हवाई जहाज सा उड़ने लगता है
हवाई जहाज से याद आया
वहाँ भी तो वसंत नदारद था
जज्बात को भी उकसाया एक कवि ने
'स्नेह को सौंदर्य का उपहार रस चुम्बन नहीं तो और क्या है'
पर वसंत इन सबमें कहाँ था, मुझे पता नहीं
सुना मैंने, लंका पर वसंत रोज उतरता है

लंका से अस्सी के बीच घूमता रहता है
काशीनाथ भी तो रोज आते हैं अस्सी
आखिर बनारस वसंत की राजधानी जो ठहरी
मैंने भी लगभग हर शाम लंका से अस्सी भ्रमण किया, करता रहा
इस बीच पान खाया, चाय भी पी, सिगरेट के सुट्टे भी लगाए
पर वह नहीं मिला तो नहीं मिला
शायद उसे नहीं ही मिलना था
मेरी तरह और भी कई आते हैं रोज-रोज लंका, अस्सी
खोजने अपने-अपने वसंत को

अब रंग बदल रहा है
अमलतास के पत्ते झड़ चुके हैं
पीले फूल निकल आए हैं
विश्वनाथ मंदिर का अशोक खिल चुका है
पता नहीं कौन सुंदरी अपने घुंघरू मेलित पदों के
आघात से उसे फूलने को मजबूर कर देती है
लड़के लड़कियां पीले परिधान में दिख रहे हैं
तो क्या इस शहर में वसंत आ गया
अगर आ गया तो यह पहले पहले कहाँ आया
विश्वनाथ मंदिर, त्रिवेणी या लंका पर या फिर अस्सी
या महिला महाविद्यालय
एक कवि ने लिखा है—
इस शहर में वसंत सबसे पहले मंडुआडीह में आता है
वसंत कहीं भी उतरा हो इस बार देख लेना है
छात्रावास से निकला और लंका चल दिया
लंका हमारे जीवन की आवश्यक क्रिया है
कि तभी फोन की घंटी बज उठी
“हैलो! रूम नंबर 113 से हनुमान को बुला दीजिये”
“वे लंका गए हैं”
“क्या मजाक है, तुम कौन बोल रहे हो”
“मैं अंगद”
“बदतमीज”

उसी शाम कस्तूरबा छात्रावास में अपने ही दुपट्टे से झूल गयी लड़की
जब उसी की सहेलियां वसंत को खोजते आ गयी थीं अस्सी
वसंत फिर से लौट गया
मैं भी लौट आया खाली हाथ

(4)

यह भी कोई जीवन है महाराज !
तीस पार कर गए किसी वसंत का दर्शन नहीं हुआ अब तक
तो क्या हुआ लंका तो देखा न- एक मित्र ने कहा
लंका एक संज्ञा है
'स्थानवाची' या 'भाववाची'
लंकेटिंग एक क्रिया है
'सकर्मक' कि 'अकर्मक'
लंकेटिंग तो सकर्मक क्रिया है
तभी एक लड़के ने कहा
ना सकर्मक ना अकर्मक, लंकेटिंग एक निरर्थक क्रिया है
तभी बगल से गुजरती घुंघराले बालों वाली लड़की ने कहा
लंकेटिंग एक सार्थक क्रिया है और हमेशा रहेगी
मैंने सबको रोका और बताया कि लंकेटिंग हमारा मुद्दा नहीं है
हमारा मुद्दा वसंत है
आजकल के नौजवान किसी भी बात पर बहस करने लगते हैं

अब मेरे मन में यह सवाल उठने लगा कि
हो सकता है पिछले तीस वर्षों में वसंत आया ही न हो
एक लड़की ने बताया कि और की याद तो उसे भी नहीं
पर पिछले साल आया था
जब ठीक वसंत पंचमी के दिन उसके
प्रेमी ने ढक दिया था उसे हरसिंगार के फूलों से
मैंने बहुत पूछा पर उसने इसके आगे कुछ नहीं बताया
बस बोली 'ज्यों मालकौस नव वीणा पर'

मैंने पूछा अपने छोटे भाई से जिसने अभी दाखिला लिया है बी.ए. में
और रोज लंका नियम से जाता है
लंका पर वसंत आता है तुमने देखा है
उसने कहा कौन वाली
मैंने कहा वाली नहीं वाला
वसंत पुलिंग है स्त्रीलिंग नहीं
उसने कहा
क्या फर्क पड़ता है
आप हिंदी वाले बस लिंग पकड़ कर बैठ जाते हैं

(5)

छात्रावास में बहस जोरों पर थी
वसंत का रंग पीला होता है
एक ने कहा नहीं लाल होता है, पीला पुराने की निशानी है
'सरसों के पीले फूलों में उतरता है वसंत'
'नहीं, अशोक के लाल रंगों में उतरता है'
'अमलतास देखा है-पीला होता है'
'गुलमोहर देखा है-लाल होता है'
अब बहस इस पर जा पहुंची कि श्रेष्ठ रंग कौन-सा होता है
पीला या लाल
अब तक शांत बैठा घनी मूंछों वाला लड़का बोला
इतनी-सी बात समझ में नहीं आती कि विश्वविद्यालय में श्रेष्ठ रंग खाकी है
वह लड़की जो पिछले हफ्ते फसरी लगा के झूल गयी थी
उसकी रस्सी का रंग लाल था और उसने पीले कपड़े पहन रखे थे
अब वह मेरी तरफ मुखातिब था
उसकी आँखों का रंग सुर्ख लाल था और मेरा चेहरा पीला पड़ रहा था
सब लोग चल दिए
तभी एक लड़के ने अपने साथ के बुजुर्गवार की ओर इशारा करते हुए कहा कि
मेरे पिता जी हैं
उसी घनी मूंछों वाले लड़के ने पूछा- 'सगे हैं?'

वहां से हटने के बाद मैं सोचता रहा
उसने खाकी क्यों कहा
इतने रंगों में उसने खाकी को क्यों चुना
जब दीवारें लाल और पीली हैं तो खाकी क्यों?
हम मधुबन की तरफ बढ़ने लगे
बाहर सुरक्षाकर्मी खाकी लिबास में मुस्तैद थे
अन्दर शाखा लग रही थी
हमें रोक दिया गया क्यों कि सबके कपड़े में कहीं न कहीं लाल जरूर था
इससे माहौल बिगड़ने का खतरा था
आज विश्वविद्यालय का स्थापना दिवस है
आज वृक्षारोपण होगा और शाखा लगायी जाएगी

विश्वविद्यालय में श्रेष्ठ रंग खाकी है
खाकी खौफ का रंग होता है

मंदिर की तरफ से आते दिखे सिन्नी गुरु
शून्य में उंगली करते हुए फुसफुसाकर बोले
कल क्रांति हो जाएगी

पत्रिका प्रेस में चली गयी है
कल विप्लव होगा, सब बदल जाएगा
तख्ता पलट हो जाएगा
दरोगा बने प्रोफेसर को सूली पर लटका दिया जाएगा
अबकी वसंत 'वसंती' होगा
डाक साहब किसी को खबर न हो

प्रोफेसर पाण्डेय ने चोर पाकेट से दस का नोट निकाला और सिन्नी गुरु को देते हुए कहा
रख लीजिए क्रांति में काम आएगा
सिन्नी गुरु अपने स्थायी भाव शून्य को उंगली करते चले गए
फिर हमसे बताया गोरख को भी वसंत बहुत प्यारा था

(6)

उस दिन मैं जीवन में सबसे ज्यादा आश्चर्यचकित रह गया
जब मेरे एक मित्र ने कहा कि
आजकल उसकी शामें विपासा बसु और सुबहें सनी लियोनी हो रही हैं
उसने बताया कि आज कल वह लगातार गिर रहा है 'प्यार में'
उसकी प्रेमिका शादी शुदा तथा दो बच्चों की माँ है
मैंने कहा यह महापाप है
उसने कहा किसी को प्रेम देना महापुण्य है
माँ-बाप-पति-पत्नी-बच्चे के अलावा एक प्रेमी भी होना ही चाहिए
उम्र के तीन दशक बीत जाने के बाद उसके जीवन में वसंत अब उतर आया है
उसने कहा कि अब वह बता सकता है मुझे वसंत के बारे में कुछ-कुछ
वसंत एककम वसंत, वसंत दूनी विपासा...वसंत दहा में सनी लियोनी

इस बीच मेरे वसंत के खोजने की शोधवृत्ति को लोग जान गए थे
कइयों ने समझाया छोड़ दो वसंत को
कुछ नहीं मिलने वाला
वसंत याद नहीं तो क्या हुआ और भी चीजें हैं याद करने को
एक मित्र ने कहा तुम्हें नहीं मालूम
वसंत अब कुछ ही कॉलोनियों में उतरता है
टाटा, बिड़ला, अंबानी के घरों में हेलीकॉप्टर से उतरता है
अमिताभ और सचिन के घरों में आता है वसंत
अब उसकी आवाज तल्ल हो रही थी
वह अपनी उखड़ी सांसों के साथ बोल रहा था
फूलों में, वनों में, युवकों-युवतियों में अब वसंत नहीं आता
यह पुरानी बातें हो गयी हैं

वसंत आता है राहुल गाँधी के घर में
तुम झोपड़ियों के मुर्दाना माहौल में लाना चाहते हो वसंत
व्यर्थ है सारी कोशिशें, कुछ नहीं हो सकता
कुछ नहीं बदल सकता

(7)

वसंत आता है शोध से, पीएच-डी. पूरी हो जाने के बाद
अभी-अभी लौटा है मेरा एक दोस्त नौकरी का साक्षात्कार देकर
उसके माँ-बाप ने भी देखा था स्वप्न
अपने आंगन में वसंत के उतरने का

साक्षात्कार लेने बैठे थे विषय विशेषज्ञ शीर्ष पुरुष
अभ्यर्थियों की जमात में उनका एक अपना भी था
उससे पूछा उन्होंने
अपने पिता का नाम बताओ
अभ्यर्थी ने जवाब दिया श्रीमानजी मेरे पिता का नाम फलां है
शीर्ष पुरुष के चहरे पर तेज उतर आया
उन्होंने बाकी सदस्यों से आत्मविश्वास के साथ कहा
“देखा महोदय, लड़का कितना शिष्ट है, कितना संस्कारी है
आज के कठिन समय में जब बच्चे अपने माँ-बाप का नाम तक याद नहीं रखते
इसे याद है अपने बाप का नाम, और तो और श्री भी लगाता है
मूल्यों के हास के समय में यह लड़का इस संस्थान को नयी ऊँचाइयों तक
ले जाएगा”
इसके बाद जब मेरा दोस्त दाखिल हुआ तो
उन्होंने महादय ने सवाल किया कि यहाँ बैठे सभी लोगों के पिताश्री के नाम बताओ
दोस्त ने कहा नहीं मालूम
उन्होंने कहा कि सूचनाओं के विस्फोट के समय में इतनी-सी सूचना नहीं है
तो आप बहुत पिछड़े हैं, जाइए
मैंने उसे समझाया, यह नया प्रश्न नहीं है
नाम पूछा था सत्यकाम ने जाबाल से उसके बाप का

लंका पर उस दिन वसंत को भूलकर सबने इसी के बारे में बात की
मालवीय जी की मूर्ति के नीचे ‘दुम स्टडी सर्किल’ के लोगों द्वारा
‘मानव जीवन में दुम की उपयोगिता’ विषय पर सभा का आयोजन चल रहा था
एक क्रान्तिकारी छात्र नेता ने कहा कि
कुत्तों की वह नस्ल जो पूँछ हिलाना जानती है
उसे दूध-भात और नरम गोंद मिलती है बदले में
उसके जीवन में वसंत हमेशा बना रहता है

इतिहास गवाह है आजाद खयाल नस्लें भूखों मरती हैं
आज के कुत्ता समय में मनुष्य को दुम की बेहद जरूरत है
मित्रो! हमें हमारी दुम वापस चाहिए
तभी पीछे से एक लड़के ने गिटार पर धुन छोड़ी
'दुम मिले दिल खिले और जीने को क्या चाहिए'
इसी समय विश्वविद्यालय में एक प्रोफेसर अपनी दुम के सहारे
शिक्षा और ज्ञान की नयी-नयी ऊँचाइयों को छू रहा था

दुम हमारे समय की सबसे बड़ी बहस बन गयी है
दुम हमारे समय की सबसे बड़ी जरूरत बन गयी है
क्या दुम के रस्ते आ सकता है जीवन में वसंत
वह समय दूर नहीं जब हमारे समय का हर आदमी दुमदार होगा
लंका पर म्युनिस्पैलिटी की गाड़ी आई है
स्वतन्त्र कुत्तों को पकड़ कर ले जा रही है
एक लड़के ने धीरे से कहा अब लिखना पढ़ना सब दुम से होगा

(8)

एक दिन कक्षा में बहस जोरों पर थी
आधुनिक कौन है
जब पूछा गया एक लड़की से तो उसने कहा कि
आधुनिक माने फैशन
और तुम कवि हमेशा चिल्लाते रहते हो वसंत वसंत
तो सुन लो वसंत आता है फैशन से
हमारी लिपस्टिक से, नेल पालिश से, गागल्स से
बिना फैशन के दुनिया में वसंत नहीं आ सकता
यह समय है कागज में वसंत उतरने का
कागज में क्रांति का
किताब लिख किसान बनने का
मजदूर संग चाय पी उसे छलने का
वसंत का मौसम न होने पर भी वसंती दिखते रहने का

इतने दिनों में मुझे यह तो पता चल ही गया कि
वसंत होता है सबके हिस्से का
मेरा वाला वसंत
खोजना होगा
मांगना होगा
होगा, रखा होगा
किसी न किसी के पास, किसी ने हड़प लिया होगा
पर कहाँ, किसके पास?

(9)

विश्वास उठ रहा है लोगों का वसंत से
कविता से, समय से, लोकतंत्र से
झूठे हैं, झूठे हैं, झूठे हैं
तुम्हारे सारे के सारे ग्रन्थ
तुम्हारी कसमें, तुम्हारे वादे
झूठी हैं तुम्हारी बातें, तुम्हारी किताबें
झूठा है तुम्हारा इतिहास भी
झूठे हो तुम, झूठे हैं हम भी
झूठे हैं राम, झूठे हैं कृष्ण भी
झूठे हैं व्यास, झूठे हैं तुलसीदास भी
झूठा है गुस्सा, झूठा है प्यार भी
झूठी है सब सरकार
झूठा निकला वोट का अधिकार
झूठी हिंदी, झूठी उर्दू
झूठी शाम, झूठी सुबह
झूठी दरख्तों के झूठी शाखों से गिरते हैं झूठे पत्ते
इन्द्रधनुष के सारे रंग झूठे हैं
झूठा निकला वसंत, झूठा निकला वसंत
आत्मविश्वास झूठ है, स्वाभिमान झूठ है

जब झूठ अपने समय का सबसे बड़ा सच बन जाये
तब चुप्पी का हथियार बन जाना लाजिम है
अब कौवे और कोयल की पहचान कैसे हो
कौआ भी चुप और कोयल भी चुप
एक भले मानुष ने कहा
वसंत का इन्तजार करो
वसंत आने पर कोयल चुप नहीं बैठेगी
वह जरूर बोलेगी
कौवे उसकी आवाज दबा कर नहीं रख सकते
तभी कोयल और कौवे का भेद खुल सकेगा
वसंत का इन्तजार करो
इन्तजार करो!

नोट : इसमें जिन कवियों-लेखकों की पंक्तियों का प्रयोग किया गया है उन सबके प्रति आभार।

संपर्क : हिन्दी विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान, दयालबाग, आगरा (उ.प्र.)-05, मो.-09838709090

डेविड हार्वे द्वारा 'पूँजी' का अध्ययन

गोपाल प्रधान

2010 में वर्सो द्वारा प्रकाशित डेविड हार्वे की किताब 'ए कपैनियन टु मार्क्स कैपिटल' का जिक्र किए बगैर 21वीं सदी में मार्क्सवाद के विकास का कोई भी विवरण अधूरा रहेगा। डेविड हार्वे अमेरिका में न्यूयार्क विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट सेंटर में भूगोल के अध्यापक हैं। इस प्रसंग में खास बात यह है कि मार्क्स-एंगेल्स ने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' की भूमिका में अपनी इस किताब की लोकप्रियता को संबंधित देश में मजदूर आंदोलन की स्थिति से जोड़कर देखने का प्रस्ताव किया था और हाक्सबाम ने भी मार्क्सवाद का इतिहास समझने के लिए घोषणापत्र की लोकप्रियता के ही पैमाने का इस्तेमाल किया है, लेकिन मार्क्सवाद की लोकप्रियता के वर्तमान दौर में विभिन्न देशों और भाषाओं में मार्क्स की 'पूँजी' के पहले खंड के अनुवादों और अध्ययनों की भरमार हुई है। इन अनुवादों की लोकप्रियता का एक कारण विश्व पूँजी का वर्तमान संकट तो है ही, इसके अलावा सोवियत संघ के पतन के बाद जवान हो रही पीढ़ी द्वारा मार्क्स को दोबारा समझने की चाहत भी है। हार्वे के काम को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए। डेविड हार्वे मूलतः भूगोलवेत्ता हैं और शहरों पर अपने अध्ययन के क्रम में वे सामाजिक विषयों की ओर आए और फिर मार्क्सवाद का व्यवस्थित अध्ययन किया। रुचिपूर्वक चालीस सालों से वे हरेक साल मार्क्स की 'पूँजी' पर अनौपचारिक व्याख्यान देते रहे हैं। यह किताब विद्यार्थियों के लिए 'पूँजी' पर दिए गए उनके व्याख्यानों का सुसंपादित संकलन है। किताब में 'पूँजी' के सिर्फ पहले खंड का सांगोपांग अध्ययन किया गया है, शायद इसके पीछे यह आग्रह भी हो सकता है कि मार्क्स चूँकि पहला खंड ही अपने जीवन में पूरा कर सके थे इसलिए उसी में उनकी अंतर्दृष्टि सबसे प्रामाणिक रूप से व्यक्त हुई होगी। अपनी किताब को वे महज कपैनियन इसलिए भी कहते हैं क्योंकि इन व्याख्यानों के पीछे उनका मूल मकसद विद्यार्थियों की रुचि मार्क्स की पुस्तक पढ़ने में जगाना था। लेखक की कोशिश अति सरलीकरण से बचते हुए पुस्तक को सुबोध बनाना है इसीलिए लेखक ने व्याख्या संबंधी विवादों को छोड़ दिया है। लेकिन

ऐसा भी नहीं कि यह कोई निस्संग व्याख्या है बल्कि विभिन्न तरह के लोगों को लगभग चालीस बरस तक समझाने के क्रम में उपजी है।

किताब की शुरुआत लेखक माल और विनिमय संबंधी पहले अध्याय से करता है। हार्वे हमारा ध्यान सबसे पहले प्रथम वाक्य की ओर खींचते हैं और बताते हैं कि इस वाक्य में दो बार 'प्रकट' आता है। एक बार यह कि 'जिन समाजों में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली व्याप्त है वहाँ सामाजिक संपदा मालों के विशाल संचय के रूप में प्रकट होती है' और दूसरी बार यह कि 'कोई एक माल उसके प्राथमिक रूप के बतौर प्रकट होता है।' लेखक इस बात पर जोर देता है कि 'प्रकट' होना और 'होना' एक ही बात नहीं है। यह शब्द मार्क्स की इस पूरी किताब में अनेक बार आया है जिसका मतलब है कि उनके मुताबिक जो ऊपर से दिखाई दे रहा है उसके नीचे कुछ चल रहा है जो असली है। दूसरी बात यह कि मार्क्स सिर्फ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पर विचार करना चाहते हैं। ये दोनों बातें आगे की बातों को समझने के लिए ध्यान में रखना जरूरी है। माल से बात शुरू करने का लाभ यह है कि सब लोग उसके संपर्क में रोज आते हैं।

मार्क्स की 'पूँजी' ऐसी किताब है जिसमें दार्शनिकों, अर्थशास्त्रियों, नृतत्वशास्त्रियों, पत्रकारों और राजनीति वैज्ञानिकों के साथ ही तमाम साहित्यकार, परीकथाएँ और मिथक आते रहते हैं। किताब के रूप में इसे पढ़ना अलग तरह का अनुभव है क्योंकि खंडित उद्धरणों से वृहत्तर तर्क के भीतर उनकी अवस्थिति समझ में नहीं आती। सभी तरह के अनुशासनों में दीक्षित लोग इसमें भिन्न अर्थ निकालते हैं क्योंकि यह इतने भिन्न किस्म के स्रोतों की ओर आपका ध्यान ले जाती है। इन स्रोतों को मार्क्स आलोचनात्मक विश्लेषण की धारा से जोड़ते हैं। आलोचनात्मक विश्लेषण का अर्थ पहले के सोच विचार को एकत्र कर उसे नए ज्ञान में बदल देना है। इस किताब में जो धाराएँ मौजूद हैं वे हैं सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक मुख्य रूप से इंग्लैंड में विकसित राजनीतिक अर्थशास्त्र की धारा, दार्शनिक गवेषणा की धारा जो ग्रीक दार्शनिकों से शुरू होकर हेगेल तक आती है और इन्हीं के साथ तीसरी धारा काल्पनिक समाजवादियों की धारा है।

मार्क्स अपनी किताब की समस्याओं के प्रति सचेत थे और इसकी विभिन्न भूमिकाओं में उन्होंने इनकी चर्चा की। फ्रांसीसी संस्करण की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया कि अगर इसे धारावाहिक रूप से छापा जाए तो मजदूर वर्ग के लिए अच्छा होगा लेकिन उन्होंने सावधान भी किया कि इससे पुस्तक की समग्रता को एकबारगी ग्रहण करने में असुविधा होगी। इस किताब में मार्क्स का मकसद राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के जरिए पूँजीवाद की कार्यपद्धति को उद्घाटित करना था। इस लिहाज से उन्होंने दूसरे संस्करण की भूमिका में लिखा कि 'प्रस्तुति का रूप गवेषणा की पद्धति से अलग होना ही चाहिए। गवेषणा के दौरान विस्तार से सामग्री एकत्र करके उसके विकास के अलग अलग रूपों का विश्लेषण किया जाता है, उनके आपसी संबंधों की छानबीन की जाती है। इस काम के खत्म होने के बाद ही उस विकास की प्रस्तुति संभव होती है।' मार्क्स की गवेषणा के घेरे में यथार्थ की अनुभूति तथा उस अनुभूति का राजनीतिक अर्थशास्त्रियों, दार्शनिकों और उपन्यासकारों द्वारा वर्णन आता है। इसके बाद वे समस्त सामग्री की गहन आलोचना करते हैं ताकि उस यथार्थ की कार्यपद्धति को स्पष्ट करने वाली कुछ सरल किंतु जोरदार धारणाओं को खोज सकें। आम तौर पर मार्क्स किसी परिघटना को समझने के लिए गहरी धारणाओं के निर्माण के लिए उनके सतही आभास के विश्लेषण से शुरुआत करते हैं। इसके बाद सतह के नीचे उतरकर असल में कार्यरत शक्तियों को उद्घाटित करते हैं।

मार्क्स की इस किताब को पढ़ते हुए उनकी धारणाओं को लेकर पहले उलझन होती है कि आखिर ये धारणाएँ आ कहाँ से रही हैं लेकिन धीरे-धीरे आप मूल्य और वस्तु पूजा जैसी धारणाओं को समझना शुरू कर देते हैं। दिक्कत यह है कि किताब के खत्म होने पर पूरा तर्क समझ में आता है इसीलिए लेखक हार्वे का सुझाव है कि एक बार आद्यंत खत्म कर लेने के बाद दोबारा पढ़ने से यह किताब मजा देती है। खासकर शुरू के तीन अध्याय तो बिना कुछ समझ में आए ही बीत जाते हैं। इसके बाद के अध्यायों में ही पता चलता है कि मार्क्स द्वारा निर्मित धारणाओं का उपयोग क्या है।

मार्क्स माल की धारणा से शुरू करते हैं। उनके लेखन को देखते हुए उम्मीद बनती है कि बात वर्ग संघर्ष से शुरू होनी चाहिए थी लेकिन तीन सौ पन्नों से पहले इस तरह की कोई बात ही नहीं शुरू होती। या वर्ग संघर्ष नहीं तो फिर मुद्रा से शुरू करते। खुद मार्क्स पहले मुद्रा से ही शुरू करना चाहते थे लेकिन अध्ययन के बाद उन्हें लगा कि पहले मुद्रा की व्याख्या करना जरूरी है। श्रम से भी तो शुरू कर सकते थे? कुछ कागजों से पता चलता है कि बीस तीस सालों तक वे इस समस्या से जूझते रहे थे कि शुरू कहाँ से करें। अंत में उन्होंने माल से शुरू किया और इसकी कोई वजह भी नहीं बताई है। मार्क्स ने जिस धारणात्मक औजार का निर्माण किया है वह सिर्फ 'पूँजी' के पहले खंड के लिए नहीं बल्कि अपने समूचे विश्लेषण के लिए बनाया है।

अगर आप पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को समझना चाहते हैं तो तीनों खंड देखने होंगे और फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी कि जितनी बातें उनके दिमाग में थीं उनका महज आठवाँ हिस्सा ही वे लिख सके थे। अपनी किताब की पूरी योजना उन्होंने कुछ इस तरह बनाई थी—(1) सामान्य, अमूर्त निर्धारक जो कमोबेश सभी सामाजिक रूपों में लागू होते हैं—(2) वे कोटियों जो बुर्जुआ समाज की आंतरिक संरचना की बनावट हैं और जिन पर बुनियादी वर्ग आधारित हैं। पूँजी, पगारजीवी श्रम, भू संपदा, उनका अंतस्संबंध, शहर और देहात, तीन बड़े सामाजिक वर्ग, उनके बीच लेन देन, वितरण, उधारी व्यवस्था (निजी), (3) राज्य के रूप में बुर्जुआ समाज का संकेंद्रण उसका अपने साथ संबंध, 'अनुत्पादक' वर्ग, कराधान, सरकारी कर्ज, सार्वजनिक उधारी, जनसंख्या, उपनिवेश, उत्प्रवास, (4) उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, अंतर्राष्ट्रीय विनिमय, निर्यात और आयात, विनिमय की दर, (5) विश्व बाजार और संकट। मार्क्स अपनी इस परियोजना को पूरा नहीं कर सके। इनमें से ज्यादातर की समझदारी पूँजीवादी उत्पादन को समझने के लिए बेहद जरूरी है। आप देख सकते हैं कि किताब के पहले खंड में मार्क्स पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को सिर्फ उत्पादन के नजरिए से समझते हैं। दूसरे खंड (अपूर्ण) में विनिमय संबंधों का परिप्रेक्ष्य अपनाया गया है। तीसरे खंड (अपूर्ण) में पूँजीवाद के बुनियादी अंतर्विरोधों से उत्पन्न संकट-निर्माण पर प्रथमतः ध्यान केंद्रित किया गया है। उसके बाद ब्याज, वित्त पूँजी पर मुनाफा, जमीन का किराया, व्यापारिक पूँजी पर मुनाफा, कराधान आदि के रूप में अधिशेष के वितरण पर विचार किया गया है।

मार्क्स की पद्धति द्वंद्ववादी थी जिसे, उनके मुताबिक, आर्थिक मुद्दों पर पहले लागू नहीं किया गया था। अब दिक्कत यह है कि अगर आप किसी खास अनुशासन में गहरे ढँसे हुए हैं तो संभावना ज्यादा इस बात की है कि द्वंद्ववादी पद्धति का इस्तेमाल आपके लिए मुश्किल होगा। द्वंद्ववाद के मुताबिक प्रत्येक वस्तु लगातार गति में होती है। मार्क्स भी महज श्रम की नहीं बल्कि श्रम की प्रक्रिया की बात करते हैं। पूँजी भी कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि गतिमान प्रक्रिया है। जब संचरण रुक जाता है तो मूल्य गायब हो जाता है और पूरी व्यवस्था भहरा

जाती है। उनकी किताब में अक्सर वस्तुओं की बजाए उनके आपसी संबंधों का जिक्र दिखाई पड़ता है। आज की तारीख में 'पूँजी' के अध्ययन की एक और समस्या है। पिछले तीस सालों से जो नव-उदारवादी प्रतिक्रांतिकारी धारा विश्व पूँजीवाद के क्षेत्र में प्रबल रही है उसने उन स्थितियों को और मजबूत किया है जिन्हें मार्क्स ने 1850-60 के दशक में इंग्लैंड में विखंडित किया था। इससे इस किताब के अध्ययन की जरूरत तो सामने आती है लेकिन कठिनाई भी प्रकट होती है।

बात दोबारा माल से ही शुरू करते हैं। मालों का व्यापार बाजार में होता है। सवाल खड़ा होता है कि आखिर यह आर्थिक लेन देन कैसा है। माल मनुष्य के किसी न किसी अभाव, जरूरत या इच्छा को पूरा करता है। यह हमसे बाहर मौजूद कोई वस्तु होती है जिसे हम अधिग्रहित करते और अपनाते हैं। मार्क्स तुरंत ही घोषित करते हैं कि उन्हें उन जरूरतों की प्रकृति से कोई लेना देना नहीं, उन्हें इससे भी कोई मतलब नहीं कि ये पेट से उपजती हैं या दिमाग से। उन्हें सिर्फ़ इससे मतलब है कि लोग उन्हें खरीदते हैं और इस काम का रिश्ता इस बात से है कि लोग जिंदा कैसे रहते हैं। अब माल तो लाखों हैं जिन्हें मात्रा या गुण के हिसाब से हजारों तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन वे इस विविधता को एक किनारे धकेलकर उनको उनके सामान्य गुण में बदलते हैं जिसे वे उपयोगिता के बतौर व्याख्यायित करते हैं। वस्तु का यह 'उपयोग मूल्य' उनके समूचे चिंतन में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मार्क्स ने कहा था कि सामाजिक विज्ञानों में प्रयोगशाला की सुविधा न होने से हमें अमूर्तन का सहारा लेना पड़ता है। आप देख सकते हैं कि कैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के भीतर से उन्होंने अमूर्तन के जरिए 'उपयोग मूल्य' प्राप्त किया। लेकिन जिस तरह के समाज का वर्णन मार्क्स कर रहे थे यानी पूँजीवादी समाज उसमें माल, विनिमय मूल्य के भी भौतिक वाहक होते हैं। हार्वे हमसे वाहक शब्द पर गौर करने को कहते हैं क्योंकि किसी चीज का वाहक होना और वही चीज होने में फर्क है। अब मार्क्स एक नई धारणा से हमारा परिचय कराना चाहते हैं।

जब हम बाजार में विनिमय की प्रक्रिया को देखते हैं तो नाना वस्तुओं के बीच विनिमय की नाना दरें और देश काल की भिन्नता होने से एक ही वस्तु की अलग अलग विनिमय दरें दिखाई पड़ती हैं। इसलिए पहली नजर में लगता है कि विनिमय दरें 'कुछ-कुछ सांयोगिक और शुद्ध रूप से सापेक्षिक' हैं। इससे प्रकट होता है कि 'अंतर्निहित मूल्य, यानी ऐसा विनिमय मूल्य जो वस्तु के साथ अभेद्य रूप से जुड़ा हुआ, उसमें अंतर्निहित है, का विचार आत्म-विरोधी प्रतीत' होता है। यहाँ आकर वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में आपसी विनिमय के लिए जरूरी है कि वे किसी अन्य वस्तु से तुलनीय हों। 'उपयोग मूल्य के रूप में वस्तुएँ एक दूसरे से गुणात्मक तौर पर अलग होती हैं जबकि विनिमय मूल्य के रूप में उनमें सिर्फ़ मात्रा का भेद हो सकता है और उपयोग मूल्य का एक कण भी बचा नहीं रहता।' वस्तुओं की विनिमयता उनके उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं होती। अब उस तीसरे तत्त्व का प्रवेश होता है जो इन वस्तुओं के बीच साझा है और वह है कि ये सभी 'श्रम का उत्पाद' हैं। मतलब सभी वस्तुएँ अपने उत्पादन में लगे मानव श्रम का वाहक होती हैं। इसके बाद वे पूछते हैं कि आखिर किस तरह का श्रम उनमें साकार हुआ है। यह ठोस-श्रम यानी श्रम-काल तो हो नहीं सकता क्योंकि तब वही वस्तु अधिक कीमती होगी जिसके उत्पादन में ज्यादा समय लगेगा। लोग फिर उस वस्तु को खरीदेंगे जिसे कम समय में बनाया गया होगा। इस समस्या को हल करने के लिए वे मानव श्रम का भी अमूर्तन करते हैं। मूल्य फिर क्या हुआ? माल में 'साकार या वस्तुकृत

अमूर्त मानव श्रम।' तो यह अमूर्त मानव श्रम है श्रम-शक्ति अर्थात् समाज की 'समूची श्रम-शक्ति जो मालों की दुनिया में साकार' होती है।

इस धारणा में वैश्विक पूँजीवाद की धारणा शामिल है जिसको उन्होंने 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' में पूरी तरह से उद्घाटित किया था। आज का वैश्वीकरण तो उनके समय नहीं था लेकिन वे पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की विश्वव्यापी उपस्थिति को भविष्य में साकार होता देख रहे थे। इसी के आधार पर उन्होंने मूल्य को 'सामाजिक रूप से अनिवार्य श्रम-काल' के बतौर परिभाषित किया। जिन्होंने रिकार्डों का लेखन देखा है वे समझेंगे कि मार्क्स 'सामाजिक रूप से अनिवार्य श्रम-काल' की धारणा के अलावे ज्यादातर उन्हीं का अनुसरण कर रहे थे लेकिन यह छोटी सी बात बहुत बड़ा फर्क पैदा कर देती है क्योंकि तुरंत ही सवाल पैदा होता है कि सामाजिक रूप से अनिवार्य क्या है और उसे तय कौन करता है। मार्क्स इसका कोई जवाब तो नहीं देते लेकिन पूरी किताब में यह विषय समाया हुआ है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में आखिर कौन-सी सामाजिक अनिवार्यताएँ नल्थी हैं ? यह हार्वे को बड़ा सवाल लगता है और अनिवार्यताओं के विकल्प खोजने के लिए प्रेरित करता है। मूल्य स्थिर नहीं होता बल्कि तकनीक और उत्पादकता में क्रांति होने पर वे बदलते रहते हैं।

तकनीक और उत्पादकता के साथ ही वे अन्य कारकों की चर्चा भी करते हैं। इसमें शामिल हैं 'मजदूरों के कौशल का औसत स्तर, विज्ञान के विकास और उसके तकनीकी प्रयोग का स्तर, उत्पादन प्रक्रिया का सामाजिक संगठन, उत्पादन के साधनों का विस्तार और प्रभाव और प्राकृतिक पर्यावरण की स्थितियाँ।' इनकी गणना करना मार्क्स का मकसद नहीं है बल्कि वे महज इस तथ्य पर जोर देना चाहते हैं कि वस्तु का मूल्य स्थिर नहीं होता वरन अनेक कारकों से प्रभावित होता रहता है।

यहाँ आकर मार्क्स के तर्क में एक पेंच पैदा होता है। वे उपयोग मूल्य की ओर दोबारा लौटते हैं और कहते हैं कि 'मूल्य बने बगैर भी कोई वस्तु उपयोग मूल्य हो सकती है।' हम साँस लेते हैं लेकिन हवा को बोतल में बंद कर अब तक उसे खरीद-बेच नहीं सके हैं। वे यह भी जोड़ते हैं कि 'माल बने बगैर भी मानव श्रम का कोई उत्पाद उपयोगी हो सकता है।' घरेलू अर्थतंत्र में बहुत सारी चीजों का उत्पादन माल उत्पादन से बाहर किया जाता है। इसलिए पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में सिर्फ़ उपयोग मूल्य नहीं बल्कि दूसरों के लिए उपयोग मूल्य का उत्पादित होना जरूरी है जिसे बाजार की मार्फत दूसरों तक पहुँचना होता है। मतलब कि माल में उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य होते हैं लेकिन विनिमय मूल्य में निहित 'मूल्य' के साकार होने के लिए उसमें उपयोग मूल्य का होना जरूरी है।

इसके बाद हार्वे अनुभाग-2 की व्याख्या शुरू करते हैं और बताते हैं कि इसमें मार्क्स अनेक जटिल सूत्रों को उठाते हैं और उन्हें महत्वपूर्ण कहकर आपको समझने के लिए आमंत्रित करते हैं। मार्क्स लिखते हैं 'उपयोग मूल्य दो तत्त्वों का संश्रय होता है, प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री और श्रम।' इसलिए मनुष्य जब उत्पादनरत होता है तो प्रकृति के नियमों के अनुसार ही आगे बढ़ सकता है। अलग अलग तरह की गुणात्मक रूप से भिन्न उत्पादक गतिविधियों में मानव श्रम ही निवेशित होता है। इसे मार्क्स 'अमूर्त' श्रम कहते हैं। सामान्य किस्म का यह श्रम नाना किस्म के वास्तविक उपयोग मूल्यों का उत्पादन करने वाले ठोस श्रम से अलग और विपरीत होता है। मार्क्स की निगाह में अमूर्त श्रम की यह धारणा महज विस्तृत वस्तु विनिमय के दौरान पैदा होने वाले अमूर्तन का प्रतिबिंब है। इस तरह मूल्य की धारणा मार्क्स सरल अमूर्त श्रम की इकाइयों में बनाते हैं। उनका कहना है कि 'जटिल श्रम' यानी कुशल श्रम को महज तीव्र

अथवा गुणित सरल श्रम मानना होगा यानी थोड़ी मात्रा का जटिल श्रम अधिक मात्रा के सरल श्रम के बराबर माना जाएगा। यह अपघटन होता रहता है। इसका मतलब कि ठोस श्रम और उपयोगी श्रम के बीच महसूस होने वाला गुणात्मक अंतर तथा उपयोगी श्रम की विविधता को शुद्ध रूप से किसी मात्रात्मक और एकसम चीज में अपघटित कर दिया जाता है। मार्क्स का कहना है कि श्रम के अमूर्त यानी एकसम और ठोस यानी विविधता के पहलू श्रम की एकल क्रिया के दौरान एक्यबद्ध होते हैं। यह द्वैत एक ही श्रम प्रक्रिया में निहित रहता है। यानी श्रम के ठोस रूप के बगैर मूल्य साकार नहीं हो सकता लेकिन इस मूल्य को हम इसके विनिमयगत अमूर्तन के बिना जान नहीं सकते। ठोस और अमूर्त श्रम के बीच संबंध यह होता है कि भांति भांति के ठोस श्रम के जरिए ही अमूर्त श्रम का पैमाना पैदा होता है। यह तर्क प्रक्रिया पहले अनुभाग का प्रतिबिंब है। माल में उपयोग मूल्य, विनिमय मूल्य और मूल्य समाहित रहते हैं। इसी तरह श्रम की प्रक्रिया में भी उपयोगी ठोस श्रम और अमूर्त श्रम या मूल्य यानी सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल समाहित रहते हैं जो बाजार में जाकर विनिमय मूल्य का धारक होगा।

इसके बाद अनुभाग-3 में मार्क्स माल के पीछे बाजार में जाते हैं और मूल्य तथा विनिमय मूल्य के बीच रिश्ते की छानबीन करते हैं। इस अनुभाग में मार्क्स मुद्रा की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं। इसके लिए वे वस्तु विनिमय की स्थिति से शुरुआत करते हैं। मान लीजिए दो लोगों के पास अलग अलग माल हैं। मेरे पास जो माल है उसका सापेक्षिक मूल्य आपके पास मौजूद माल के मूल्य यानी निवेशित श्रम में व्यक्त होगा। इस तरह आपका माल मेरे माल के मूल्य का पैमाना होगा। रिश्ता उलट दीजिए तो मेरे माल को आपके माल के समान मूल्य के बतौर देखा जा सकता है। बाजार में जितने लोग हैं उतने ही माल हैं और उतने ही विनिमय भी होंगे और इसीलिए जितने भी माल हैं उतने ही उनके समतोल मूल्य और विनिमय होंगे। असल में मार्क्स बताना चाहते हैं कि विनिमय की क्रिया हमेशा दोहरी होती है। इसमें सापेक्षिक और समतोल के धुआंत होते हैं जिसमें समतुल्य माल 'अमूर्त मानव श्रम के साकार' रूप में प्रकट होता है। इस तरह माल के भीतर मौजूद उपयोग मूल्य और मूल्य का वैपरीत्य दो मालों, जिनमें से एक उपयोग मूल्य और दूसरा विनिमय मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है, के बीच बाहरी विरोध के रूप में सतह पर दिखाई पड़ता है। बाजार जैसी जगह पर किसी भी माल के अनेक संभव समतुल्य होंगे और उसी तरह उस माल के एकल समतुल्य के साथ सभी अन्य मालों के सापेक्षिक मूल्यों का संभावित संबंध होगा। विनिमय मूल्यों की यह बढ़ती हुई जटिलता मूल्य के सामान्य रूप को जन्म देती है। अंततः एक सार्वभौमिक समतुल्य पैदा होता है, कोई एक माल सामने आता है जो सिर्फ 'मुद्रा माल' की भूमिका निभाने लगता है। यह मुद्रा माल व्यापार व्यवस्था के दौरान, न कि उसके पहले पैदा होता है। इसलिए मुद्रा रूप के सुदृढ़ होने के लिए विनिमय संबंधों का प्रसार आवश्यक होता है। मार्क्स के समय यह भूमिका सोना या चांदी जैसी चीजें यह भूमिका निभाती थीं। इसी अनुभाग की एक और धारणा की ओर हमारा ध्यान हार्वे आकृष्ट करते हैं। मूल्य अभौतिक किंतु वस्तुगत होता है। मूल्य एक सामाजिक संबंध है और सभी सामाजिक संबंधों की तरह आप इसे देख या छू नहीं सकते लेकिन इसकी वस्तुगत मौजूदगी से इनकार नहीं कर सकते। अभौतिक होने के कारण मूल्य को प्रातिनिधिक साधन की जरूरत होती है। इसलिए मुद्रा प्रणाली के उदय यानी मुद्रा के रूप में पार्थिव प्रकटीकरण ही सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल के बतौर मूल्य को विनिमय संबंधों का नियामक बना देता है। मुद्रा आधारित विनिमय का उदय पूंजीवादी उत्पादन संबंध में सामाजिक रूप से आवश्यक

श्रम-काल को निर्देशक शक्ति बना देता है। हार्वे के मुताबिक बुनियादी निष्कर्ष यह है कि मूल्यों तथा मुद्रा के रूप में उनके प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया अंतर्विरोधों से भरी हुई है इसलिए यह कभी संपूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं होता। माल और मुद्रा के बीच का यह अंतर्विरोधी संबंध किसी भी वस्तु में निहित उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के विरोध का परिणाम होता है।

अनुभाग-4 जड़ वस्तु-पूजा से जुड़ा हुआ है और हार्वे के अनुसार इसकी शैली अनुभाग-3 की शैली से पूरी तरह से अलग यानी साहित्यिक है। यह अनुभाग मूल रूप से एक पाद टिप्पणी था, बाद में स्वतंत्र अनुभाग बना इसलिए मार्क्स के समूचे चिंतन के साथ इस धारणा के रिश्ते को लेकर दुबिधा रही है। जो लोग मार्क्स को ज्यादा आर्थिक सिद्ध करना चाहते हैं उनकी नजर में यह धारणा असुविधाजनक है जबकि जो उन्हें ज्यादा दार्शनिक मानते हैं उनके लिए यह धारणा सबसे अधिक महत्वपूर्ण रही है। खुद हार्वे मार्क्स की इस धारणा को उनकी किताब की महत्वपूर्ण धारणा मानते हैं क्योंकि यह अनेक प्रसंगों में बारंबार सामने आती है। सबसे पहले वे पहचानते हैं कि वस्तु पूजा कैसे पैदा होती है और पूंजीवादी आर्थिक-राजनीतिक जीवन में कैसे बुनियादी तथा अनिवार्य पहलू बन जाती है। इसके बाद वे इस बात की परीक्षा करते हैं कि आम तौर पर बुर्जुआ चिंतन और खास तौर पर क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र में इस जड़ वस्तु पूजा को गलत तरीके से प्रस्तुत किया जाता है। इसके जन्म की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए मार्क्स बताते हैं कि वस्तुओं के उत्पादक तब तक एक दूसरे के सामाजिक संपर्क में नहीं आते जब तक अपने श्रम से पैदा वस्तुओं में वे लेन देन नहीं करते यानी बाजार विनिमय के जरिए ही वे अपने निजी श्रम की सामाजिक विशेषताओं को जान पाते हैं। इसलिए उत्पादकों को अपने निजी श्रम के बीच का सामाजिक रिश्ता इस तरह का प्रतीत होता है मानो वह उनके मालों के बीच का सामाजिक रिश्ता हो। मार्क्स का मकसद यह बताना है कि कैसे वस्तुओं के विनिमय के जरिए बाजार व्यवस्था और मुद्रा रूप वास्तविक सामाजिक संबंधों को छिपा लेते हैं। यह जड़ वस्तु पूजा पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की अपरिहार्य स्थिति है। जैसे ही उत्पादन की अन्य पद्धतियों के बारे में आप सोचना शुरू करते हैं जड़ वस्तु पूजा की अनिवार्यता खत्म हो जाती है। मार्क्स का उद्देश्य पूंजीवाद के विकल्पों की तलाश को प्रेरित करना है।

इसके बाद हार्वे विनिमय की प्रक्रिया से संबंधित दूसरे अध्याय की शुरुआत यह बताकर करते हैं कि यह छोटा है तथा मुद्रा रूप से जुड़े हुए तीसरे अध्याय की पीठिका है। माल खुद ही बाजार में नहीं जाते, वे अपने 'संरक्षकों' को लेकर आते हैं। ये संरक्षक एक दूसरे को निजी संपत्ति के मालिकान मानते हैं। वे मनुष्य के बतौर नहीं मालों के प्रतिनिधि और मालिक के बतौर आपस में मिलते हैं। मार्क्स की किताब में लोग व्यक्ति की तरह नहीं, आर्थिक संबंधों की मूर्तियों के बतौर प्रकट होते हैं और ऐसा पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के चलते होता है। वे इन संबंधों को ढोने वालों की तरह एक दूसरे से मिलते हैं। मार्क्स की नजर लोगों की आर्थिक भूमिकाओं पर है इसलिए वे क्रेता और विक्रेता, कर्जखोर और कर्जदाता, पूंजीपति और मजदूर के बीच रिश्तों की परीक्षा करते हैं। सभी मालों का उनके मालिकों के लिए कोई उपयोग मूल्य नहीं होता और जो उनके मालिक नहीं होते उनके लिए वे उपयोगी होती हैं। असल में वस्तुएं मनुष्यों के लिए बाहरी और इसीलिए विनिमय होती हैं। माल का कानूनी स्वामित्व पूंजीवादी दुनिया में आपसी अलगाव और अपरिचय के सामाजिक महौल का सहवर्ती होता है।

तीसरा अध्याय मुद्रा पर केंद्रित है। स्पष्ट है कि माल विनिमय की प्रक्रिया में मुद्रा का उदय होता है। मुद्रा एकल धारणा है लेकिन इसके दोहरे काम, यानी खुद एक माल होना साथ ही अन्य मालों का पैमाना होना, में माल के भीतर मौजूद उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य

का अंतर्विरोध प्रतिबिंबित होता है। उसकी इन दोनों भूमिकाओं में तनाव रहता है। उदाहरण के लिए मूल्य के पैमाने के बतौर सोना बहुत बेहतर है लेकिन मालों के छोटे-छोटे लेन-देन के लिए असुविधाजनक है। मुद्रा के इसी अंतर्विरोध के हल के लिए पूंजी का जन्म होता है। जैसे मुद्रा की संभावना विनिमय की प्रक्रिया में साकार हुई थी उसी तरह पूंजी की संभावना मूल्य के पैमाने के बतौर मुद्रा और वितरण के साधन के बतौर मुद्रा के बीच अंतर्विरोध से साकार होती है। संक्षेप में इस अध्याय का यही कथ्य है।

इसके अनुभाग-1 में वे मूल्य और कीमत के बीच अंतर स्पष्ट करते हैं। वे बताते हैं कि 'मुद्रा' और 'मुद्रा माल' में अंतर होता है। वे मान लेते हैं कि सोना एकमात्र मुद्रा माल है जिसके रूप में, मालों में छिपे हुए श्रम-काल रूपी मूल्य के पैमाने का प्रकटीकरण होता है। मालों के मूल्य की जानकारी और पहचान उनके साकार प्रकटीकरण के बिना नहीं होती। अब एक पेंच पैदा होता है। सबसे पहले तो माल की कीमत तय होती है। मार्क्स का कहना है कि यह कीमत काल्पनिक होती है। जब कोई व्यक्ति माल बनाता है तो उसे बिना बाजार में भेजे उसके मूल्य को नहीं जान सकता। बाजार में उसे मूल्य की एक काल्पनिक धारणा के साथ भेजा जाता है। वही उसकी कीमत है। इस तरह संभावित खरीदार को अपने माल का वांछित मूल्य बताया जाता है। बेचने वाला इसके जरिए बाजार में अपने माल को मिलने वाली कीमत का अंदाजा जाहिर करता है। इस तरह काल्पनिक कीमत और बाजार में हासिल होने वाली असली कीमत के बीच खास किस्म का रिश्ता बनता है जिसमें हासिल कीमत को असली मूल्य होना चाहिए लेकिन वह मूल्य का अपूर्ण प्रकटीकरण, दिखाई देने वाला रूप होता है। हमें तलाश होती है मूल्य के मात्रात्मक प्रतिनिधि के बतौर नापने के स्थायी मानक की लेकिन मिलता है सोना जिसका मूल्य माल होने के नाते अपने रूप में साकार सामाजिक तौर पर आवश्यक श्रम-काल के बराबर होता है और यह स्थिर नहीं होता। उत्पादन की ठोस स्थितियों में हेर फेर से सोने के मूल्य में भी बदलाव आता है। उदाहरण के लिए 1848 में गोल्ड रश के चलते बाजार में सोने की आवक बढ़ जाने से इसका भाव गिर गया था तो बाकी सभी मालों का भाव ऊपर करना पड़ा था। मार्क्स का कहना है कि मूल्य के पैमाने के बतौर और कीमत के मानक के बतौर मुद्रा दो भिन्न काम संपादित करती है, इसे मूल्य के पैमाने और वितरण के माध्यम के रूप में विरोध से अलग समझना होगा। मुद्रा में मौजूद धातु का निश्चित भार ही कीमत का मानक होता है। धीरे-धीरे इस धातु भार के मुद्रा नाम अपने मूल भार नामों से अलग और स्वतंत्र हो जाते हैं। इस काम में हम राज्य की उपस्थिति की जरूरत देख सकते हैं। इसके अलावा मार्क्स कुछ और भी बातें उठाते हैं। एक तो यह कि किसी भी माल की कीमत जिस समय वह बाजार में बिकने के लिए लाया गया उस समय बाजार में संबंधित माल की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है, इसे ही क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र माल की 'प्राकृतिक' कीमत कहता है, लेकिन मार्क्स के अनुसार माँग और पूर्ति से किसी भी चीज की व्याख्या नहीं होती। दूसरी बात कि प्रतिष्ठा या अंतरूकरण जैसी चीजें भी माल की तरह खरीदी और बेची जा सकती हैं। अर्थात् वस्तुओं की कीमत उनके मूल्य के बगैर भी हो सकती है। बंजर जमीन की कीमत हो सकती है लेकिन मूल्य नहीं क्योंकि उसमें मानव श्रम साकार नहीं हुआ है। कुल मिलाकर यह कि मार्क्स मूल्य के श्रम सिद्धांत पर बहुत जोर देते हैं। उन्हें अपने समय में इसकी रक्षा की कोई कोशिश नहीं करनी पड़ी क्योंकि हार्वे के मुताबिक उनके समकालीनों में रिकार्डों की यह मान्यता संदेह से परे थी लेकिन आज मूल्य के श्रम सिद्धांत पर सवाल खड़े किए जा रहे हैं तो थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। इसकी रक्षा में मार्क्स शायद जोर देते

कि हमारे अस्तित्व के लिए असली उत्पादन यानी श्रम प्रक्रिया के जरिए प्रकृति का वास्तविक रूपांतरण आवश्यक है और यही भौतिक श्रम समस्त मानव जीवन के उत्पादन और पुनरुत्पादन का आधार है। यह मान लेना कि जिन चीजों का हम इस्तेमाल करते हैं वे धन की ताकत के सहारे बाजार से जादू के जोर पर आती हैं, माल की जड़ वस्तु पूजा के सामने पूरी तरह समर्पण कर देना है। इस जड़ पूजा के रहस्योद्घाटन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल के बतौर मूल्य की धारणा जरूरी है। माल की बाजार में कीमत उसके इसी मूल्य के इर्द-गिर्द चढ़ती उतरती रहती है।

अनुभाग-2 वितरण के साधन के बतौर मुद्रा पर विचार करता है। इसके शुरू में ही वे मालों के विनिमय की अंतर्विरोधी स्थितियों की याद दिलाते हैं। हार्वे के अनुसार मार्क्स उन तीन अंतर्विरोधी प्रक्रियाओं का जिक्र कर रहे हैं जो हैं-1. 'उपयोग मूल्य अपने विपरीत यानी मूल्य का साकार प्रकट रूप हो जाता है' 2. 'ठोस श्रम अपने विपरीत यानी अमूर्त मानव श्रम के प्रकटीकरण का रूप हो जाता है' और 3. 'निजी श्रम अपने विपरीत यानी प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम का रूप ले लेता है'। सोना ऐसा माल है जिसका खास उपयोग मूल्य है और जो कुछ लोगों द्वारा निजी तौर पर उत्पादित और अधिग्रहित होता है फिर भी ये विशेषताएँ गायब हो जाती हैं जब वह सार्वभौमिक मुद्रा माल के रूप में सामने आता है। माल के इस विकास में उसमें निहित अंतर्विरोध खत्म नहीं होते बल्कि उसे ऐसा रूप मिल जाता है जिसमें वे साथ ही बने रहते हैं। यही मार्क्स का द्वंद्ववाद है यानी वस्तुओं में निहित अंतर्विरोधों की मौजूदगी की पहचान। इसमें अंतर्विरोध हल नहीं होते, वृहत्तर पैमाने पर वे लगातार दोहराए जाते हैं। आभासी तौर पर उनका हल होता प्रतीत होता है। इस अनुभाग में वे विनिमय की प्रक्रिया को 'माल-मुद्रा-माल' संबंध के रूप में व्यक्त करते हैं। इसमें दो प्रक्रियाएँ शामिल हैं- माल से मुद्रा और फिर मुद्रा से माल में रूपांतरण। ऊपर से तो लगेगा कि ये दोनों समान हैं लेकिन ऐसा है नहीं। माल से मुद्रा वाली प्रक्रिया यानी बिक्री का मतलब है किसी माल विशेष के रूप का सार्वभौमिक समतुल्य यानी मुद्रा माल में रूपांतरण। यह विशेष की सामान्य की ओर गति है। आप माल लेकर बाजार गए लेकिन उस माल की किसी को जरूरत नहीं हो तो ? यहाँ विनिमय की प्रक्रिया को प्रभावित करने में माँग और माँग के उत्पादन संबंधी तमाम सवाल उठने लगते हैं। इस तरह माल से मुद्रा में रूपांतरण में जटिलता बहुत हद तक बाजार में मौजूद माँग और पूर्ति संबंधी तात्कालिक स्थितियों से पैदा होती है। बाजार विनिमय की अराजकता और अनिश्चितता इस रूपांतरण में मुश्किलें पैदा करती है। बिक्री के बाद दूसरी प्रक्रिया शुरू होती है यानी मुद्रा का माल में रूपांतरण। इसमें मुद्रा का माल में यानी सामान्य का विशेष में संक्रमण होता है। मुद्रा का मालिक बाजार में वैसी मुश्किल का सामना नहीं करता जैसी मुश्किल माल के मालिक को होती है। मुद्रा का मालिक कोई भी चीज पा सकता है क्योंकि उसके पास सार्वभौमिक समतुल्य है। विनिमय की इस प्रक्रिया में दोनों ओर से मुद्रा का हस्तक्षेप होता है। माल की खरीद और बिक्री में मुद्रा हरेक छिद्र से टपकती है। माल को बेचने से मिलने वाली मुद्रा को उसका मालिक संकट के लिए रोककर या बचाकर भी रख सकता है क्योंकि संकट के समय विशेष माल की बजाएँ मुद्रा अधिक कारगर होगी। अगर सभी ऐसा करें तो स्वाभाविक रूप से सामान्य संकट पैदा हो जाएगा। मार्क्स के तर्क का अगला चरण मुद्रा के वितरण का विश्लेषण है। इसी अध्याय के अंत में सांकेतिक मुद्रा पर विचार करते हुए अर्थतंत्र में राज्य की भूमिका तथा विश्व बाजार और विश्व मुद्रा की धारणा सामने आती है।

अनुभाग-3 मुद्रा पर विचार करता है। फिर से एक बार देखते हैं कि मार्क्स का कहना क्या है। उन्होंने मूल्य के पैमाने के बतौर मुद्रा की परीक्षा की थी और उसके काल्पनिक रूप कीमत तथा मूल्य के बीच अंतर्विरोध की बात की थी। वितरण के साधन के बतौर उसके अंतर्विरोधों का उद्घाटन करते हुए सामान्य संकट की संभावना का जिक्र किया था। इसके बाद वे कहते हैं कि लेकिन मुद्रा तो एक ही है जो मूल्य का पैमाना और वितरण का माध्यम है। वितरण की प्रक्रिया में माल का मुद्रा में रूपांतरण होता है। अब यह मुद्रा रूप विनिमय की मध्यस्थता की जगह खुद ही साध्य हो जाता है। मालों का विक्रेता मुद्रा का जखीरेबाज बन जाता है। जखीरेबाजी की एक वजह मुद्रा की ताकत को इकट्ठा करना तो है ही इसका एक अन्य सामाजिक कारण भी होता है। किसान विक्रेता फसल की बिक्री के समय ही होता है लेकिन खरीदार तो दैनिक होता है इसलिए मुद्रा का एक और काम यानी भुगतान भी इससे जुड़ जाता है। इसी के साथ मार्क्स मुद्रा की एक विशेषता को उजागर करते हुए कहते हैं कि मुद्रा ऐसी सामाजिक शक्ति है जो व्यक्तियों की निजी शक्ति बन जा सकती है। यहाँ आकर हम यह देखते हैं कि पहले मार्क्स ने उस प्रक्रिया का वर्णन किया था जिसमें श्रमिक का निजी श्रम एक सार्वभौमिक समतोल के उत्पादन में संलग्न था अब वे उलटी प्रक्रिया समझा रहे हैं जिसमें व्यक्ति इस सार्वभौमिक समतोल को निजी मकसद से अधिग्रहित कर सकता है। हम वर्गीय शक्ति को मुद्रा के रूप में निजी हाथों में केंद्रित होता हुआ देखने लगते हैं। यह इतिहास के सभी समाजों की नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन है। मुद्रा सभी समुदायों का विनाश करके महज एक ही समुदाय पैदा करती है- मुद्रा का समुदाय। मुद्रा की जखीरेबाजी की मात्रा की सीमा और गुण की सीमाहीनता के अंतर्विरोध से संचय का जन्म होता है। ध्यान देने की बात है कि संचय की धारणा पर मार्क्स मुद्रा की जखीरेबाजी में निहित अंतर्विरोध के उद्घाटन के जरिए पहुँचते हैं। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति बुनियादी रूप से अनंत संचय और असीम वृद्धि पर आधारित है। मार्क्स मुद्रा के शक्ति संचय की असीम संभावना और उपयोग मूल्य के संचय की प्रत्यक्ष सीमा के बीच अंतर्विरोध से अपना तर्क निर्मित करते हैं। भुगतान के साधन के रूप में मुद्रा के उपयोग की जो बात हुई थी उसी के क्रम में कर्ज लेने देने की व्यवस्था सामने आती है और पूँजी के वितरण की प्रक्रिया शुरू होती है। जो बात माल-मुद्रा-माल के चक्र से शुरू हुई थी, वह मुद्रा-माल-मुद्रा के चक्र तक आती है जिसमें मुद्रा का इस्तेमाल ज्यादा मुद्रा प्राप्त करने के लिए होने लगता है। इस तरह पूँजीवादी समाज के जन्म और विकास की कहानी सामने आती है जो माल विनिमय के प्रसार के साथ क्रमशः आगे बढ़ा है।

हार्वे की इस पुस्तक का तीसरा अध्याय और मार्क्स की पुस्तक का दूसरा भाग पूँजी से श्रम-शक्ति तक की यात्रा है। हार्वे बताते हैं कि मार्क्स ने शुरूआत माल-माल के वस्तु विनिमय से की फिर माल-मुद्रा-माल के मुद्रा की मध्यस्थता वाले विनिमय से होते हुए मुद्रा-माल-मुद्रा वाली विनिमय की अवस्था तक पहुँचे। इसमें पहले के विनिमय से अंतर यह था कि जितनी मुद्रा चक्र के आरंभ में डाली गई उतनी ही वापस नहीं आती, बल्कि कुछ बढ़कर लौटती है। मुद्रा की यह बढ़ी हुई मात्रा ही अतिरिक्त मूल्य है। सवाल खड़ा होता है कि जब मुद्रा से माल लिया गया और फिर माल देकर मुद्रा अर्जित की गई तो दोनों ही लेन देन समान थे फिर यह अतिरिक्त मुद्रा कहाँ से आई। मार्क्स का कहना है कि अगर विनिमय के नियमों का पालन सही सही हो रहा है तो इस परिघटना की व्याख्या के लिए ऐसा माल होना चाहिए जो अपने मूल्य से अधिक मूल्य पैदा करने की क्षमता से युक्त हो। मार्क्स की किताब के इस दूसरे भाग के अंत में इस सवाल का जवाब श्रम-शक्ति के रूप में इस माल की पहचान से दिया गया

है। संक्षेप में यही इस भाग के तीन अध्यायों में कहा गया है। इस तरह माल विनिमय से आगे बढ़कर बात पूँजी संचरण तक आती है।

इसके साथ ही एक और कहानी भी इन तीन अध्यायों में कही गई है। ग्रुंडिस में मार्क्स कहते हैं कि उत्पादन का सबसे विकसित और सर्वाधिक जटिल ऐतिहासिक संगठन बुर्जुआ समाज है इसलिए इसके संबंधों को व्यक्त करने वाली कोटियाँ और इसकी संरचना की समझ हमें इसके पहले के सभी लुप्त सामाजिक रूपों के उत्पादन संबंधों और संरचनाओं के बारे में उसी तरह अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं जैसे मनुष्य का शरीर रचना विज्ञान हमें बंदर की शरीर रचना की जानकारी देता है। लेकिन हार्वे की टिप्पणी के अनुसार इसका अर्थ यह नहीं है कि बुर्जुआ अर्थतंत्र की कोटियाँ सभी किस्म के समाजों के लिए सच हैं। बुर्जुआ क्रांति ने पहले के सभी तत्त्वों को बुनियादी रूप से बदलकर ही उन्हें नया जीवन दिया है इसलिए हम पूँजीवाद से पहले की इन संरचनाओं को नई रोशनी में देख सकते हैं।

इन तीन अध्यायों में से पहला अध्याय एक ऐतिहासिक वक्तव्य से शुरू होता है कि विश्व बाजार और विश्व व्यापार का आरंभ सोलहवीं सदी से होता है और तभी से पूँजी का आधुनिक इतिहास भी अपने पन्ने खोलना शुरू करता है तथा माल संचरण पूँजी के प्रथम रूप का साकारिकरण है। स्वाभाविक है कि इतिहास का इतना बड़ा फलक जिसके सामने हो वही साम्यवादी समाज से पहले के समस्त इतिहास को मानवता का प्राक-इतिहास कह सकता है। वे इस बात की परीक्षा करते हैं कि सामंतवाद से पूँजीवाद में संक्रमण के दौरान पूँजी ने भू-संपत्ति की ताकत का कैसे मुकाबला किया। वे पाते हैं कि इस संक्रमण में पूँजी के दो रूपों- व्यापारिक पूँजी और सूदखोर पूँजी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पूँजी के ये रूप 'आधुनिक' औद्योगिक रूप से अलग थे। सामंती व्यवस्था और भू-संपत्ति की ताकत का खात्मा बहुत हद तक व्यापारिक और सूदखोर पूँजी की ताकत के जरिए हुआ। खासकर सूदखोर पूँजी में मुद्रा और उसके मालिकान की स्वतंत्र सामाजिक शक्ति दिखाई पड़ती है जो पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में सामाजिक तौर पर जरूरी होती है। इसी शक्ति के बल पर सूदखोरों ने सामंतवाद को घुटने टेकने के लिए मजबूर किया। इसके बाद वे अपने मूल विषय की ओर लौटते हैं और बताते हैं कि मुद्रा-माल-मुद्रा के संचरण में जब मुद्रा अपना मौलिक मूल्य तो बरकरार रखती ही है, एक अतिरिक्त मूल्य भी जोड़ लेती है तो उसे ही पूँजी कहा जाएगा। इस तरह पूँजी कोई वस्तु नहीं, बल्कि मूल्य संचरण की एक प्रक्रिया है। पूँजी की यह प्रक्रियापरक परिभाषा बेहद महत्वपूर्ण है और क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र से अलग है क्योंकि क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र में पूँजी को संपदा का जखीरा समझा जाता है। पारंपरिक अर्थशास्त्र में तो इसे उत्पादन का एक कारक मात्र माना जाता है। मार्क्स की परिभाषा के अनुसार समस्त मुद्रा पूँजी नहीं है। अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने के बाद वह पूँजी बनती है। सवाल उठता है कि आखिर वह कितना अतिरिक्त मूल्य अर्जित कर सकता है। पहले ही वे बता चुके हैं और उसे दोहराते हैं कि मुद्रा के शक्ति-संचय की संभावना असीम होती है। इसी मुद्रा का मालिक पूँजीपति कहलाता है जिसका फौरी मकसद उपयोग मूल्य कभी नहीं होता, उपयोग मूल्य का उत्पादन वह महज विनिमय मूल्य हासिल करने के लिए करता है। पूँजीपति के अस्तित्व का लक्ष्य इसी अतिरिक्त मूल्य का अर्जन है जिसे लोकप्रिय भाषा में मुनाफा कहा जाता है। वे कहते हैं कि पूँजी गतिमान मूल्य है जो अलग अलग रूपों में दिखाई पड़ता है। कभी मुद्रा के रूप में तो कभी माल के रूप में। यह बारंबार संचरण में प्रवेश करती है और थोड़ा अधिक होकर बाहर निकलती है। अब वे फिर व्यापारिक और सूदखोर पूँजी पर लौटते हैं और हम देखने लगते हैं कि सस्ता खरीदकर महंगा बेचने में

मुनाफा प्राप्त होता है और सूदखोरी में मुद्रा ही अधिक मुद्रा अर्जित करती है। इस तरह औद्योगिक, व्यापारिक और सूदखोर, पूँजी के इन सभी रूपों में सामान्य तत्त्व मुद्रा की निश्चित मात्रा का संचरण की प्रक्रिया में इजाफा है। इसे ही वे पूँजी का सामान्य सूत्र कहते हैं। संचरण के इसी रूप की परीक्षा करने से उसकी बढ़ोत्तरी का रहस्योद्घाटन होगा।

अगला अध्याय संचरण के इस रूप के अंतर्विरोधों की जाँच परख के जरिए इस सवाल का जवाब पाने की कोशिश है कि यह अतिरिक्त मूल्य कहाँ से आता है। नियमों के मुताबिक तो मुद्रा से माल और माल से मुद्रा में संक्रमण में बराबरी होनी चाहिए। हो सकता है कि कीमत और मूल्य में थोड़ा अंतर हो और किसी को घाटा उठाना पड़े लेकिन ऐसी चीजें माल विनिमय के नियमों का उल्लंघन ही होती हैं। कुछ अर्थशास्त्री मूल्य की इस बढ़ोत्तरी को उपयोग मूल्यों के क्षेत्र में खोज रहे थे लेकिन मार्क्स कहते हैं कि विनिमय मूल्य की दुनिया की समस्या को उपयोग मूल्य की दुनिया में नहीं हल किया जा सकता। अतिरिक्त मूल्य की इस समस्या को हल करने के लिए साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक लूट का हवाला भी दिया जा सकता है लेकिन मार्क्स की नजर में पूँजीवाद के अस्तित्व के लिए उपनिवेश अनिवार्य नहीं होते। मूल्य की इस घटत बढ़त को विनिमय की समानता के भीतर से ही पैदा होना चाहिए। कोई ऐसी बात जरूर होनी चाहिए जिससे सभी पूँजीपतियों को यह अतिरिक्त मूल्य हासिल होता है। इसे उत्पादन की प्रक्रिया में ही खोजना होगा तभी पूँजीवाद के अन्य रूपों, व्यापारिक और सूदखोर पूँजी, पर औद्योगिक पूँजीवाद की बरतरी साबित होगी।

इस अंतर्विरोध का समाधान श्रम-शक्ति की खरीद बिक्री में मिलता है। श्रम-शक्ति को माल बनने के लिए उसके मालिक के पास उसे बेचने की आजादी होनी चाहिए। दास और भू-दास से वह इसी मामले में अलग होता है कि वह खुद को नहीं, बल्कि मूल्य पैदा करने की अपनी शारीरिक, मानसिक और मानव क्षमता का सौदा करता है। पूँजीपति को भी मजदूर नहीं, एक निश्चित समय के लिए श्रम की या मूल्य पैदा करने की उसकी क्षमता हासिल होती है। मार्क्स इस सवाल पर ध्यान नहीं देते कि आखिर मजदूर अपनी यह क्षमता बेचता क्यों है लेकिन एक बात जरूर कहते हैं कि ऐसा यानी एक ओर तो मुद्रा या माल के स्वामी और दूसरी ओर श्रम-शक्ति के अलावा किसी तरह की संपत्ति से हीन मनुष्य का होना, प्राकृतिक नहीं है, प्रकृति के इतिहास में तो ऐसा अनिवार्य नहीं ही है, मानव इतिहास के भी सभी समयों के लिए सत्य नहीं है। सामाजिक उत्पादन की सारी पुरानी पद्धतियों को नष्ट कर देने वाली आर्थिक क्रांतियों के साथ ही ऐसा घटित हुआ है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के जन्म के साथ यह हुआ है। बहरहाल श्रम-शक्ति ऐसा एकमात्र माल है जो मूल्य पैदा कर सकता है। श्रम-शक्ति का संचरण माल-मुद्रा-माल के रूप में होता है यानी वह अपनी श्रम-शक्ति को बेचकर मुद्रा अर्जित करता है और उसके जरिए फिर भरण पोषण के लिए माल खरीदता है। इस विनिमय में उपयोग मूल्य महत्वपूर्ण है। दूसरी ओर पूँजी मुद्रा-माल-मुद्रा के रूप में संचरण करती है। इसमें भी वह मुद्रा का भुगतान श्रम-शक्ति का उपभोग कर लेने के बाद करता है। श्रम-शक्ति के उपभोग की प्रक्रिया मालों और अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन की प्रक्रिया है।

अतिरिक्त मूल्य को समझने के लिए जानना होगा कि माल के रूप में श्रम-शक्ति का मूल्य कैसे तय होता है। मार्क्स कहते हैं कि इसका मूल्य इसके उत्पादन और पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल से तय होता है। श्रम-शक्ति के बने रहने के लिए जरूरी भरण पोषण की चीजों के उत्पादन में लगा हुआ श्रम काल ही उसका मूल्य है। एक नजर में यह सूत्र बहुत साधारण लगता है लेकिन जरूरत के निर्धारण में कुछ खास चीजों की ओर ध्यान देना होगा। ये जरूरतें काम की प्रकृति और विभिन्न देशों की जलवायु के हिसाब से भिन्न हो सकती हैं।

इसके अलावा जरूरतें और उनके पूरा करने का तरीका संबद्ध देशों की सभ्यता के स्तर से भी तय होता है। यानी श्रम-शक्ति का मूल्य वर्ग संघर्षों के इतिहास से भी जुड़ा हुआ है।

इसके बाद का अगला अध्याय श्रम प्रक्रिया और अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन पर विचार करता है। हार्वे का कहना है कि इस अध्याय में शुरू के दसक पृष्ठ अब तक की पद्धति से अलग हैं। अब तक मार्क्स सभी चीजों पर पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के संदर्भ में विचार कर रहे थे लेकिन इन पृष्ठों में वे श्रम प्रक्रिया पर इस तरह विचार करते हैं कि उसे किसी भी पद्धति के साथ लागू किया जा सकता है। वे कहते हैं कि मानव श्रम ऐसी शाश्वत प्राकृतिक अनिवार्यता है जो मनुष्य और प्रकृति के बीच आपसी चयापचय की और इसीलिए खुद मानव जीवन की मध्यस्थता करती है। हार्वे का कहना है कि मार्क्स के कथन को ऐसे ढाँचे में नहीं देखना चाहिए जिसमें मनुष्य और प्रकृति, संस्कृति और प्रकृति, कुदरती और बनावटी, मानसिक और शारीरिक में साफ़ विभाजन मान लिया जाता है। मार्क्स की नजर में श्रम प्रक्रिया में ऐसा कोई स्पष्ट विभाजन नहीं होता, यह प्रक्रिया एक ही साथ पूरी तरह मानवीय और पूरी तरह प्राकृतिक होती है। लेकिन इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने आस-पास की दुनिया के साथ सक्रिय संबंध बनाता है, जो प्रकृति की ही एक शक्ति का प्राकृतिक सामग्री के साथ सामना होता है। मनुष्य अपने शरीर के विभिन्न अंगों का प्रयोग करके प्राकृतिक सामग्री को अपनी जरूरत के मुताबिक ढालता है। इस तरह वह प्रकृति को तो बदलता ही है, अपने आपको भी साथ ही बदलता है। अपने आपको बदले बिना आस-पास की दुनिया को बदलना संभव नहीं है। उसी तरह आस-पास की दुनिया को बदले बिना अपने आपको बदलना संभव नहीं है। इसमें प्रकृति का बाह्यीकरण और सामाजिक का अभ्यंतरीकरण शामिल है। मानव समाज और प्रकृति के विकास को इसी तरह समझा जा सकता है, लेकिन मनुष्य के अलावा अन्य जीव जंतु भी प्रकृति के साथ इसी तरह के द्वंद्वत्मक रिश्ते बनाते हैं। इनके बीच अंतर को रेखांकित करते हुए मार्क्स कहते हैं कि मनुष्य किसी भी चीज को पहले अपने दिमाग में बनाता है, उसके बाद उसे निर्मित करता है।

हार्वे इसे महत्वपूर्ण स्थापना मानते हैं। उनके मुताबिक मार्क्स मनुष्य की उत्पादक गतिविधि में विचार के, कल्पना के क्षण को जरूरी मानते थे। किंतु यह कल्पना आकाशी नहीं होती, मनुष्य की कल्पनाशीलता प्रकृति की उपलब्ध सामग्री से नियंत्रित होती है। काम की प्रकृति के प्रति आकर्षण ही उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को मुक्त अवकाश देता है और उसका मन लगाता है। मार्क्स का कहना है कि विचार भी किन्हीं अर्थों में पूरी तरह प्राकृतिक होते हैं। वे प्रकृति के साथ चयापचयिक संबंध से पैदा होते हैं और इसके निशान हमेशा उन पर बने रहते हैं। दुनिया के बारे में हमारी मानसिक धारणाएँ हमारे भौतिक अनुभवों से विच्छिन्न नहीं होतीं, लेकिन इस आंतरिक संबंध का अपरिहार्य बाह्यीकरण होता है। जिस बाह्य जगत का हम रूपांतरण करना चाहते हैं उस भौतिक दुनिया से हमारी मानसिक धारणाएँ बाहरी संबंध बनाती हैं। इस बाह्यीकरण की प्रक्रिया में हमारी धारणाओं का दुनिया से रिश्ता उसी तरह टूट जाता है और संकट पैदा हो जाता है जैसे मुद्रा प्रणाली का मूल्य यानी सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम से संबंध टूट जाने से संकट पैदा हो जाता है। हार्वे के अनुसार यह धारणा मार्क्स के चिंतन के हाशिए पर नहीं, केंद्र में है।

मार्क्स श्रम प्रक्रिया के तीन तत्त्व गिनाते हैं—सोद्देश्य गतिविधि के रूप में श्रम, वह वस्तु जिस पर श्रम किया जाए और वे उपकरण जिनसे यह क्रिया संपन्न हो। जिस वस्तु पर श्रम किया जाता है वह शुद्ध प्रकृति या भूमि है जो कच्चे माल से अलग है क्योंकि कच्चा माल दुनिया का वह पहलू है जिसे मानव श्रम के जरिए अंशतः रूपांतरित किया जा चुका है। इसी

तरह का भेद उपकरणों के मामले में भी किया गया है जहाँ डंडा या पत्थर जैसी चीजों को भी मनुष्य अपने उपयोग के लिए छुरी या कुल्हाड़ी में बदल लेता है। श्रम के इन उपकरणों में रूपांतरण हमारे सामाजिक संबंधों को प्रभावित करते हैं और उनसे प्रभावित भी होते हैं। यानी तकनीक और सामाजिक संबंधों में द्वंद्वत्मक संबंध होता है। इस बात को मार्क्स बाद में व्याख्यायित करते हैं। श्रम प्रक्रिया को अगर श्रमिक की ओर से देखा जाए तो यह एक चलायमान गति होती है लेकिन उत्पाद की ओर से देखने पर स्थिर, वस्तु का जड़ रूप प्रतीत होती है। जैसे पूँजी संचरण की प्रक्रिया है वैसे ही श्रम निर्माण की प्रक्रिया है। यह उपयोग मूल्य का निर्माण करता है लेकिन पूँजीवाद के तहत इसका अर्थ माल के रूप में दूसरों के लिए उपयोग मूल्य का निर्माण हो जाता है। इस उपयोग मूल्य का तत्काल उपयोग आवश्यक नहीं, इसका भविष्य के लिए ढाँचागत वस्तुओं के रूप में भंडारण भी हो सकता है। श्रम की दैनिक क्रिया के अलावा उत्पादों और वस्तुओं के रूप में एकत्र अतीत का यह श्रम भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लेकिन अतीत का यह संचित श्रम जीवित श्रम के संपर्क में आने पर ही अपना योगदान कर पाता है। इसी आधार पर निजी उपभोग और उत्पादक उपभोग में अंतर समझा जा सकता है। पूरी तरह से नए उपयोग मूल्य के निर्माण के लिए वर्तमान श्रम प्रक्रिया द्वारा अतीत के श्रम का उपभोग उत्पादक उपभोग है, जबकि मनुष्य द्वारा स्वयं के पुनरुत्पादन के उपभोग निजी उपभोग है। श्रम प्रक्रिया के बारे में ये आम बातें सपष्ट करने के बाद मार्क्स पूँजीवादी श्रम प्रक्रिया के बारे में विचार करते हैं।

श्रम-शक्ति की खरीदारी के बाद मजदूर को पूँजीपति के नियंत्रण में काम करना होता है। जितनी देर का सौदा हुआ होता है उतनी देर के लिए श्रम-शक्ति का मालिक पूँजीपति होता है। दूसरी बात कि इस दौरान की मेहनत से श्रमिक जो कुछ पैदा करता है उसका मालिक भी पूँजीपति ही होता है। पूँजीपति ने जिन भी चीजों को खरीदा था उनके उपयोग मूल्य का उपभोग करता है। श्रम प्रक्रिया में मजदूर की मेहनत लगातार रूपांतरित होती रहती है। उसकी गति के साकार होने के परिणामस्वरूप किसी वस्तु का जन्म होता है। काम खत्म होने पर पूँजीपति को पता चलता है कि उसने मजदूर को जितना भुगतान किया था उससे अधिक का उत्पाद उसे मिल गया है। इसके स्रोत के बारे में तमाम किस्म के झूठ का भंडाफोड़ करते हुए मार्क्स इसका असली स्रोत चिन्हित करते हैं। श्रमिक ने अपनी श्रम-शक्ति बेची, मुद्रा पाई और उस मुद्रा से जीने के लिए जरूरी माल खरीदा। इन मालों की लागत भर काम तो उसने कुछ ही घंटों में कर लिया था। श्रम शक्ति को बनाए रखने की दैनिक लागत और रोज उसके द्वारा मूल्य पैदा करना दो बातें हैं। आधे दिन के काम से ही मजदूर दिन भर जिंदा रहने लायक पैदा कर लेता है लेकिन काम उसे पूरे दिन करना होता है। श्रम-शक्ति को खरीदते समय यही बात पूँजीपति के ध्यान में रहती है। श्रम-शक्ति रूपी माल का यही विशेष उपयोग मूल्य पूँजीपति के लिए निर्णायक होता है कि यह न केवल मूल्य का बल्कि अपने से अधिक मूल्य का स्रोत होता है। मार्क्स के शब्दों में श्रम-शक्ति रूपी माल का विक्रेता किसी भी माल की तरह इसके विनिमय मूल्य को साकार करता है और इसके उपयोग मूल्य को अलगाता है। पूँजीपतियों की कुल भलमनसाहत के बावजूद उनका व्यवहार आपसी होड़ से तय होता है। अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को हासिल और उसके श्रम के उत्पाद में अंतर से जनमता है। श्रमिकों को उनकी श्रम-शक्ति के लिए मजूरी दी जाती है और फिर पूँजीपति उन्हें इस तरह काम पर लगाता है कि वे न केवल अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य का पुनरुत्पादन करते हैं, बल्कि अतिरिक्त मूल्य का भी उत्पादन करते हैं। पूँजीपति के लिए श्रम-शक्ति का उपयोग मूल्य यही अतिरिक्त मूल्य पैदा करने की उसकी क्षमता है। इसे हड़पने के लिए पूँजीपति मजदूर के एक-एक क्षण का दोहन

करते हैं। ये क्षण ही पूँजीपति के मुनाफे के घटक हैं। इसीलिए श्रम प्रबंधन में ज्यादा से ज्यादा समय तक मजदूर को काम में लगाए रखना मुख्य मकसद होता है।

आगे के दो अध्यायों में मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के इस सिद्धांत को स्पष्ट और ठोस बनाते हैं। इसमें वे पहले चल पूँजी और अचल पूँजी के बीच अंतर स्पष्ट करते हैं। अचल पूँजी अतीत का वह श्रम है जो उत्पादन के साधनों के रूप में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं में साकार हुआ है और इसका प्रयोग वर्तमान श्रम प्रक्रिया के दौरान होता है। उत्पादन के इन साधनों का मूल्य प्रदत्त है और नई श्रम प्रक्रिया से पैदा होने वाले माल में वह स्थानांतरित हो जाता है। यह मूल्य मशीन या कच्चा माल पैदा करने वाले उद्योगों की उत्पादकता के अनुसार बदलता है इसलिए इसे अचल कहने का मतलब जड़ कहना नहीं है। असल में अतीत के श्रम से निर्मित कच्चे माल, अधबने उत्पादों और मशीनों आदि में निहित मूल्य को वर्तमान श्रम संरक्षित रखता है। इन चीजों से अपने आप मूल्य नहीं पैदा हो सकता। हार्वे के मुताबिक यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि अक्सर मान लिया जाता है कि मशीन मूल्य का स्रोत होती है लेकिन मार्क्स ऐसा नहीं मानते। वे कहते हैं कि श्रम प्रक्रिया के दौरान मशीन का मूल्य माल में चला आता है। चल पूँजी मजदूर को किराए पर रखने के लिए चुकाई गई रकम है। अगर यह नहीं हो तो अचल पूँजी का मूल्य शून्य हो जाता है यानी मजदूर मशीन के साथ काम करने से इनकार कर दें तो वे बेकार हो जाएँगी। मजदूर अपनी इस ताकत का इस्तेमाल भी कभी-कभी करते हैं। दरअसल अतिरिक्त मूल्य पर मजदूर का ज्यादा अधिकार इस तर्क से बनता है।

माल का समूचा मूल्य तीन चीजों से मिलकर बनता है—चल पूँजी, अचल पूँजी, अतिरिक्त पूँजी। श्रम प्रक्रिया में सक्रिय तत्त्व केवल चल पूँजी है। मार्क्स श्रम-शक्ति के शोषण की सटीक अभिव्यक्ति के लिए तरह तरह की कोशिशें करते हैं। सबसे पहले वे अचल पूँजी और चल पूँजी के अनुपात पर विचार करते हैं और पाते हैं कि यह श्रम की उत्पादकता का पैमाना है। फिर वे अतिरिक्त मूल्य और चल पूँजी के अनुपात पर विचार करते हैं और पाते हैं कि यह श्रम-शक्ति के शोषण की दर का पैमाना है। अंततः मुनाफे की दर पर वे विचार करते हैं और इसे अचल पूँजी चल पूँजी से अतिरिक्त मूल्य के अनुपात के रूप में चिन्हित करते हैं। मुनाफे की दर शोषण की दर से अलग है। मुनाफे की दर शोषण की दर से हमेशा कम रहती है यानी मुनाफा कम होने से भी शोषण की दर अधिक हो सकती है या होती ही है। मजदूरों के नजरिए से ज्यादा जरूरी शोषण की दर को समझना है। हम जानते हैं कि अतिरिक्त मूल्य का स्रोत मजदूर द्वारा अपने पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम से अधिक समय तक किया हुआ श्रम है। कोई तरीका नहीं है जिससे जाना जा सके कि काम का कौन सा हिस्सा अतिरिक्त श्रम पैदा कर रहा है क्योंकि मानव श्रम निरंतर जारी प्रक्रिया है।

यही वह जगह है जहाँ से काम के दिन की लंबाई से जुड़े हुए अगले अध्याय में प्रवेश कर सकते हैं जिसे लेकर दोनों पक्षों में लगातार खींच तान चलती रहती है। इसी अध्याय में पहली बार वर्ग संघर्ष का जिक्र होता है। इस अध्याय की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें सिद्धांत कम, ऐतिहासिक विवरण अधिक हैं। असल में काम के दिन की लंबाई को लेकर चले वर्ग संघर्ष पर मार्क्स की नजर है और वे इसे राजनीतिक अर्थशास्त्र का विचारणीय विषय बनाना चाहते थे। शुरू में ही वे कहते हैं कि मूल्य के श्रम सिद्धांत और श्रम-शक्ति के मूल्य में काफ़ी अंतर है। मूल्य के श्रम सिद्धांत में देखा जाता है कि मजदूर माल में किस तरह सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम काल को जमा देते हैं जबकि श्रम-शक्ति ऐसा माल है जिसके कुछ ऐतिहासिक और नैतिक तत्त्व हैं। यह अंतर न होने से बुनियादी गलतफहमी हो सकती है। श्रम-शक्ति की खरीद तो बाजार में हुई थी लेकिन काम के दिन की लंबाई तय नहीं हुई थी। इसकी अधिकतम

लंबाई की प्राकृतिक सीमा 24 घंटा है क्योंकि मजदूर को बौद्धिक और सामाजिक जरूरतों के लिए समय चाहिए होता है। पूँजीपति का कहना है कि उसने श्रम-शक्ति की कीमत चुकाई है इसलिए वह मनचाहे समय तक इसका इस्तेमाल करने का हकदार है। दूसरी ओर मजदूर का कहना है कि श्रम-शक्ति उसकी संपत्ति है और भविष्य के लिए वह इसका उपयोग सुरक्षित रखना चाहता है, पूँजीपति को हक नहीं कि इसे एक ही दिन में चूसकर उसकी क्रियाशील जिंदगी घटा दे। उसे तो सामान्य लंबाई का काम का दिन चाहिए। पूँजीपति अगर काम का दिन अधिकतम संभव लंबाई का चाहता है तो खरीदार के रूप में नाजायज नहीं कर रहा, उसी तरह मजदूर अगर उसे घटाकर सामान्य लंबाई पर लाना चाहता है तो विक्रेता के रूप में सही कर रहा है।

मार्क्स का जोर शायद इस बात पर है कि इसका समाधान सही-गलत यानी अधिकार या कानून से नहीं, वर्ग संघर्ष के जरिए होता है जिसमें निर्णायक तत्त्व 'बल' है। आर्थिक सवालों पर श्रम या पूँजी में से किसी एक के पक्ष में खड़ा हुए बिना कोई फैसला संभव नहीं होता। मार्क्स के मुताबिक 'बल' का अर्थ हमेशा भौतिक बल नहीं होता, इस अध्याय में प्रमुखता से राजनीतिक बल की बात की गई है यानी ऐसे राजनीतिक संश्रय और संस्थाएँ बनाने की क्षमता, जो राजकीय मशीनरी को सामान्य लंबाई का काम का दिन तय करने के लिए बाध्य कर सकें। हार्वे ने इस अध्याय के प्रसंग में ठीक ही 'लुई बोनापार्ट की अठारहवीं ब्रूमेर' को याद किया है जिसमें वर्ग संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष के रूप में समझाया गया है।

काम के दिन की लंबाई पर मार्क्स के जोर का कारण है कि पूँजीवाद के लिए समय ही 'मुद्रा' है (टाइम इज मनी)। काम के दिन के सवाल पर वर्ग संघर्ष का इतिहास इस टिप्पणी के साथ शुरू होता है कि शासक वर्ग के फायदे के लिए अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त उत्पाद का अधिग्रहण केवल पूँजीवादी समाज में नहीं होता, लेकिन इस व्यवस्था के तहत अतिरिक्त श्रम को अतिरिक्त मूल्य में बदल दिया जाता है। इससे महत्त्वपूर्ण अंतर आ जाता है क्योंकि पहले ही वे बता चुके हैं कि मुद्रा के रूप में मूल्य संचय की कोई सीमा नहीं होती। यह अधिग्रहण चूँकि मजूरी श्रम वाले समाज में होता है इसलिए अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन को मजदूर उसी तरह नहीं महसूस करते जिस तरह भूदास और गुलाम अपने अतिरिक्त श्रम को महसूस करते हैं। उदाहरण के बतौर मार्क्स मध्य यूरोप की कोर्वी प्रणाली का जिक्र करते हैं जो बहुत कुछ बँधुआ श्रम की तरह की थी। इसमें मजदूर एक निश्चित संख्या के कार्य दिवस भूमालिक की जमीन पर काम करता था, इसलिए अतिरिक्त श्रम का अधिग्रहण पूरी तरह पारदर्शी हुआ करता था। जब 1831 में रूस में भूदास आजाद किए गए तो काम के दिन की परिभाषा लचीली बना दी गई जिसके तहत एक दिन का काम असली दिन से नहीं बल्कि निर्धारित काम से नापा जाने लगा। साल के 365 दिन काम के 12 दिनों के बराबर होते थे। काम के दिन की यह धारणा 'पूँजी' में बार-बार सामने आती है। सामाजिक उद्देश्य के तहत समय के पैमाने को बढ़ाया-घटाया जा सकता है। जब वर्ग संबंधों का बुनियादी तत्त्व अतिरिक्त श्रम-काल का दोहन हो जाता है तो समय की धारणा, उसे नापने वाला और नापने वाले की समझ का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

इस अध्याय में ब्रिटेन में उन्नीसवीं सदी के फैक्ट्री कानूनों पर ध्यान केंद्रित किया गया है जिनका मकसद राज्य द्वारा काम के दिन की सीमा तय करके श्रम-शक्ति के असीम दोहन पर लगाम लगाना था, लेकिन इस राज्य पर पूँजीपतियों और जमींदारों का ही आधिपत्य था। आखिर उन्हीं के शासन में चलने वाला राज्य काम के दिन की लंबाई को कम करने के लिए सहमत क्यों हुआ? अब तक तो मजदूर और पूँजीपति ही दिखाई पड़ रहे थे, उनके बीच जमींदार

कहाँ से आया? मार्क्स देखना चाह रहे थे कि जब मजदूरों की सीधी पहुँच राजसत्ता तक नहीं होती तो मौजूदा वर्ग संश्रय कैसे काम कर सकते हैं। उन्नीसवीं सदी में इंग्लैंड के राज्यतंत्र में पूँजीपतियों और जमींदारों का शक्ति संबंध था इसलिए भूमिधर कुलीनता की भूमिका पर ध्यान दिए बिना उस समय की राजनीति का विश्लेषण असंभव था। मजदूर वर्ग आंदोलन की ताकत पृष्ठभूमि में थी। राज्य को चिंता थी कि अगर राष्ट्रीय संपदा के सृजन में भूमि की तरह ही मजदूर भी प्रमुख संसाधन हैं तो अति शोषण से अतिरिक्त मूल्य के लगातार निर्माण की क्षमता कम हो जा सकती है। राज्य की रुचि इसमें भी थी कि मजदूर ऐसे हों जिनसे सैनिक का काम भी लिया जा सके। इसी चिंता के चलते कानून तो बन गए लेकिन उन्हें लागू कराने की जिम्मेदारी कैसे पूरी हो। इस जगह फ़ैक्ट्री निरीक्षकों की भूमिका सामने आती है। ये कौन लोग थे? पेशेवर प्रशासनिक सेवा के इन निरीक्षकों ने राज्य की जरूरत के अनुसार औद्योगिक हितों को नियंत्रित किया। उनकी मौजूदगी के जरिए हम श्रम-शक्ति के मूल्य के निर्धारण में किसी देश में सभ्यता के स्तर के कारक को क्रियाशील होता देखते हैं। उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड में बुर्जुआ सुधारवाद की लहर चल रही थी जिसके मुताबिक श्रमिकों के साथ उस समय के आचरण में कुछ चीजें सभ्य समाज के लिए अस्वीकार्य थीं।

फ़ैक्ट्री निरीक्षकों की रपटों के आधार पर मार्क्स ने माना कि हरेक पल मुनाफे का कारक होता है। हार्वे कहते हैं कि श्रम प्रक्रिया में मजदूर के समय के हरेक पल पर पूँजीपति कब्जा जमाना चाहता है। वे न सिर्फ़ बारह घंटे के लिए मजदूर की श्रम-शक्ति खरीदते हैं बल्कि उन घंटों का अधिकतम तीव्रता के साथ इस्तेमाल भी सुनिश्चित करते हैं। इसी मकसद से तो तमाम सुपरवाइजर नियुक्त किए जाते हैं। समय के प्रति पूँजीपति का यह बरताव मार्क्स की इस धारणा के मेल में है कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल ही मूल्य है। इस अध्याय के तीसरे अनुभाग में मार्क्स ने उन उद्योगों का वर्णन किया है जहाँ श्रम-काल की कोई कानूनी सीमा नहीं थी। इसके जरिए मार्क्स बताते हैं कि जब पूँजी और श्रम के बीच का शक्ति संबंध एकपक्षीय हो जाता है तो इसका नतीजा मजदूरों की मौत में निकलता है। अगर मूल्य गतिमान नहीं है तो पूँजी के रूप में साकार नहीं होता। बेकार पड़ी हुई पूँजी असल में पूँजी की हानि है। इसीलिए उसके लगातार इस्तेमाल का दबाव बना रहता है। भारी अचल पूँजी वाले बड़े उद्योगों में तो उत्पादन प्रक्रिया की निरंतरता बेहद महत्वपूर्ण होती है। इसके कारण चौबीस घंटे का काम का दिन जरूरी हो जाता है। कोई एक मजदूर इतनी देर तक काम नहीं कर सकता इसलिए काम की पाली शुरू की गई। जाहिर है पूँजी के लिए मजदूर के आराम का कोई अर्थ नहीं होता, उसे तो लगातार संचरण में रहना होता है।

इसके बाद के अनुभाग में काम के सामान्य दिन के लिए होने वाली लड़ाई का जिक्र है। इसके क्रम में वे बताते हैं कि मध्य काल में लोगों को उजरती मजदूर बनाना काफ़ी मुश्किल था। वे घुमक्कड़, भिखारी या लुटेरे हो जाते थे। इसलिए काम के दिन का कानून बनाया गया, भिखारियों और घुमक्कड़ों को अपराधी घोषित किया गया। घुमक्कड़ों को कोड़े लगाए जाते और दिन भर खटवाया जाता। 1349 में काम का दिन बारह घंटे का घोषित हुआ था। उन्नीसवीं सदी और उसके बाद ऐसा चलन उपनिवेशों में कायम रहा। भारत और अफ्रीका में अंग्रेज अफसर देशी आबादी के दिन भर काम न कर पाने की शिकायत करते थे। उनके मुताबिक ये लोग थोड़ी देर काम करते और फिर गायब हो जाते। समय की स्थानीय धारणा घड़ी के मेल में न थी इसलिए औपनिवेशिक अफसरान काम का अनुशासन लादने में बड़ी मशक्कत करते थे। समय की आधुनिक धारणा का संबंध पूँजीवाद के उदय से है। घंटा तेरहवीं सदी में प्रचलित हुआ और मिनट तथा सेकंड तो सत्रहवीं सदी में समय नापने के काम आने शुरू

हुए। ये प्राकृतिक नहीं, सामाजिक निर्मितियाँ हैं और इनकी उत्पत्ति सामंतवाद के पूँजीवाद में संक्रमण से जुड़ी हुई है। मार्क्स का जोर इस बात पर है कि काम के दिन की समयबद्ध धारणा किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से विशेष ऐतिहासिक दौर में सामने आई सामाजिक निर्मिति है, इसमें सामान्य जैसा कुछ भी नहीं है। प्राक-पूँजीवादी समाजों में काम का समय अक्सर चार घंटे का हुआ करता था। शेष समय ऐसी गतिविधियों में बीतता था जिन्हें आज उत्पादक नहीं माना जाएगा।

अगले अनुभाग में वे बताते हैं कि 1820 दशक के ब्रिटेन में सत्ता पर जमींदारों का ही दबदबा था। लेकिन फिर बुर्जुआजी का उदय हुआ जो बाजार की आजादी और मुक्त व्यापार वाले सिद्धांतों में मजबूती से यकीन करती थी। राज्य मशीनरी में अधिक ताकत हासिल करने के लिए इसने संसदीय सुधारों की माँग की। इसके लिए उन्हें जमींदारों से लड़ना पड़ा और इस लड़ाई में उन्होंने पेशेवर मध्यवर्ग और मुखर तथा शिक्षित शिल्पियों का समर्थन लिया। औद्योगिक बुर्जुआजी ने जमींदारों के विरुद्ध शिल्पी मजदूर वर्ग आंदोलन के साथ संश्रय कायम किया और बड़े पैमाने के आंदोलन के बाद मताधिकार में विस्तार हुआ जिससे इन्हें संसद में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। आंदोलन के क्रम में वादे किए गए थे कि शिल्पियों को मताधिकार हासिल होगा और काम के दिन को नियमित किया जाएगा। बुर्जुआजी को तो वांछित मिल गया लेकिन मजदूरों को कुछ नहीं मिला। काम के दिन की लंबाई को नियमित करने वाला 1833 का पहला फैक्ट्री कानून लचर था जिसके विरोध में मजदूरों ने चार्टिस्ट आंदोलन शुरू किया। इस दौरान बुर्जुआजी की बढ़ती हुई ताकत का विरोध जमींदारों ने शुरू किया। इसी विरोध के चलते उन्होंने मजदूरों की माँगों का राष्ट्रीय (सैनिक) हितों के नाम पर समर्थन किया। साथ ही अपने को भले मालिक भी दिखाना उनका उद्देश्य था जो गंदे उद्योगपतियों की तरह लोगों का शोषण नहीं करते। फैक्ट्री निरीक्षकों को इन जमींदारों ने प्रोत्साहित किया ताकि निर्दय औद्योगिक बुर्जुआजी की ताकत पर लगाम लगाई जा सके। जमींदारों और मजदूर वर्ग आंदोलन के इसी संश्रय के दबाव में कड़े फैक्ट्री कानून पेश और पास हुए। इससे पूँजीपतियों को भी फायदा हुआ क्योंकि उन्हें स्वस्थ मजदूरों से ज्यादा काम कराने का मौका मिला। यानी वर्ग संघर्ष कभी कभी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के बेहतर संचालन में भी मदद कर सकता है। आखिर उसे अपनी सामाजिक वैधता के लिए मजदूर वर्ग आंदोलन को थोड़ी ताकत देनी पड़नी है। हार्वे इसके उदाहरण के बतौर न्यू डील के समय अमेरिका में ट्रेड यूनियनों को अधिकार देने का मामला उठाते हैं जिसने पूँजीवाद को उखाड़ने की जगह उसे स्थायित्व प्रदान किया। मार्क्स द्वारा वर्ग संघर्ष का यह वर्णन इसकी पेचीदगी को उजागर करने के लिए पर्याप्त है।

हार्वे की समूची किताब का सार प्रस्तुत कर पाना समय के अभाव में संभव नहीं, लेकिन ऊपर का वर्णन पाठक के लिए इस महाग्रंथ में प्रवेश की कुंजी कुछ हद तक दे देता है और हार्वे का यही उद्देश्य भी है। इसमें 'पूँजी' के दसवें अध्याय तक हार्वे की टिप्पणियों की संक्षिप्त रूपरेखा मात्र है। हार्वे का यह अध्ययन एक हद तक 'पूँजी' के प्रति उस आकर्षण का प्रमाण है जो हाल के दिनों में अनेक आर्थिक और अर्थेतर कारणों से पैदा हुआ है। कुछ हद तक इस व्याख्या में फ्रांसीस स्वीन की जीवनी में संकेतित पद्धति का उपयोग किया गया है और कुछ विनिमय मूल्य की प्रभुता की मार्क्स द्वारा की गई पहचान और उससे पैदा होने वाले संकट के पूर्वाभास के बारे में मार्क्स के विश्लेषण पर जोर के बढ़ने का संकेत है।

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, स्कूल ऑफ लिबरल स्टडीज, अंबेडकर यूनिवर्सिटी, लुथियन रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली-06,
मो.-09560375988

नवजागरण और आजाद ख्याल हसरत मोहानी

कर्मन्दु शिशिर

हिन्दी नवजागरण की जिस अवधारणा, अध्ययन, विचार और विश्लेषण की शुरुआत डॉ. रामविलास शर्मा ने की थी, उस पर वाद-विवाद और विमर्श का सिलसिला आज भी थमा नहीं है। अब वह विमर्श आधुनिक संदर्भ से जुड़कर इतना प्रासंगिक हो चुका है कि इसमें अध्ययन और विचार के नये-नये पक्ष लगातार जुड़ते जा रहे हैं। नवजागरण के अर्थशास्त्र संबंधी अध्ययन अथवा नवजागरण और भारतीय किसान से लेकर बहुत सारी नई दिशाओं की ओर अब काम होने लगे हैं। जाहिर है यह विमर्श अब वहीं पर नहीं है, जहाँ से इसकी शुरुआत हुई थी। डॉ. रामविलास शर्मा के हिन्दी नवजागरण संबंधी विचारों पर बात करते हुए मैंने कुछ विनम्र सवाल उठाये थे और उन दिशाओं की ओर भी संकेत किया था, जिन पर अभी तक कोई रोशनी नहीं पड़ी थी। इसमें एक सवाल यह था कि हिन्दी नवजागरण-हिन्दी समाज के नवजागरण का पर्याय नहीं है। इसके लिए हमें उर्दू नवजागरण, हिन्दी समाज की लोकभाषाओं और हिन्दी भाषी क्षेत्र की अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं और लेखन पर भी विचार करना होगा। कम से कम उर्दू पत्र-पत्रिकाओं और उस काल के उर्दू नवजागरण के रचनाकारों के लेखन पर बिना विचार किये हम हिन्दी-उर्दू समाज के समवेत यथार्थ को नहीं समझ सकते। हिन्दी में इस काम को करने के लिए यह जरूरी है कि हिन्दी नवजागरण की तरह ही उर्दू नवजागरण के संबंधित काल-खंड का भी समान रूप से समग्र और समृद्ध समझ हो। दुर्भाग्य से मुझे न तो इसकी न्यूनतम जानकारी है, न ही न्यूनतम योग्यता। लगभग दो दशकों की लंबी प्रतीक्षा के बाद मुझे लगा कि अज्ञानता और अनाड़ीपन के बावजूद कम से कम इसकी शुरुआत तो करनी ही चाहिए। इससे कम से कम आने वाले समय में किसी समर्थ और समृद्ध काम के होने की गुंजाइश पहले से ज्यादा अवश्य बढ़ जायेगी।

हिन्दी लेखकों की उर्दू से बढ़ती हुई दूरियों ने बेशक इस काम को ज्यादा कठिन कर दिया है। दूसरी ओर स्थायी संकट के रूप में औपनिवेशिक सोच भी है, जो हिन्दी और उर्दू

में ही नहीं, बल्कि भारत की तमाम भाषाओं को लगातार दबोचती जा रही है। बेशक इसका असर उनके आपसी रिश्तों पर भी पड़ा है। इरफान हबीब जैसे बड़े इतिहासकार के भीतर नवजागरण की जो अवधारणा पैठी हुई है, उसमें वे तो उर्दू नवजागरण के वजूद पर ही सवाल खड़े कर देते हैं और एक तरह से उसकी खिल्ली उड़ाते हैं।¹ हिन्दी में ज्यादातर विचारक मुसलिम समाज के नवजागरण को पूरी तरह सर सैयद अहमद खाँ तक ही महदूद रखते हैं और उन्हीं के अलीगढ़ आंदोलन के पक्ष-विपक्ष तक अपना विमर्श सीमित रखते हैं, इसका बड़ा ही घातक असर हिन्दी नवजागरण और हिन्दी समाज के नवजागरण की समझ पर भी पड़ा है। पूरा विमर्श एकरेखीय या एकांगी होकर रह गया है। हिन्दी समाज के साथ अभिन्न रूप से रह रही एक बड़ी कौम के नवजागरण नायकों के जीवन, कार्य और उपलब्धियों पर कोई रोशनी ही नहीं पड़ती। हिन्दी समाज यह देख-जान ही नहीं पाता कि उनके सहभागी कौम में भी नवजागरण की निरंतरता और उत्कर्ष के ऐसे शिखर हैं- जिनके बिना हम भारतीय नवजागरण की समग्र तस्वीर को समझ ही नहीं सकते।

जिस तरह हिन्दी नवजागरण के नायकों की एक लंबी कतार है उसी तरह उर्दू नवजागरण के नायकों की भी एक बड़ी कतार है। इसी कतार के बीच के एक नायक हैं- मौलाना हसरत मोहानी। हसरत मोहानी मन-मिजाज से अपने फन में माहिर शायर थे। उनकी अनेक दिलकश गज़लों को बेगम अख्तर से गुलाम अली खाँ जैसे गायकों ने अपनी अमर आवाज़ देकर जन-जन तक पहुँचाया है। डॉ. एहतेशाम हुसैन साहब ने उन्हें प्राचीन और नवीन धाराओं को मिलाने वाला शायर माना है और बहुत सारे आलोचक उन्हें आधुनिक युग में उर्दू का सबसे बड़ा गज़ल लिखने वाला कहते हैं। डॉ. हुसैन ने लिखा है—“मानव प्रकृति का सरल और उसी के साथ हृदयंगम हो जाने वाली संवेदना उनसे अधिक और किसी के यहाँ नहीं मिलेगी। उनके जीवन की सरलता, सच्चाई और गंभीरता सब उनकी कविताओं में स्थान ग्रहण करती है। यह भी ठीक है कि उनके यहाँ कोई दार्शनिक गहराई और विचारों में नवीनता भी नहीं पायी जाती, परन्तु वह असाधारण सादगी, जो बनावट के सभी तरीकों से विरक्त होने के कारण हृदय में अपना घर बना लेती है।”²

हसरत मोहानी के जीवन और कारनामों को जानने वाले हर व्यक्ति को इस बात की जरूर हैरानी होती है कि उन्होंने ज़िंदगी में जो तरह-तरह की ज़हमतें झेली थीं, उनके राजनीतिक जीवन में जो जनूनी इंकलाब था—उससे उनकी शायरी अछूती कैसे रह गई? ऐसा शायद उर्दू काव्य-परंपरा की उस धारा के कारण था, जिससे हसरत मोहानी भी जुड़े हुए थे। इस्लामी उसूलों के प्रति पक्के मगर सोच में इतने आज़ाद ख्याल कि कभी संकीर्णता को पास फटकने नहीं दिया। हिन्दुस्तानी सहजीवन के प्रति भरोसा उतना ही पक्का था। इस मामले में वे समझौता न मुसलिम कट्टरपंथियों से कर सकते थे, न ही हिन्दू कट्टरपंथियों से। जहाँ भी मौका आया हिन्दुवादियों के बेजा दबावों का झट से विरोध किया। अपने विचारों के प्रति इतनी दृढ़ता कि सामने गांधी जी हों, नेहरु हों या अजमल खाँ साहब अपनी बात पूरी बेबाकी से रखी। एकदम सवा सोलह आने खरे- यह बात तो उनके विरोधी भी मानते थे। अपनी ज़िन्दगी के प्रति ऐसी बेपरवाही का जज्बा तो उस युग में भी बहुतों के पास नहीं था। उनके वालिद अजहर हुसैन साहब को फतेहपुर में तीन गाँव मिले थे। लेकिन उनका बचपन माँ और नानी की गोद में मोहान में ही गुजरा था। माँ और नानी दोनों उर्दू-फारसी जानती थीं, इस कारण उनकी देख-रेख में शायरी के बीज तो बचपन में ही पड़ गये थे। चार भाइयों और तीन बहनों के साथ ले-देकर परिवार खुशहाल ही था। नानी ने ही पहले-पहल उनका परिचय नसीम देलहवी की रचनाओं

से कराया था। घर का माहौल अत्यन्त धार्मिक। सुबह उठकर फजिर की नमाज और नियमित कुरान के पाठ से ही औरत-मर्द के दिन की शुरुआत होती। माँ और नानी की गोद में सुनी कहानियों में युद्ध के प्रसंग उनको विशेष सम्मोहित करते। नाना ने गाँव की सई नदी में तैराकी भी सिखा दिया था। पतंगबाजी का शौक भी खूब रहा। लेकिन खास बात यह रही कि गाँव मोहान के मोकामी स्कूल में ही वे शैरो-शायरी करने लगे थे। वही किशोरवय वाली इश्क और आशिकी की रंगीनियाँ। आठवीं के बाद हाई स्कूल में पिता के पास फतेहपुर आये और मैट्रिक में पूरे इलाके में अक्ल रहे। थोड़े ना-नुकुर के बाद पिता अलीगढ़ कॉलेज में भेजने को तैयार हुए। अलीगढ़ में हसरत का बाना ऐसा कि ढीला पैजामा, गठीली जूती और हाथ में पानदान। आप कल्पना कर सकते हैं—अपेक्षाकृत आधुनिक रहन-सहन वाले अलीगढ़ का कैसा परिवेश रहा होगा-दोस्तों ने 'खालाजान' कहकर चिढ़ाया। पूरे चार साल अलीगढ़ कॉलेज जीवन में हसरत मोहानी ने कभी किसी बात की परवाह नहीं की। और समय बीतते न बीतते छात्रों के बीच लोकप्रिय हो गये। 1903 में ग्रेजुएट होने के बाद एल.एल.बी. में दाखिले के लिए वज़ीफ़े की दरखास्त दी। मगर अंग्रेज प्रिंसिपल मॉरिसन इनसे इतना खफा था कि उसने दरखास्त ही रद्द कर दी। वे कई बार उनकी नज़रों में चढ़े थे। यूनियनबाजी की थी। कई शैतानियाँ थीं, जिनमें वे शामिल पाये गये थे। दूसरी ओर मुशायरों में भी शिरकत की, कॉलेज मैगज़ीन में नज़्में छपी, मगर पढ़ाई पहले जैसी नहीं थी और वे द्वितीय श्रेणी से पास हुए थे। उन्होंने हमेशा के लिए छात्र जीवन से विदा लिया और कॉलेज छोड़कर शहर में आ गये।

ऐसे मुसलिम बुद्धिजीवियों की पूरी कतार थी, जिनकी शिक्षा-दीक्षा सर सैयद अहमद के स्थापित अलीगढ़ कॉलेज में तो हुई, मगर वे ब्रिटिश हुकूमत के प्रति उनकी वफादारी वाली सोच के विरुद्ध रहे। ऐसा करना उनके लिए आसान न था। इसके लिए उनको कठिन जद्दोजहद करनी पड़ी और ज़हमतों का वरण करना पड़ा। हसरत मोहानी इन्हीं लोगों में शुमार थे। ग्रेजुएशन के बाद उनके सामने बेहतर ज़िन्दगी का आसान विकल्प था और पारिवारिक हालात का भी यही तकाज़ा था। लेकिन उनके भीतर ब्रिटिश विरोधी सोच-विचारों का वेग ऐसा था, जो अब थमने वाला नहीं था। कॉलेज प्रशासन को यह बात लगातार खटक रही थी और अंततः उनको फरमान सुना दिया गया और उन्हें इसी कारण कॉलेज से अलग होना पड़ा था।

उन्होंने अलीगढ़ शहर में ही अपना अलग ठिकाना लिया और ग्रेजुएशन के साल से ही 1903 में 'उर्दू-ए मुहल्ला' नाम से पत्रिका शुरू कर दी। उनके पत्र, संपादकीय सोच और लेखन की ऐसी त्वरा थी कि तत्कालीन वातावरण में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। हसरत मोहानी की मूल चिंता यह थी कि अभी भी सर सैयद अहमद के असर से मुसलमान कौम निकल नहीं पा रही थी। सितंबर, 1904 के संपादकीय में उन्होंने यह सवाल उठाया कि 1857 में मुसलमानों की साझीदारी के कारण अंग्रेज नाराज थे, इसलिए वे मुसलमानों को तवज्जो नहीं देते थे। वे इस बात की भी तसदीक करते हैं कि उन्होंने ऊँची तालीम के लिए मुसलिम कौम को प्रेरित किया। एक समय में कांग्रेस से दूरी बनाने की बात भी अगर मान ली जाय "लेकिन अब जबकि बार-बार मुसलमानों ने रियायत की दरखास्त करके देख लिया कि अंग्रेज मुरव्वत और लिहाज की वजह से किसी के साथ नेक सलूक करने के आदी नहीं है। वे उनकी दलीलों और दरखास्त को मलामत के साथ रद्द कर देते हैं।" उनका कहना था- ऐसे में मुसलमानों को अब उनके विरुद्ध आंदोलन में हिस्सेदारी करनी चाहिए। सैयद अहमद खान की सोच और विचारों के खिलाफ उनकी इस मुहिम पर पहली चोट यह पड़ी कि मुसलमानों से अपील की गई कि वे 'उर्दू-ए-मुहल्ला' न खरीदें, न पढ़ें। मगर हसरत मोहानी इस्पाती यकीन

वाले ऐसे जुनूनी आदमी थे कि उनको डिगा पाना आसान न था। मई, 1906 के अंक में उनका एक संपादकीय छपा 'कांग्रेस और मुसलमान'। इसमें किसी हाजी मौसा खान साहब के मार्च-अप्रैल में छपे लेख की मीमांसा थी। मौसा खान साहब ने अपने लेख में मुसलमानों के खास हकों की हिफाजत का सवाल उठाते हुए सरकार की मेहरबानी पर भरोसा जताया था। उन्होंने राजनीतिक आंदोलन को मुसलमानों के लिए न सिर्फ अनुचित कहा था बल्कि उनकी स्पष्ट राय थी कि हिन्दुओं के साथ मिलकर काम करना कौम के लिए घातक है।

हसरत मोहानी ने उनके कथन की बारीक पड़ताल करते हुए लिखा कि मुसलमानों का आंदोलन में शामिल होना अथवा पक्ष लेना कहीं से कुफ्र नहीं है। उनके अनुसार अगर आंदोलन के कारण हिन्दुओं को महत्त्व मिल रहा है, तब तो मुसलमानों को इसे और तस्लीम करना चाहिए। अगर गहरी नज़र से पड़ताल करें तो हाजी मौसा खान ने भी राजनीतिक आंदोलन की अहमियत महसूस की है। प्रश्न यह है कि वे किस सोच से आंदोलन में या कांग्रेस के साथ जायें? हसरत साहब के अनुसार हाजी मौसा खान साहब की शिकायत है कि ऊँचे पदों पर मुसलमानों की हिस्सेदारी कम है और उनको कौंसिल में मेम्बरी की भी दरकार है। हसरत मोहानी ने सवाल किया है कि आप बिना आंदोलन में शरीक हुए उनके नफे में किस बिना पर हिस्सेदारी की माँग करेंगे? उन्होंने इस पर भी विचार करने की ताकीद की है कि नौकरियों में कमी के लिए मुसलमान सोचें कि इसके पीछे कारण कांग्रेस है या खुद मुसलमान? एक तरफ मुसलमान सरकार की चापलूसी करें, मुल्क के खिलाफ काम करें और जब कौंसिल हासिल हो तो भई हमें भी उसमें हिस्सेदारी देना। हमसे बिरादराना सलूक करना। बंगाल और पंजाब के मुसलमानों को ऐसे लोग ललकारते हैं कि सरकार से लाभ लेना है तो आंदोलन में भाग नहीं लेना है। क्या इस तरह हमारे हकूक की हिफाजत होगी?

यह मुसलिम कौम के अवसरवादी रवैये पर सिर्फ चोट भर नहीं थी, बल्कि इसके पीछे ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उनकी गोलबंद करने की मंशा भी थी। वे दोनों कौमों को एक साथ मिलकर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध आंदोलन को चलाना चाहते थे, इसके लिए जरूरी था दोनों में समझदारी और एकता कायम हो। वे लिखते हैं—“अगर आप हिन्दुओं से अच्छा सलूक चाहते हैं, तो आप भी उनसे अच्छा सलूक कीजिए। ये नहीं कि इन सारे अखबरात में जो खास इसलामी जोश के नमूने और इसलामी प्रेस के तारा व सितारा समझे जाते हैं हर वक्त और हर मौका पर हिन्दुओं को गालियाँ दी जावें। पॉलिटिकल एजीटेशन को बुरा कहकर और गवर्नमेंट से हर मौका पर हिन्दुओं को बागी, नमकहराम बतलाकर अपना रसूख जतलाया जावे और हिन्दुओं से ये उम्मीद की जावे कि वे बावजूद इन बातों के हमको कौंसिल की मेम्बरी के लिए मुन्तखब कर देंगे।”

हसरत मोहानी के इस बेबाकीपन में उनके पाक दिल और साफ़ दिमाग की झलक देखी जा सकती है। यथार्थ को इस बुलन्दी के साथ रखने का जज़्बा नवजागरण के जनून के बिना मुमकिन न था। वे आगे लिखते हैं—“आप कौंसिल की मेम्बरी की ख्वाहिश करें आपको उस जद्दोजहद में कांग्रेस वालों का साथ देना चाहिए जिससे इन्तखाब का हल होता है। उन लोगों में आपका एतबार पैदा हो लेकिन अलावा उसके एक बात और भी है कि बगैर पॉलिटिकल एजीटेशन में शिरकत करने के पॉलिटिकल हकूक के इस्तेमाल की लियाकत पैदा नहीं होती।” उनके अनुसार हाजी साहब अगर हर जगह योग्य मुसलमान की बात करते हैं तो क्या उन्होंने हर मसले पर तकरीर और तहरीर के जरिये अपनी लियाकत को मुल्क में साबित किया है? हसरत मोहानी बात मुसलमान कौम के सियासी जंग में काबिल होने की करते हैं। वे साफ़

लिखते हैं कि “पॉलिटिकल काबिलियत और आजादख्याली-ये दोनों बातें मेम्बरी के लिए निहायत जरूरी हैं।” यहाँ आजादख्याली की बात गौर करने वाली है। पूर्वग्रहों वाला दिमाग मेम्बरी के काबिल नहीं हो सकता। तत्कालीन उर्दू अखबारों और उसके मुतल्लिक मुसलिम कौम की सोच की ओर इशारा करते हुए वे लिखते हैं कि “मैं हाजी मौसा खान साहब से पूछता हूँ कि जिन अखबारनवीसों की तहरीर हिन्दुस्तान के हजारों मुसलमानों की राय पर असर डालती है कि उनमें एक ही ऐसा है जिसने उस मसला को सियासत के उसूलों से जानी हो, उनमें एक भी ऐसा है जो मि. गोखले के बजट स्पीचों को पढ़ने और समझने की तकलीफ गवारा करता हो?”

आप गौर करें कि हसरत मोहानी साहब किस तरह अपनी कौम के लोगों के भीतर जज़्बा पैदा कर रहे हैं, किस तरह उनसे नई रोशनी, नई सोच की अपील कर रहे हैं। उनकी कोशिश यह है कि कौम की जड़ता खत्म हो, उनकी सोच और सक्रियता के एजेंडे में तब्दीली आये। राष्ट्रीय राजनीति से महरूम रहकर मुसलिम कौम किस तरह पिछड़ रही है, अपना नुकसान कर रही है और सबसे बड़ी बात यह कि इससे मुल्क की आजादी का सपना जो उनकी असल ख्वाहिश थी- कभी सच नहीं हो सकती। वे आगे लिखते हैं—“गरज यह कि अगर हाजी मौसा खान साहब चाहते हैं कि कांग्रेस के प्लेटफार्म पर गवर्नमेंट की कौंसिल में मुसलमानों को आला रुतबा मिले, तो वे अपने अहले मजहब को खंलूसे-दिल से पॉलिटिकल एजीटेशन में शरीक करने की कोशिश करें।” हसरत मोहानी ने इस बात की भी पुरजोर मुखालफत की कि संख्या बल के भरोसे मुसलमान ऊँचा रुतबा हासिल नहीं कर सकते। इसके लिए उनको मुल्क के दिल में विश्वास पैदा करना होगा। वे बार-बार इस बात पर जोर देते रहे कि ‘एतबार और लियाकत’ के भरोसे ही वह सब कुछ हासिल हो सकता है, जो कौम की ख्वाहिश है। वे उदाहरण भी देते हैं कि कैसे इस तरह मुट्ठी भर होने के बावजूद पारसियों ने कांग्रेस में आला जगहें हासिल कीं। “मि. दादा भाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता और मि. वाचा को कौन हिन्दुस्तानी है जो उनको अपना बुजुर्ग नहीं समझता! अगर पारसी भी यही कहते कि हमारी जमायत बहुत थोड़ी है। हिन्दू और मुसलमान तो हमको मिलकर पीस डालेंगे, हमारे लिए कांग्रेस की शिरकत निहायत खतरनाक है, हम उस वक्त तक शरीक न होंगे, जब हमारे खास हकूक का इंतजाम हो जावेगा, तो उसका क्या नतीजा होता?” इसमें गौर करने वाली बात है हिन्दुस्तानियों द्वारा इनको अपना बुजुर्ग मानने की। यह नजरिया नवजागरण की दुर्लभ देन है। कोई किसी कौम का क्यों न हो, अगर उसमें लियाकत है, तो वह सारे हिन्दुस्तानी का अपना हो सकता है। यह बेमिसाल सोच नवजागरण की खासियत थी, जो हसरत मोहानी को आज सारे हिन्दुस्तानियों का अपना बुजुर्ग बनाती है।

हसरत मोहानी बेशक अलीगढ़ आंदोलन का लाभ लेकर ही विकसित हुए थे, मगर उनकी आजाद-ख्याली ऐसी थी कि उनमें बेबाक सच कहने का भरपूर जज़्बा और साहस था। वे सर सैयद अहमद खान के खिलाफ बोलने व लिखने में भी तनिक हिचकते नहीं थे। लिखते हैं—“अगर सर सैयद अहमद खॉ साहब ने बुर्जुआ कांग्रेस से अलहदगी न अख्तियार की होती तो उनका वकार किसी हालत में लीडरों से कम न होता। उनकी राय की कांग्रेस के पंडाल में वही हैसियत होती जो बाबू सुरेन्द्रनाथ या सर फीरोजशाह मेहता की है, मगर उन्होंने मदरसतुल-उलूम की हिफाजत और इस्तहकाम के ख्याल से ऐसा नहीं किया और सिर्फ अलहदगी पर इक्तिफा न करके कांग्रेस की मुखालफत बड़े जोर-शोर से की। मुसलमानों को ये सबक सिखाया कि तुम्हारे लिए पॉलिटिकल एजीटेशन से दूर ही रहना अच्छा है।” हसरत मोहानी साहब इस सोच में

तब्दीली लाने पर जोर देते हैं। जो हुआ, सो हुआ, मगर आज वक्त की पुकार है आज मुसलमान अगर एतबार और वकार कायम करना चाहते हैं तो यह कोशिश करने से हासिल होगा। उनको राजनीतिक मसलों पर तहरीर और तकरीर करनी होगी। अहले मुल्क के साथ मिलकर उनको काम करना होगा। अलगाव और काहिली से वे आला रुतवा हासिल नहीं कर सकते। आप कल्पना कर सकते हैं कि हसरत मोहानी के भीतर किस तरह के ख्यालात पल रहे थे, कौम के भीतर नये जमाने का जज़्बा भरने के लिए कैसी तदबीर सोच रहे थे और कैसी तकरीर कर रहे थे!

‘मुसलमान : हिन्द का पॉलिटिकल मुस्तकबिल’ नामक संपादकीय जून, 1907 में छपा, जिसमें उनके मुसलिम लीग के कांग्रेस के साथ रिश्ते और सोच का पता चलता है। हसरत मोहानी चाहे मुसलिम लीग में रहे, कांग्रेस में या साम्यवादी पार्टी से जुड़े-गौर करने वाली बात उनके अंदरूनी ख्यालात की है। मुल्क को ब्रिटिश सत्ता से आजाद करने की बेचैनियों से है, हिन्दू-मुसलिम सहित तमाम कौमों को मिलाकर राजनीतिक लड़ाई लड़ने से है। जाहिर है वे मुसलिम कौम के बीच से आये थे, उनके बीच काम कर रहे थे, उनके बीच अलख जगा रहे थे, तो यह बात सहज थी कि वे उनके वास्तविक हितों की पहचान करें, बात करें। आखिर बिना ऐसा किए वे कैसे उनके बीच अपना एतबार पैदा करते? नमक कर के मामले पर भी उनका नजरिया साफ़ था। वे तार्किक तरीके से बात करते थे कि नमक कर के कम होने से फायदा सभी को हुआ है। उनका साफ़ कहना था कि कोई कारण नहीं कि हम इसकी मुखालफत करें अथवा एहसान फरामोश बनें। लेकिन उनकी सीधी सोच यह थी कि नमक का मसला हो वा सड़क का-मुख्य मसला तो स्वराज का है। वे कांग्रेस से साफ़ सवाल करते थे कि स्वराज के मसले पर नरम-गरम दल का एक रुख है या नहीं? उनका मुसलिम लीग अथवा कांग्रेस से असल विरोध यहाँ है। उनका पक्का यकीन था कि अगर मुसलमानों के भीतर आंदोलन की बात पैठ गई तो वे कभी अंग्रेजों की हिमायत नहीं करेंगे। बेशक पहले मुसलमानों को अंग्रेजों की न्याय पर भरोसा था। दादा भाई नौरोजी को भी तो पहले ऐसा ही यकीन था, लेकिन अब हालात बदल गये हैं। आज जरूरत है आजाद ख्यालात की।

हसरत मोहानी मुसलमानों के हालात का जायजा लेते हुए बताते हैं कि इसके पीछे असल कारण है—गरीबी और अशिक्षा। सरकारी नौकरी भी उनको आसानी से नहीं मिलती। फिर भी मुसलमानों में आंदोलन में शामिल होने को लेकर भी एक शुरुआती झिझक है, जो धीरे-धीरे कम हो रही है। गैर मुसलिमों के साथ मिलकर काम करने में भी वे अभी हिचक रहे हैं। जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ेगी, वे हालात समझने लगेंगे। मौजूदा झिझक भी दूर हो जायेगी। बस, कुरबत की ख्वाहिश पैदा होने की देर है। ये हालात हमेशा के लिए नहीं हैं। दूसरी आजाद कौमों की आँखें खुल रही हैं, तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अविश्वास में कमी आयेगी। वे एलानिया कहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अविश्वास में कमी आयेगी। वे जोर देकर कहते हैं कि हिन्दुस्तान, हिन्द के वाशिनदों का है। गवर्नमेंट हासिल करने के लिए हिन्दू-मुसलिम के बीच एकता जरूरी है। आजादी की कश्मकश खुद व खुद ऐसा करने को विवश करेगी और वह वक्त भी जल्द आयेगा। यही आंदोलन हमें स्वशासन के काबिल भी बना देगा। मुसलिमों के भीतर से हिन्दुओं को लेकर जो भय है, वह भी जल्द दूर हो जायेगा।

अप्रैल, 1908 के अंक में छद्मनाम से एक लेख छपा—“मिस्र में अंग्रेजों की तालीमी पालिसी’। लेख में ऐसा कुछ आपत्तिजनक तो न था लेकिन हसरत मोहानी देशद्रोह के आरोप

में 23 जून, 1908 को गिरतार हो गये। 19 जून, 1909 की रिहाई के बाद उन्होंने फिर अक्टूबर में 'उर्दू-ए-मुहल्ला' का प्रकाशन शुरू कर दिया। अपने जेल जीवन के अनुभवों को उन्होंने धारावाहिक लिखा, जो बाद में पुस्तकाकार भी छपा और लोकप्रिय हुआ।

हसरत मोहानी ने 'उर्दू-ए-मुहल्ला' में विश्व राजनीति पर भी लिखा। तत्कालीन घटनाओं पर भी। स्वदेशी आंदोलन पर भी लिखा। मई, 1910 के अंक में उन्होंने 'हिन्दुस्तान के पॉलिटिकल कैदी' पर जो लेख लिखा है, उसमें बड़े ही मार्मिक तरीके से कैदियों की यातनाओं का वर्णन किया है। किस तरह से हाथ में घाव हो जाने अथवा बीमार हो जाने पर भी उनको लगातार चक्की पीसनी होती है। रोजे के मौके पर भी मुसलमान कैदियों से दिन भर मेहनत कराई जाती है और अंग्रेज कैदियों को साहबों जैसी सुविधाएँ दी जाती हैं। उनका इस्पाती इरादा कितना पोखता था इसका सबूत उनके आखिरी संपादकीय में मिलता है जब 12 मई, 1913 को रात 9 बजे डिप्टी सुपरिंटेंडेंट ऑफ पुलिस का उनको नोटिस दिया जाता है। उन पर 3000 रुपये का जुर्माना लगा है। दो पत्थरों और एक लकड़ी के प्रेस-जिसकी कुल कीमत बमुश्किल 50 रुपये होगी, 3000 रुपये जुर्माना लगाने की बात समझी जा सकती थी। अलीगढ़ प्रशासन किसी भी हालत में प्रेस बंद करना चाहता था और 19 मई को प्रेस बंद भी हो गया। लेकिन हसरत मोहानी साहब के इरादों पर, सोच और जज्बे पर वे कोई बंदिश नहीं लगा सकते थे। उन्होंने साफ़ कहा-इतना जुर्माना अभी तक किसी बड़े पत्र पर भी नहीं लगा। उन्होंने लिखा—शुक्र है कि इस नोटिस के अलावा माली-जिस्मानी, और रूहानी सदमा न उस समय पहुँचा और न ही पहुँचेगा। ताल ठोककर उन्होंने लिखा—“उनकी नाजायजी अहल दौलत वजा: के लिए खाह कैसी भी मुहिब (प्रिय) और अहम क्यों न हो, मगर हम जैसे आजाद फकीरों का उससे मजूब व मगलूब हो जाना किसी सूरत से मुमकिन नहीं है।”—यह था नवजागरण के उस आजाद फकीर का ऐलान, जो पूरी ब्रिटिश हुकूमत को छाती ठोककर ललकार रहा था।

हसरत मोहानी की उम्र उस समय 33-34 के आसपास रही होगी। तूफान के विरुद्ध छाती रोपने वाले इन जज़्बों से ही नवजागरण की बुलन्द इबारत लिखी गई थी। क्या मजाल जो इस कार्रवाई से वे सूत भर भी डिगे हों—लिखते हैं—“हमने अपने दिल में ये अहद कर लिया है कि इन तमाम तहकीरों के अयानत हर हाल और हर वक्त में अपने ऊपर लाजिम समझेंगे अगर तहरीर के जरिये से मुमकिन न होगा तो तकरीर के जरिये से और इससे भी न हो सकेगा तो इल्मी कार्रवाई तहरीर और तकरीर दोनों ज्यादा मुफीद और ज्यादा जरूरी है। इससे हमको दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती।” (मई, 1913)

आजादी के जज्बे का यह ऐसा सैलाब था कि किसी भी तरीके से इसे ब्रिटिश सत्ता रोक नहीं सकती थी। यह जज्बा ही हसरत मोहानी को नवजागरण के नायकों में अजीम और अजीज बनाता है। इसी संपादकीय में उन्होंने यह भी लिखा है कि उर्दू प्रेस भले ही 19 मई को बंद हो जायेगा, मगर उसने अपना फर्ज तो पूरा कर लिया है। उसकी बातें, उसकी अपील तो अवाम में चली गई है और मकबूल भी हो चुकी है। आजादी का ख्याल अब अवाम में आम हो चुका है। अब जमाना स्वदेशी और बायकाट का है। आजादी और जम्हूरियत से मुसलिम कौम रू-ब-रू हो चुकी है। अब यह सत्ता उसे कभी रोक नहीं पायेगी। उनके साथ ब्रिटिश हुकूमत के इस बरताव की तीखी प्रतिक्रिया भी हुई। अबुल कलाम आजाद ने 'अल हिलाल' में इसके खिलाफ लगातार लिखा और सरकार की तीखी आलोचना की। 'उर्दू-ए-मुहल्ला' में उन्होंने इतिहाबे सुखन नाम से एक स्तंभ शुरू किया था—जिसमें लगभग दो सौ शायरों के दीवान, पांडुलिपियाँ और हस्तलिखित सामग्री प्रकाशित की थी। इसी तरह का एक और स्तंभ

‘निकाते सुखन’ नाम से भी धारावाहिक किस्तों में छपा। कई खण्डों में यह सारी सामग्री पुस्तकाकार छपी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। बाद में यह ग्रंथ उर्दू इतिहासकारों और समालोचकों के लिए जरूरी संदर्भ-ग्रंथ बन गया। आर्थिक तंगी, निजी प्रयत्न, अलीगढ़ कॉलेज आंदोलन के विरोध तथा अन्य कारणों से भले ही ‘उर्दू-ए-मुहल्ला’ के पाँच सौ से अधिक के संस्करण नहीं हुए हों, उसे अपने समय में अल-हिलाल, मखजन, निगार अथवा मुआरिफ जैसी लोकप्रियता नहीं मिल पायी हो, लेकिन आगे चलकर इसके महत्त्व को इतिहास में वह वाजिब जगह देनी ही पड़ी, जिसका वह हकदार था।

जून, 1914 में ‘उर्दू-ए-मुहल्ला’ बंद होने के बाद स्वदेशी की दुकान के अलावे हसरत मोहानी की गतिविधियाँ साहित्य में सिमट गई थीं। लेकिन रुकी नहीं थीं। अगले ही महीने जुलाई, 1914 में उन्होंने त्रैमासिक पत्रिका ‘तज़िकरातुश शुअरा’ शुरू कर दिया। कानूनी दौंवपेंच से बचने के लिए उन्होंने इसे पत्रिका नहीं किताब कहा। 13 अगस्त, 1916 की गिरतारी के बाद यह बंद हुआ तो जेल से रिहाई के बाद 1919 में फिर से जारी किया। पूर्व संपादित अंक इसी कारण बाद में आये। 1920 में कानपुर आने तक वे इसे निकालते रहे। उनके दोस्तों में शिबली नोमानी बहुत अजीज थे। वे अलीगढ़ से जुड़े पहले उर्दू लेखक थे, जिन्होंने सर सैय्यद अहमद के राजनीतिक सोच से असहमति जतायी थी। वे हसरत मोहानी के ‘मोहानी स्वदेशी स्टोर’ को लेकर मजाक करते “तुम आदमी हो या जिन्न। पहले शायर थे, फिर पोलीटीशियन बने और अब बनिये हो गये।” हसरत मोहानी मुस्कुरा कर रह जाते। उनकी इच्छा तो यह थी कि स्वदेशी आंदोलन पूरे देश में लोकप्रिय हो। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि उन जैसा ग्रेजुएट, अजीम शायर, संपादक और नामी नेता के भीतर आखिर वह कैसा जनून था कि उन्होंने स्वदेशी स्टोर की दुकान खोल ली। इस पर अकबर इलाहाबादी के चार शेरों को ख़लीक अंजुम साहब ने ‘हसरत मोहानी’ पुस्तक में दर्ज किया है-

था दिले हसरत भरा अरमान में, हमने लिख भेजा उन्हें मोहान में

भाई साहब रख दो तुम अपना कलम, हाथ में लो अब तिजारत का अलम

हो चुकी गैरों से ख़ैशी की बहार, बस दिखाओ अब सुदेशी की बहार

काम हो उट्टो, चढ़ाओ आस्तीं ला यज़ी अल्लाहो अजुरुल मोहसेनीन। (खुदा अच्छे कामों को बर्बाद नहीं करता—कुरान)

इस बीच अचानक राजनीतिक सरगर्मी बढ़ी और 28 मार्च, 1916 को अबुल कलाम आज़ाद को कलकत्ता छोड़ने का फरमान जारी हुआ और उन्हें नज़रबंद कर दिया गया। बाद में उनको राँची भेजा गया। अचानक 16 अप्रैल, 1916 को हसरत मोहानी को भी गिरतार कर लिया गया। बेगम निशातुन्निसा परेशान हाल। उनको समझ में नहीं आया कि आखिर वे किस जुर्म में गिरफ्तार हुए। कुछ दिनों तक वे जेल में जाकर उनसे मिलती रहीं, मगर बिना कारण बताये सरकार ने उनको ललितपुर जेल भेज दिया। कुछ दिनों बाद यह पता चला कि उनकी गिरफ्तारी का सबब अफगानिस्तान में कायम ‘भारत गणराज्य के शासन’ वाली सरकार है। जिसके राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रताप और प्रधानमंत्री बरकतुल्ला थे। विदेश मंत्री औबैदुल्लाह सिंधी बने थे। उसकी जो फौज बनी थी, उसके लेफ्टिनेंट जनरल हसरत मोहानी को बनाया गया था, जो इससे अनजान अलीगढ़ में स्वदेशी स्टोर चला रहे थे। यह बात अंग्रेजों को तब पता चली जब ‘शैखुल हिंद’ का पत्रवाहक पकड़ा गया।

हसरत मोहानी ने नज़रबंदी का हुक्म मानने से इंकार कर दिया। सरकार बहुत सारी शर्तों के साथ छोड़ने को राजी थी, मगर हसरत मोहानी के कुछ उसूल थे, जो सहूलियतों के

अनुसार बदल नहीं सकते थे। बेगम चाहती थीं कि वे उनको मान लें। हसरत ने जो जवाब दिया, उसे बेगम ने अब्दुल बारी फिरंगी महल को पत्र में लिख भेजा। “मैंने कुरान मजीद से मार्गदर्शन प्राप्त किया तो संयोग से सबसे पहले सूरा-ए-अनफाल को पढ़ने का मौका मिला। इस सूरा को पढ़ने के बाद मेरा दिल मजबूत हो गया और मैंने शपथ ली कि अत्याचार के सामने कभी विनम्रता नहीं दिखाऊँगा। क्योंकि ऐसा करना गोया अत्याचार का समर्थन करना ही है। और यह अपने-आप में एक पाप है।”³ उन्होंने उन आयतों को भी लिख भेजा। बेगम को ढाँढस बँधाया और आखिर में कामयाबी का यकीन भी दिलाया। दरअसल नवजागरण की आँच में तपकर ही ऐसे फौलादी यकीन बनते हैं। उस आजाद फकीर शायर ने इस दौरान गज़ल भी लिखी जिसे अपनी बेगम को भेजा। उसका आखिरी शेर है-

बर्क का कौल मुझे याद है अब तक 'हसरत'

ज़िन्दगी कहते हैं दुनिया से गुजर जाने को।

शहादत का यह अद्भुत जज़्बा वह अमर इबारतें हैं- जिन्हें हसरत इतिहास की छाती पर दर्ज कर रहे थे। सरकारी मुलाजिम भी हलकान थे, न तो वे हसरत को रख पा रहे थे, न इस तरह आजाद कर पा रहे थे। ललितपुर के मजिस्ट्रेट ने व्यक्तिगत तौर पर पहल की तो इस बार शर्त हसरत मोहानी ने रखी। वे नज़रबंदी अलीगढ़ की मानेंगे, लेकिन उसमें किसी जुर्म की बात नहीं होगी। उनको 'तज्किरातुश शुअरा' वगैरह प्रकाशन की इजाजत मिले, जिससे वे हलाल की रोटी खा सकें। तीसरी शर्त थी कि बिला वजह आजादी छीनने का मुआवजा मिले जिससे उनके व्यापारिक नुकसान की पूर्ति हो सके। ब्रिटिश सत्ता को भी हसरत मोहानी जैसे जिद्दी कैदी से पाला पड़ा था। मगर इतनी शराफत वाली ब्रिटिश सरकार तो थी नहीं। उनको झांसी भेजा गया, मुकद्दमा भी चला और बिना जुर्म दो साल की सजा भी हुई। जेल में अकारण सख्ती भी हुई, मगर उन्होंने बिना नागा रोजा तक रखा। वे मेरठ जेल भेजे गये। 20 फरवरी, 1917 को मेरठ के पुलिस अधिकारी एक अंग्रेज के साथ आये और उनसे फिर शर्तों के साथ रिहाई की बात कही। हसरत मोहानी उन शर्तों को मानने वाले थे नहीं। जेल में उनकी तबीयत बिगड़ने लगी। उनका 43 पौण्ड वजन घट गया, गुर्दे की शिकायत हो गई, पाचन बिगड़ गया। आखिर 22 मई, 1918 को सुबह सात बजे वे मेरठ जेल से रिहा हुए। जिला के कलक्टर और पुलिस सुपरिंटेंडेंट भी मौजूद थे। पत्नी, बेटी और मित्र के साथ वे तांगे पर बैठे तो सरकार ने नज़रबंदी का हुक्म सुना दिया। सैयद अहमद खाँ साहब अंग्रेजों की जिस न्याय व्यवस्था की तारीफ करते थे- उसके विरुद्ध हसरत मोहानी का यह भोगा हुआ सच सामने था। अंततः कानूनी सहायता के बाद नज़रबंदी का आदेश रद्द हो गया।

हसरत मोहानी भले ही जेल से बाहर आ गये, मगर उनकी गतिविधियाँ फिर जेल जाने ही वाली रहीं। उनके इरादों को ब्रिटिश कानून नज़रबंद नहीं कर सकती थी। लौ थी हिन्दुस्तान की मुकम्मल आजादी और जम्हूरियत की। 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'- तिलक का यह आह्वान उनको दीवाना बना चुका था। तिलक को लेकर हसरत मोहानी इतने जज़्बाती थे कि अदील अब्बासी ने लिखा है- 'तिलक के निधन पर जो भारी शोक मनाया गया उसकी मिसाल नहीं मिलती। जब उनकी अस्थियाँ गंगा में डालने के लिए लाई गईं तो उस समय मैं इलाहाबाद के यूनिवर्सिटी स्कूल का विद्यार्थी था। हम सब विद्यार्थी हिन्दू और मुसलमान नंगे सिर और नंगे पैर गंगा के तट पर गये थे।

हसरत ने गंगा तट पर एक कविता पढ़ी, जिसका पहला पद यह है कि:

मातम हो न क्यूँ भारत में बर्पा दुनिया के सिरताज तिलक
बलवंत तिलक, महाराज तिलक, आजादी के सिरताज तिलक।

उनके भीतर 'पूर्ण आजादी' वाली बात अच्छी तरह बस गई थी। तिलक और अरविन्द घोष का असर ही था कि गांधी जी को लेकर वे हमेशा आशंकित रहे। उनको लगता था गांधी जी नरमपंथी नेता गोखले के शिष्य हैं, इसलिए वे डोमिनियन राज्य पर भी राजी हो सकते हैं। यह बात अलग है कि तिलक के निधन के बाद गांधी अपरिहार्य नेता थे, जिनकी अनदेखी मुमकिन नहीं थी। तमाम मतभेदों के बावजूद गांधी के साथ रहना उनकी मजबूरी थी। तुर्की के सवाल पर हिन्दू-मुसलिम एकता अपने उत्कर्ष पर थी। हिन्दू महासभा और आर्य समाज भी मुसलिम सवाल पर एकजुट थे। गांधी के असहयोग आंदोलन में हसरत मोहानी जी-जान से डटे रहे। अफगान में कायम जिस भारतीय सरकार के कारण हसरत मोहानी ने दो साल की सज़ा काटी थी- उसे लेकर इलाहाबाद में उनकी लंबी बातचीत सर तेज बहादुर सप्रू से हुई थी। अफगानिस्तान में तो इतनी ताकत नहीं थी कि वह भारत पर चढ़ाई कर ब्रिटिश सत्ता को पराजित कर सकेगा, मगर हसरत मोहानी की सोच यह थी कि यह काम अफगानिस्तान के साथ रूस जरूर कर सकता है। जाहिर है यह दूर की कौड़ी थी लेकिन आजादी की अकुलाहट में ऐसी सोच और कोशिशों का भी एक अपना महत्त्व होता है। सप्रू साहब ने हसरत मोहानी से मजाक किया कि कहीं रूसी आपका घर न लूट लें। मौलाना ने छूटते ही कहा- 'बला से लूट लें, देश तो आजाद हो जायेगा।'⁵ आपका मन बार-बार इस जच्चे को सलाम करने का करेगा। आदर से माथा झुक जायेगा।

तुर्की के सवाल पर कांग्रेस की सहमति से हिन्दू-मुसलिम एकता का अभूतपूर्व उभार हुआ। कांग्रेस, मुसलिम लीग और खिलाफत इतने करीब आ गये कि उनके वार्षिक अधिवेशन एक ही तारीख को एक ही शहर में आयोजित होने लगे। 1912 में बांकीपुर अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने साफ़-साफ़ पूर्ण आजादी की माँग रख दी। हसरत मोहानी का यही सपना था, यही मकसद था। जब 1915 के बंबई में हुए मुसलिम लीग के अधिवेशन में जिन्ना ने सुधार योजनाओं का प्रस्ताव बनाकर सरकार को भेजने की बात कही तो हसरत मोहानी ने साफ़ कहा- "आप तीस बरस से सुधारों की बातें कर रहे हैं। अब वक्त आ गया है कि स्वतंत्र सरकार की बात की जाए।" लेकिन जिन्ना का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था। 1921 में एक-एक दिन के अंतर से कांग्रेस, मुसलिम लीग और खिलाफत के अधिवेशन अहमदाबाद में हुए थे। लीग के अधिवेशन की अध्यक्षता हसरत मोहानी ने ही की थी। दूसरे दिन जब वे कांग्रेस अधिवेशन में शरीक हुए तो वहाँ पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव रखकर एक शानदार भाषण दिया। इस पर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि "एक बहुत मार्के का प्रस्ताव जिस पर बड़ी विचारोत्तेजक बहस हुई, मौलाना हसरत मोहानी का था। जिसमें उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण मुक्ति को कांग्रेस का अंतिम लक्ष्य बनाने पर जोर दिया था। महात्मा जी ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया था।"⁶ गो कि हसरत मोहानी के इस प्रस्ताव के समर्थन में आंध्र, बंगाल, मध्य प्रांत के सभी प्रतिनिधि, उ.प्र. के तीन, बंबई के कुछ और एक छोड़ तमाम सिख प्रतिनिधि थे, मगर गांधी जी के विरोध के कारण यह प्रस्ताव नामंजूर हो गया। कांग्रेस में अस्वीकृत होने का हवाला देकर हकीम अजमल खाँ ने भी इसका खिलाफत कांग्रेस में विरोध किया। ऐसा ही मुसलिम लीग की सब्जेक्ट्स कमेटी ने भी 30 दिसंबर को किया। हसरत का प्रस्ताव अजमल खान, अंसारी और सैयद रजा अली के विरोध के कारण 23 के मुकाबले 36 वोट से खारिज हो गया। उलेमा आग बगूला हो गए। जमीयतुल उलेमा ने पहले मार्च, 1921 में संपूर्ण आजादी

का विचार प्रस्तुत किया था। अब अपने जुझारू अनुयायियों के लड़ाकू तेवर पर पानी डालने के इन प्रयासों से उसे धोखे की अनुभूति होने लगी। फलस्वरूप कुछ कड़वी बातें कही सुनी गई।¹⁷ इसके बावजूद हसरत मोहानी ने अपने यकीन को बनाये रखा।

सुभाषचंद्र बोस ने इस प्रकरण की चर्चा करते हुए हसरत मोहानी के इस प्रस्ताव में 'संयुक्त गणराज्य भारत' की भी बात कही है। उन्होंने हसरत मोहानी के बारे में लिखा कि "उन्होंने अत्यधिक तर्कपूर्ण भाषण दिया। उपस्थित जनों पर इसका असर भी हुआ जिससे अनुमान होता था कि उनका प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित कर दिया जायेगा। लेकिन महात्मा जी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और सभा ने यह प्रस्ताव निरस्त कर दिया।"¹⁸ बोस ने उनके प्रस्ताव में जिस 'संयुक्त गणराज्य भारत' की बात कही है, वह दरअसल हसरत मोहानी का प्रस्तावित विधान था, जिसमें भारत में पाँच गणराज्य और एक हैदराबाद होता। पूर्वी-पश्चिमी पाकिस्तान, दक्षिण-पूर्व और पश्चिम भारत, केन्द्रीय भारत और हैदराबाद। कुल छः राज्य मिलकर 'संयुक्त गणराज्य भारत' का निर्माण करते। इसमें एक-एक राज्य के भौगोलिक क्षेत्र की स्पष्ट पहचान बतायी गई थी और इसकी दस शर्तें भी दी गई थीं। सुभाषचंद्र बोस ने इस विधान को लेकर जैसी तारीफ की है-उससे कम से कम इस प्रस्ताव को महत्वपूर्ण तो कहा ही जा सकता है।

बीस साल तक अलीगढ़ में रहकर भी हसरत मोहानी के जीने-जमने का कोई डौल नहीं बन पा रहा था। शहर उन्हें बेहद अजीब था लेकिन हालात उनको लगातार मजबूर कर रहे थे। आखिर उन्होंने अलीगढ़ छोड़ने का मन बना लिया। अंदर उजड़ने की मरमराहट थी। 1920 में उन्होंने भरे मन से विदा लिया और कानपुर आ गये। कानपुर में उनके चाहने वालों की एक लंबी कतार थी। उनके लिए मौलाना मुहम्मद-उल-हसन शैखुल हिन्द, इमामुलवक्त, मौलाना अब्दुल बारी फिरंगी महल, हाफिज हिदायत हुसैन, हाफिज मुहम्मद हलीम और डॉ. जवाहरलाल रोहतगी ने मिलकर खिलाफत स्वदेशी स्टोर लिमिटेड नाम से एक बड़ी दुकान खोली। अदील अब्बासी साहब ने कुछ दिनों तक इसमें काम भी किया था। 1920 में इसका उद्घाटन महात्मा गांधी ने किया था। इस बाबत खलीक अंजुम ने गांधी जी के 27 जनवरी, 1920 के एक पत्र का हवाला दिया है-

"मैं प्रयाग से पंडित मोतीलाल नेहरू से भेंट करके वापस आ रहा था कि कानपुर के कुछ नागरिकों ने बहुत आग्रह किया कि मैं कुछ घंटे के लिए कानपुर में रुककर स्वदेशी स्टोर का उद्घाटन करूँ। मैं इनकार नहीं कर सका। इस क्षेत्र में अपने ढंग का यह पहला काम है। इस स्टोर को कायम करने में मौलाना हसरत मोहानी का हाथ है। उद्घाटन समारोह में हजारों लोग मौजूद थे और उनमें भारी उत्साह था।"¹⁹

स्वदेशी स्टोर चाहे जितना बड़ा हो, उद्घाटन भले महात्मा गांधी ने किया हो, मगर कोई जीता-जागता बवंडर त्रिजारी तक महदूद रहे—ऐसा भी कहीं होता है! न होता है, न हुआ। हसरत मोहानी राजनीतिक तूफान थे। खिलाफत का जमाना था, गतिविधियाँ तेज थीं ही। 18 जुलाई, 1921 की कार्यकारिणी में जब गांधी जी ने खद्दर का प्रस्ताव रखा, तो सभी सहमत हो गये, मगर हसरत मोहानी ने विरोध किया। उनकी सोच यह थी कि देश के पैमाने पर ऐसा करने से भारत के कपड़ा मिलों का भारी नुकसान होगा। इसमें काम करने वाले मजदूर बेरोजगार होंगे और आर्थिक बर्बादी से देश 10-11वीं शताब्दी में चला जायेगा। इसलिए हमें सिर्फ ब्रिटिश वस्तुओं का ही बहिष्कार करना चाहिए। गांधी जी ने इस वाक्य की अपनी आत्मकथा में विस्तार से चर्चा की है। वे स्वदेशी आंदोलन पर अवश्य जोर दे रहे थे। गांधी जी ने लिखा

है-“मौलाना हसरत मोहानी के अतिशय आग्रह से मैं स्वदेशी आंदोलन को असहयोग आंदोलन **ea'kfev d jussqfo'kg***”

स्वाधीनता आंदोलन का वह ऐसा दौर था, जिसमें दोहरी या तिहरी सदस्यता भी हो सकती थी। मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा से जुड़े रहकर भी आप कांग्रेस के साथ काम कर सकते थे। हसरत मोहानी मुसलिम लीग से कांग्रेस और साम्यवादी पार्टी तक अपनी सक्रियता बनाये रहे। दिसंबर, 1921 में मुसलिम लीग, कांग्रेस और खिलाफत कांफ्रेंस के अधिवेशन जो अहमदाबाद में हुए थे; हसरत मोहानी ने इन तीनों में भाग ही नहीं लिया था बल्कि जोरदार तरीके से पूर्ण आजादी की बात भी उठाई थी। उनके भाषण जोशीले और विद्रोही स्वर वाले थे। खिलाफत आंदोलन के कारण मुसलिम लीग और कांग्रेस की इस एकता का आलम यह था कि तमाम उलेमा भी इसके साथ हो गये थे। लेकिन चाहे जैसे भी हो, पूर्ण आजादी और ब्रिटिश हुकूमत को उखाड़ फेंकने का जोश इतना उफान ले रहा था कि गांधी जी को भय था कहीं आंदोलन हिंसक न हो जाय। उन्होंने अपनी आत्मकथा में खुद लिखा है कि बड़ी तजवीज करके असहयोग आंदोलन की नीति अपनायी। लेकिन आंदोलन इतना प्रबल था कि अंग्रेजी सत्ता बौखला गई थी। भारत-मंत्री मि. मांटैग्यू ने धमकी दी कि आंदोलन अगर नहीं रुका तो सरकार इसे कुचलने के लिए किसी हद तक जा सकती है। मुसलमानों का मानना था कि सरकार जब तक गिरफ्तारी तक सीमित रहेगी तब तक आंदोलन भी अहिंसक रह सकता है। अगर उसने गोली-तोप का सहारा लिया तो आंदोलन को हिंसक होने से कोई नहीं रोक सकता। आखिर सरकार ने 10 मार्च, 1922 को महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर 10 दिनों तक साबरमती जेल में रखकर बाद में यरवदा जेल भेज दिया। गांधी जी की गिरफ्तारी का बयान करते हुए अदील अब्बासी साहब ने एक दिलचस्प वाकया दर्ज किया है- “गिरफ्तारी के बाद गांधी जी ने एक भजन सुना और मौलाना हसरत मोहानी से, जो संयोग से आ गये थे, गले मिले। और पुलिस की मोटर में बैठकर साबरमती जेल खाना हो गए। यह एक विचित्र संयोग भी हसरत के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। वे आजीवन गांधी जी का विरोध करते रहे, लेकिन गांधी जी के हर आंदोलन में जेल गये और आज जब गांधी जी के बारे में सरकार की नीति बदली और वे बंदी बनाए गये तो हसरत वहाँ मौजूद थे और जेल जाने के पहले उनका आलिंगन किया।”¹¹ वक्त ज्यादा नहीं बीता, 14 अप्रैल, 1922 को कानपुर से गिरफ्तार कर हसरत मोहानी को भी अहमदाबाद लाया गया।

हसरत मोहानी ने अहमदाबाद के अधिवेशनों में जो विद्रोही व्याख्यान दिये थे- गिरतारी उसी के मुतल्लिक हुई थी। जाहिर था उन पर मुकदमा भी अहमदाबाद में चलेगा। लोग भले ही हसरत मोहानी से असहमत हों, मगर उनके प्रति लोगों में गहरा सम्मान था। पत्र-पत्रिकाओं में उनकी गिरतारी को लेकर प्रतिक्रियायें भी आ रही थीं। शुरू में तो हसरत मोहानी ने खामोशी बरती मगर 2 मई, 1922 को सेशन जज की अदालत में उन्होंने जोरदार लहजे में प्रतिवाद किया। उन्होंने साफ़ कहा कि वे बगावत और बादशाह के खिलाफ जंग के मुजरिम नहीं हैं। उन्होंने जरूर देश की आजादी की बात की है और यह अगर जुर्म है तो इसके लिए सरकार नई धारा लगाए। उन्होंने न तो विद्रोह फैलाया न ही नफरत पैदा की। कांग्रेस का उद्देश्य है स्वाधीनता। हमने उसकी बात की। मुसलिम लीग स्वाधीन सरकार की बात करती है, जो हमने भी किया। सरकार अगर मार्शल लॉ लगायेगी, दमन पर आमादा हो जायेगी तो उसे सख्त जवाब के लिए भी तैयार रहना चाहिए। अब गृहयुद्ध होता है तो हो।

उनकी तकरीर इतनी शानदार थी कि उसे सुनने के लिए अदालत में भारी भीड़ जमा

हो गई। यहाँ तक कि टिकट तक लगा दिया गया। अदालत के कक्ष, बरामदे, दालान और मैदान में तिल रखने की जगह नहीं थी। उन्होंने अपने को कांग्रेस के सिद्धांतों का कायल बताया और कहा कि वे तो अत्याचार के दमन के खिलाफ अहिंसक आंदोलन में यकीन करते हैं। उन्होंने पूरे दम से कहा कि उनका भाषण तमाम अखबारों में छपा है और उन्होंने निडर होकर बेबाकी से अपनी बातें कही हैं। देश-प्रेम मेरा आदर्श है और मेरी अंग्रेजों से कोई दुश्मनी नहीं है। निजी तौर पर मैं किसी भी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के खिलाफ हूँ चाहे वह भारत पर हो या तुर्की पर। मेरी नजर में साम्राज्यवाद एक अभिशाप है। मैं रूस की जारशाही खत्म करने के लिए बोल्शेविकों की क्रांति का स्वागत करता हूँ। गौर करने वाली बात है कि उन्होंने साम्राज्यवाद की बाबत तुर्की की बात भी कही।

जाहिर था ऐसी तकरीर पर जो फैसला होता-वही हुआ। सेशन जज ने दो साल के कठोर कारावास का दण्ड सुना दिया। आगे उनका मुकदमा हाईकोर्ट, बंबई में गया। अदालत में लोगों की खचाखच भीड़ थी। जब डेढ़ घंटे बाद पुलिस की हिरासत में उनको लाया गया तो अल्ला हो अकबर से पूरा कक्ष गूँज उठा। उनको और बेगम को कुर्सी दी गई। पूरे दो घंटे कार्रवाई चली। उनकी दो वर्ष की कठोर सजा कायम रखी गई। बेगम हसरत मोहानी और उनके खुतूत में इस दौरान जेल की ज़हमतों का वर्णन है। रोजे में बिना खाये, बिना पानी पिये दिनभर चक्की पीसते और कैद में अंग्रेजों के द्वारा पेशाब तक पिलाने की चर्चा मिलती है। तमाम समाचारपत्रों में हसरत मोहानी के मुकदमे और जेल की खबरें छपती रहीं। हिन्दी के प्रसिद्ध पत्र 'मतवाला' की टिप्पणियाँ भी गौर करने योग्य हैं जो उसने अपने अंदाज में ही लिखी हैं— (1) विधाता ने मौलाना हसरत मोहानी को शायद आजन्म निश्चित रहने के लिये ही बनाया है। इसी से नौकरशाही ने उन्हें बहुत दिनों तक मेहमान रखने की व्यवस्था की है।”¹² और “कट्टर वीर हसरत मोहानी को पहले दो वर्ष की सजा मिली थी। अब फिर उन पर एक मामला चलाकर उन्हें ढाई साल की सजा दी गई है। अब अंग्रेजी राज्य की मीयाद ढाई साल और बढ़ गई।”¹³ लेकिन जेल और यातनाएँ उन्हें कौल से डिगा नहीं सकती थीं। न ही वे सूत-भर भी झुकने वाले इंसान थे। वे मुसलिम लीग में हो, कांग्रेस में या साम्यवाद में-पूरे जीवन आज़ाद ख्याल वाले रहे। लिखते हैं-

रूह आज़ाद है ख्याल आज़ाद

जिस्मे हसरत की कैद है बेकार

यह बात अंग्रेजों की समझ के बाहर थी कि आज़ाद ख्याल वाले हसरत मोहानी की गिरफ्तारी का कोई माने-मतलब नहीं।

11 अगस्त, 1924 को उन्हें यरवदा जेल से रिहाकर बंबई लाया गया। इस पर मतवाला ने फिर अपने अंदाज में टिप्पणी की—“सुप्रसिद्ध देशभक्त मौलाना हसरत मोहानी जेल से छूट गये। इसलिए हिन्दू-मुसलमानों को एक पकड़ हो जानी चाहिए। क्योंकि मौलाना साहब हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्के हिमायती हैं।”¹⁴ इधर हसरत मोहानी के जेल जाने से दुकान की हालत बहुत खराब हो गई। उनको विवश होकर इसे बंद करना पड़ा। वैसे भी हसरत मोहानी के स्वभाव से यह काम मेल नहीं खाता था।

हसरत मोहानी ने मजलूमों जैसी ज़िन्दगी को अपनी मर्जी से न सिर्फ़ चुना था बल्कि वे मजदूरों के लिए लड़े और उसके संगठनों में शिरकत भी किया करते थे। सत्यभक्त ने भारतीय साम्यवादी पार्टी की जो पहली बैठक कानपुर में आयोजित की थी, इसके पूर्व कानपुर में मजदूरों

का जो संगठन बना था, उसमें हसरत मोहानी ने सक्रिय भूमिका निभायी थी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी शिव वर्मा के लिखे संस्मरणों के हवाले से डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि “गणेशशंकर विद्यार्थी की सदारत में कानपुर मजदूर सभा की बुनियाद पड़ चुकी थी। दफ्तर के लिए जमीन भी ले ली गई थी लेकिन इमारत बनना अभी बाकी था। मजदूरों की माँगों को लेकर उसी स्थान पर एक आम सभा का आयोजन था। समय से पहले ही मैदान मजदूरों से भर गया। मैंने (शिव वर्मा) भी पहले आकर मंच के सामने दरी पर जगह ले ली। लोग उत्सुकतापूर्वक विद्यार्थी जी के आने का इंतजार कर रहे थे। तभी एक फुसफुसाहट हुई- आ गये। मैदान ‘मजदूर ~~188 ft ricko* vlg x. jst d j fo | 1887 dht ; * d s u k j e l s x m B l a~~ इस मजदूर सभा से मौलाना हसरत मोहानी का गहरा रिश्ता था। उस समय वे कांग्रेस से जुड़े हुए थे लेकिन जब सत्यभक्त ने पहली साम्यवादी कांग्रेस की तो उसके स्वागताध्यक्ष मौलाना हसरत मोहानी ही बनाये गये। जाहिर था, कांग्रेस के नेतृत्व में आजादी की लड़ाई लड़ी जा रही थी, मगर उसमें शामिल लोगों के सोच-विचार में काफ़ी भिन्नता थी। असल बात उसके नेतृत्व की थी, जिसमें महात्मा गांधी और पं. नेहरू प्रमुख थे। मुसलिम लीग से संबद्ध होने के साथ-साथ हसरत मोहानी कांग्रेस में भी सक्रिय थे। लेकिन गांधी जी के नेतृत्व के निर्णयों से उनकी मुठभेड़ पुरानी थी। खिलाफत आंदोलन से यह अलगाव चल रहा था, इसलिए गांधी जी भी हसरत मोहानी के सोच और स्वभाव से परिचित थे। डॉ. शर्मा शिव वर्मा के संस्मरण को आगे उद्धृत करते हैं: “एक निडर, ईमानदार और तरक्की पसंद कांग्रेसी नेता के रूप में मौलाना हसरत मोहानी के बारे में इसके पहले मैं काफ़ी सुन चुका था। यह भी सुना था कि पहले विश्वयुद्ध के समय जब गांधी जी अंग्रेजों के लिए सिपाही भर्ती कर रहे थे, उस समय मौलाना हसरत मोहानी ने पूर्ण आजादी की माँग की थी। कांग्रेस के 1921 के अधिवेशन में उन्होंने इस आशय का प्रस्ताव भी रखा, जो पास नहीं हो सका था।”¹⁶

अब दिसंबर, 1925 में कांग्रेस का अधिवेशन सरोजनी नायडू की अध्यक्षता में कानपुर में आयोजित हो रहा था। सभी की सहमति से यह तय हुआ कि इस अधिवेशन में मजदूरों की भी शिरकत हो और कांग्रेस नेता उनकी समस्याओं और संघर्षों को लेकर संबोधित करें। लेकिन संयोजकों ने न सिर्फ़ यह माँग ठुकरा दी बल्कि उनका प्रवेश रोकने के लिए लाठी देकर स्वयंसेवकों को तैनात भी कर दिया। इधर सारे मजदूर अड़ गये। अंत में तय हुआ कि मौलाना हसरत के नेतृत्व में मजदूर पंडाल में प्रवेश करेंगे। जब मौलाना हसरत मोहानी अपनी वीरांगना बेगम निशातुन्निसा के साथ प्रवेश किये तो स्वयंसेवकों ने लाठी चला दी। काले बुर्के में ठीक पीछे खड़ी बेगम शेरनी की तरह तड़प उठीं। क्रोध से उनका चेहरा बिफर रहा था। उन्होंने झट से मौलाना को पीछे खींचा और खुद आगे आ गईं। सारे स्वयंसेवक उनके क्रोध से सकते में आ गये। सब कुछ अप्रत्याशित घटित हुआ। बेगम तमतमाती हुई तेजी से मंच पर चढ़ गईं और चिल्ला कर बोलीं...आप लोगों को शर्म नहीं आती। वे गांधी जी की ओर मुखातिब होकर चीख रही थीं— ...जिस वक्त आप अंग्रेजों की फौज के लिए सिपाही भर्ती करवा रहे थे, उस समय मेरा शौहर मुकम्मल आजादी की माँग कर रहा था। आपलोग यहाँ बैठकर मेरे शौहर पर लाठियाँ चलवा रहे हैं क्योंकि वह गरीबों का हिमायती है?...उन्होंने सरोजिनी नायडू से माइक ले लिया, जोर-जोर से बोलने लगीं। फौज के लिए रंगरूट भर्ती कराने पर ताने देने लगीं। मोतीलाल नेहरू की ओर मुखातिब होकर उसी रौ में बरसने लगीं- ...जब तुम बटलर के साथ दावतें उड़ा रहे थे, तब मेरा शौहर जेल में चक्की पीस रहा था। मंच पर बैठ सारे दिग्गज नेताओं के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। सभी सनाका खा गये। गांधी जी ने जवाहरलाल

नेहरू को भेजा। उन्होंने जाकर लाठी चार्ज के लिए माफी मांगी और मजदूरों को संबोधित भी किया। जैस-तैसे मामला शांत हुआ।

इस वाक्ये का आँखों देखा हाल क्रांतिकारी शिव वर्मा ने अपने संस्मरणों में लिखा था, जिसका उपयोग डॉ. रामविलास शर्मा ने किया। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास लिखने वाले डॉ. अधिकारी ने न सिर्फ़ इस वाक्ये का, बल्कि कांग्रेस अधिवेशन में हसरत मोहानी के नेतृत्व में मजदूरों के जाने और लाठी चार्ज करने वाली बात की भी चर्चा जरूरी नहीं समझी। सत्यभक्त ने इस प्रकरण की चर्चा तो की है, मगर हसरत मोहानी और बेगम के प्रसंग को वे भी गोल कर गये हैं। मैंने सत्यभक्त पर काम करते हुए यह बात लक्षित किया था कि उनमें दूसरे की भूमिकाओं को सीमित और अपनी भूमिका को विस्तार से लिखने की प्रवृत्ति थी। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि हसरत मोहानी पर हिन्दी में छपी एम. हबीब खाँ और खलीक अंजुम की जीवनियों में भी इसकी चर्चा नहीं है। शायद उनको ये तथ्य हासिल नहीं हो सके हों। क्रांतिकारी शिव वर्मा की बात इसलिए प्रामाणिक है क्योंकि वे उसमें शामिल थे और उन्होंने आँखों देखी घटना का वर्णन किया है। कांग्रेस को साम्यवादियों से इतनी तीखी नफरत थी, मजदूरों के प्रति उनका रवैया ऐसा था कि उन्होंने अखबारों में यह बयान छपवाया कि कल के अधिवेशन में कुछ साम्यवादी मजदूर घुसकर पंडाल में आग लगाकर अफरा-तफरी मचाना चाहते थे, जिसे हमारे स्वयंसेवकों ने नाकाम कर दिया।

सत्यभक्त जी ने कानपुर में आयोजित भारतीय साम्यवादी पार्टी की स्थापना को लेकर पूरी किताब ही लिखी है। जैसी उनकी प्रवृत्ति थी कि वे अपनी भूमिका को विस्तार और महत्त्व देने के लोभ में दूसरे की भूमिकाएँ और महत्त्व को अपेक्षित जगह नहीं दे पाते थे। फिर भी उन्होंने इतना स्वीकार किया है: “कानपुर में प्रथम भारतीय साम्यवादी कांफ्रेंस” का जलसा होने वाला है। पिछले 2 सितंबर को इस कांफ्रेंस का इंतजाम करने के लिए एक स्वागतकारिणी बनाई गई थी जिसके अध्यक्ष मौलाना हसरत मोहानी हैं।”¹⁷ आगे वे इस तरह लिखते हैं गोया उन्होंने स्वयं राधामोहन गोकुलजी, अर्जुन सेठी, नारायण प्रसाद अरोड़ा और गणेशशंकर विद्यार्थी वगैरह को सदस्य मनोनीत किया और मूल भूमिका उनकी संयोजक वाली रही। लेकिन डॉ. गंगाधर अधिकारी ने ‘कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया’ में यह बात दर्ज की है कि “कम्युनिस्ट कांफ्रेंस करने का विचार श्री हसरत मोहानी और अर्जुनलाल सेठी की तरफ से आया। दोनों पक्के राष्ट्रीयतावादी देशभक्त थे और गाँधीवाद के खिलाफ थे।”¹⁸ सत्यभक्त, डॉ. अधिकारी द्वारा उनको पूरा महत्त्व नहीं देने की बात का विरोध करते हैं और यह जतलाने की कोशिश करते हैं कि असल भूमिका उनकी ही थी। वे लिखते हैं-“जहाँ तक मैं जानता हूँ 26 दिसंबर 1925 के पहले श्री जोगलेकर का हसरत मोहानी और अर्जुनलाल सेठी से किसी प्रकार का संपर्क नहीं था। इधर मैं एक साल से हसरत साहब से बराबर मिलता रहता था और सेठी जी से भी अजमेर में एक साल रहते हुए मेरा काफ़ी परिचय हो गया था। इस आधार पर मैं बतलाना चाहता हूँ कि हसरत साहब का ‘कम्युनिस्ट केस’ की तरफ जरा भी झुकाव नहीं था। उनको मेरे ऊपर विश्वास था और मैं खुद उनके पास जाकर जिस काम में सहायता के लिए कहता, वैसी सहायता वे देते रहते थे।”¹⁹ सत्यभक्त जी कांग्रेस अधिवेशन वाले वाक्ये में खुद नहीं गये थे लेकिन उसमें शामिल शिववर्मा की आँखों देखी बातों से अलग वे यह लिखते हैं कि लाठी चार्ज में चोट किसान नेता बाबा रामचंद्र और स्वामी कुमारानंद को लगी। ये बातें वे पता लगाकर लिख रहे हैं। जब मजदूरों के प्रवेश पर लाठी चार्ज हुआ तो उसमें किसान नेता रामचंद्र पर लाठी चलाने की बात कहाँ से आ गई? उनके अनुसार खुद हसरत

मोहानी ने बताया कि “मुझे भी स्वयंसेवक रोकने लगे। पर मैं बड़ी कांग्रेस कमेटी का मेंबर था, सो स्वयंसेवकों को अपनी छड़ी से धमकाकर अपनी बीबी सहित भीतर चला गया।”²⁰ विचार कीजिए कि जब हसरत मोहानी के नेतृत्व में मजदूरों के प्रवेश का निर्णय हुआ था तो क्या वे अपनी बेगम के साथ प्रवेश कर गये और मजदूरों को उनके हाल पर छोड़ दिया? ऐसा अवसरवादी उदाहरण एक भी हसरत साहब के जीवन में ढूँढ़े नहीं मिल सकता। डॉ. शर्मा ने क्रांतिकारी शिव वर्मा के संस्मरणों को ही आधार बनाकर जो लिखा है, वह ज्यादा प्रामाणिक है। बेशक हसरत मोहानी परंपरागत अर्थों में साम्यवादी नहीं थे। उस अर्थ में तो स्वयं सत्यभक्त भी साम्यवादी नहीं थे। गांधी और गांधी-आश्रम के सरोकारों के अलावे उनके विचारों और जीवन में भी अनेक बातें और साम्यवाद विरोधी तथ्य मौजूद रहे हैं। हसरत मोहानी अपने उसूलों में बेबाक थे—“मेरा प्रोग्राम हमेशा इंपीरियलिज्म को तबाह करने के प्रयत्नों पर आधारित है और यही रहेगा। और जो पार्टी भी इस प्रोग्राम को हाथ में लेगी उसके साथ मैं तहे दिल से शरीक और हमदर्द रहूँगा।” (हमदम, लखनऊ, 14 अगस्त, 1924) जाहिर था वे साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से साम्यवादी पार्टी से जुड़े थे। खलीक अंजुम साहब ने डॉ. अधिकारी के कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास के हवाले से हसरत साहब के इस कथन को उद्धृत किया है—“मैं न तो कम्युनिस्ट हूँ, न सोशलिस्ट। मेरा प्रोग्राम एशिया से अंग्रेज को बाहर खदेड़ना है। यूरोपीय सरमायादारी का मैं बदतरीन दुश्मन हूँ जिसके सच्चे प्रतिनिधि अंग्रेज हैं। इस बात में मुझे कम्युनिस्टों से सहमति है और हम सब एक दूसरे के सहयोगी हैं।”²¹

इतने पक्के तौर पर तो कई वामपंथियों के विचार और आचरण में एकता नहीं थी, जो हसरत मोहानी में दिखती है। उनका नजरिया बिल्कुल साफ़ था साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकना और उस समय की मुख्य साम्राज्यवादी ताकत ब्रिटिश साम्राज्य को एशिया से नीस्तो-नाबूद करना। इसी बात पर तो डॉ. रामविलास शर्मा बार-बार जोर देते रहे हैं। साम्यवाद के इन रिश्तों का असर उनकी रोमानी मिजाज़ वाली शायरी पर भी पड़ा। उनका यकीन कितना पक्का और साहस कितना पोख्ता था इस शेर में देखें-

मैं गल्बा-ए-आदा से डरा हूँ न डरूँगा
ये हौसला बख्शा है मुझे शेर खुदा ने

वे चाहते थे, भारत में सोवियत रूस वाला आर्इन लागू हो। उनकी लड़ाई इसलिए थी। गौर कीजिए-

दुश्मन के मिटाने से मिटा हूँ न मिटूँगा
और यूँ तो मैं फानी हूँ फना मेरे लिए है
लाजिम है कि हो हिंद में आर्इने-सोवियत
दो-चार बरस में हो कि दस बीस बरस में

वक्त जो भी लगे, मगर असल मकसद साफ़ है—आर्इने-सोवियत को हिन्दुस्तान में लागू करना। इससे वे डिगने वाले नहीं थे—हो जोरो जफा या जुल्मी सितम हटने के नहीं अब पीछे कदम जिसने ये कहा दब जायेंगे हम वल्लाह ख्याले खाम क्या उनका मकसद साफ़ था—बगावत और इंकलाब—

सोवियत आपका मकसद बगावत आपका मसलक

मगर इस पर भी हसरत की ग़ज़लख़्वानी नहीं जाती
अथवा बकौले मोमिन
हे हश् जल्द कर तहो-बाला जहान को
यूँ कुछ न हो, उमीद तो है इंकलाब में

तो जाहिरन- उनकी उम्मीद इंकलाब में थी।

‘नेहरू स्मारक संग्रहालय’ ने डॉ. हरिदेव शर्मा से सत्यभक्त जी का जो साक्षात्कार संकलित कराया है, उसमें सत्यभक्त जी ने कहा है कि “कांग्रेस के खर्च के संबंध में सबसे अधिक सहायता हसरत साहब ने ही दी थी क्योंकि पूर्ण स्वाधीनता के सबसे पहले प्रस्तावक होने के कारण कांग्रेस के एक वर्ग पर उनका अच्छा प्रभाव था और उनके पास कई तरह के फंड भी रहते थे।”²² आप मिलाकर विचार कर सकते हैं कि दोनों बातों में कितना फर्क आ जाता है। यह बात सच है कि 1921 के कांग्रेस अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश करने के कारण मौलाना हसरत मोहानी की प्रसिद्धि भी बढ़ गई थी। उनके रसूख की बात भी सही है लेकिन वे तब भी कांग्रेस के किसी महत्त्वपूर्ण पद पर नहीं रहे थे। उनके पास कई तरह के फंड होने की बात कभी किसी ने नहीं लिखी। दूसरी बात यह कि मौलाना हसरत मोहानी जब सांसद के रूप में तीसरे दर्जे में सफर कर तीसरे दर्जे का ही किराया लेने वाले कठोरतम रूप से अंत तक नैतिक और अनुशासित जीवन जीते रहे, तो उनसे यह उम्मीद करना कि कांग्रेस का फंड होने पर भी वे उसमें से सत्यभक्त जी को रकम उपलब्ध करा देते, कतई मुमकिन नहीं।

हसरत मोहानी की साम्यवादी पार्टी में भूमिका को लेकर कम्युनिस्ट नेता मुजफ्फर अहमद की पुस्तक ‘माइसेल्फ एण्ड द कम्युनिस्ट पार्टी’ से हवाला देते हुए डॉ. शर्मा ने लिखा है कि वे हसरत मोहानी के भाषण को प्रतिक्रियावादी बता रहे थे। डॉ. गंगाधर अधिकारी के अनुसार हसरत मोहानी इस्लाम को सच्चा कम्युनिज्म साबित कर रहे थे। डॉ. एम. एन. राय के बर्लिन से प्रकाशित ‘इम्प्रेकोर’ पत्रिका में छपे लेख के अनुसार- “हसरत मोहानी बड़े प्रभावशाली नेता थे। उन्होंने भारत की पूर्ण स्वाधीनता तथा प्रजातंत्र की स्थापना के लिए कांग्रेस में प्रस्ताव पेश किया था। वे जिस तरह के तरीके अपनाना चाहते थे, वे ब्रिटिश सैन्यदल से नियमित युद्ध के थे। बहुत से प्रमुख समझदार लोग पकड़े जा चुके थे, इसलिए वे कांग्रेस में शामिल न हो सके थे। इसके बावजूद काफ़ी प्रतिनिधियों ने मोहानी का समर्थन किया।” डॉ. एम. एन. राय आगे लिखते हैं-“प्रस्ताव पास न हुआ, इसका यह मतलब नहीं कि भारतीय जनता अंग्रेजों से युद्ध क्षेत्र में लड़ने से झिझकती है। उससे केवल यह साबित होता है कि योजना को पक्का करने के लिए थोड़ा समय और चाहिए। मोहानी उन क्रांतिकारियों की धारणा व्यक्त कर रहे थे जिन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक बलपूर्वक अंग्रेजों को निकाला न जाएगा, तब तक वे भारत की धरती से विदा न होंगे।”²³

उनके पूरे जीवन को देखिये, भीतर एक ही जनून है-किसी तरह से अंग्रेज बाहर निकले। वे हिन्दुस्तान में किसी कीमत पर अंग्रेजों को देखना नहीं चाहते थे। फरमाते हैं-

हम कौल के सादिक हैं अगर जान भी जाए
वल्लाह कभी खिदमते अंग्रेज नहीं होगी।

भले ही जान चली जाय, लेकिन हसरत मोहानी इस जीवन में कभी अंग्रेजों की खिदमत

नहीं कर सकते। अंग्रेजों के प्रति धनीभूत नफरत वाला यह जनून उनमें शहीदी मन मिजाज वाला था।

इन तमाम साम्यवादी विचारकों की प्रतिक्रियाओं से साम्यवादी पार्टी के आसंग में कम से कम हसरत मोहानी की अहमियत को समझा जा सकता है। उनकी पूर्ण स्वाधीनता की माँग और प्रजातंत्र का प्रस्ताव, मजदूरों और मजलूमों के संगठन और संघर्ष, आर्थिक समानता के लिए साम्यवादी पार्टी का गठन और इस्लाम की गैरबराबरी वाले सिद्धांत का साम्यवाद से तारतम्य-ये बातें इतनी मूल्यवान हैं कि डॉ. शर्मा का मानना है कि ऐसे लोगों का साथ लेकर कांग्रेस साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष चला सकती थी- जो उसने नहीं किया और इसके विपरीत वह बार-बार साम्राज्यवाद से समझौता करती रही।

साम्यवाद को लेकर खुद हसरत मोहानी की क्या समझ थी, इसका मुजाहेरा उनके 1925 में प्रकाशित 'इस्तकबालिया पहली ऑल इंडिया कम्युनिस्ट पार्टी: कानपुर' के भाषण से होती है। इसमें उन्होंने तमाम तरह की गलतफहमियों को अपनी ओर से दूर किया है। यह मुत्ती मुहम्मद रजा अंसारी द्वारा संपादित 'खुतबाते हसरत मोहानी' में शामिल है। उन्होंने साम्यवादी पार्टी का पहला मकसद यह बयान किया है कि हम जायज जरिये से हिन्दुस्तान की आजादी चाहते हैं, जिससे हम सोवियत रूस ने जो उसूल कायम किये हैं, उसे हम भी कर सकें। हम मजदूरों और किसानों को संगठित कर उनके हक-हकूक के लिए लड़ेंगे और जो हमारी आजादी के साथ होगा उससे उसी के हिसाब से रिश्ता कायम रखेंगे। हम आजादी और जम्हूरियत लाकर कम्युनिस्ट उसूलों को लागू करना चाहते हैं। उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि हमारा तीसरी इंटरनेशनल से कोई लेना-देना नहीं है। हमारी साम्यवादी पार्टी 'भारत की' नहीं, 'भारतीय साम्यवादी पार्टी' होगी।

उन्होंने साम्यवाद और मजहब के रिश्तों को लेकर अपना नजरिया सामने रखा कि लोग खामखाह, साम्यवाद पर मजहब के दुश्मन होने की तोहमत डालते हैं। वे लिखते हैं- "हमलोग मजहब के मामले में इंतहा दर्जे की रवादारी को मुनासिब समझते हैं। जो शख्स हमारे उसूलों को माने, वह हमारे फरीक में दाखिल है। खाह वह हिन्दू हो, या मुसलमान, ईसाई हो या बौद्ध। मजहबी शख्स हो या लामजहब। बा अल्फाज़े दीगर हम हर मजहब के वजूद को तस्तीम करते हैं।" सबसे महत्वपूर्ण उनकी आखिरी पंक्ति हैं, वे लिखते हैं -हमारे नजदीक लामजहबी भी एक मजहब है। आप उनकी समझ और उदारता का अंदाज कर सकते हैं। आगे वे कहते हैं कि अकारण मुसलिम नेता कम्युनिज्म को इस्लाम के खिलाफ बताते हैं। वे तो इस मामले में इस्लाम को और सख्त मानते हैं। इस्लाम के अनुसार 'खल्के-खुदा में जब तक एक शख्स भी भूखा रहे, उस वक्त तक मालदारों को ऐश करने का कोई हक नहीं है। वे बताते हैं कि "कुरान में नमाज़ के बाद सबसे ज्यादा जोर ज़कात पर दिया गया है और खलीफ-ए-औवल ने अदाए जकुवातू से इंकार करने वालों के खिलाफ जिहाद का हुक्म दिया था।" उन्होंने सूदखोरी को लेकर कुरान और कम्युनिज्म के उसूलों की समानता की बात की। दरअसल उनका असल मकसद शोषण के खिलाफ अवाग की आजादी और बेहतरी का था। उनका आखिरी एलान था—

"गर्ज कि जिस हैसियत से देखिये, मालूम होगा कि कम्युनिज्म पॉलिटिक्स की आखिरतरीन और बेहतरीन शकल है और इसलिए अगर हमें अपने फरसूदा प्रोग्राम को तर्क करके कोई नई राहे-अमल अख्तियार करना है तो उसी को क्यों न करें जो बेहतरीन और आखिरतरीन हो।"

आप अनुमान कर सकते हैं कि साम्यवाद के शुरुआती दौर में नवजागरण के इस अमर

नायक की समर्पण और समझ कैसी थी? मुसलिम लीग और कांग्रेस से होते हुए साम्यवाद तक पहुँचने के पीछे गौर करने वाली बात, उनकी बेचैनियाँ और मुल्क की बेहतरी का जज्बा है। ऐसी मिसालें उस दौर में भी ज्यादा नहीं मिलती।

हसरत मोहानी एक बेचैन इंसान थे। हालात चाहे जैसे भी हों, वे अपने जनून से बाज आने वाले नहीं थे। अक्टूबर, 1928 में उन्होंने कानपुर से 'मुस्तकिल' नाम से एक दैनिक अखबार की शुरुआत कर दी। इसके जो अंक उपलब्ध मिले उसे लेकर मुहम्मद हामिल अली ने पुस्तकाकार संपादित कर उत्तर प्रदेश अकादमी से प्रकाशित करा दिया है। उनके अनुसार 2 अप्रैल, 1929 से प्रति मंगलवार इसका साप्ताहिक परिशिष्ट भी निकलने लगा। 30 जून, 1929 तक पूरे नौ महीने तक दैनिक शकल में निकलने के बाद पत्र लड़खड़ाने लगा। लेकिन उन्होंने पत्र बंद नहीं किया। अब यह सप्ताह में दो रोज निकलता सोमवार को रंगीन साप्ताहिक शकल में और शुक्रवार को सामान्य। बाद में यह गुरुवार को भी छपने लगा। मसलन सप्ताह में तीन रोज के हिसाब से। तब शुक्रवार वाला अंक शनिवार को आता था। 'मुस्तकिल' अखबार के हालात और हसरत मोहानी की हिम्मत की कश्मकश का सिलसिला चलता रहा। 17 फरवरी, 1930 से यह पत्र साप्ताहिक हुआ और जनवरी, 1932 से इसे मासिक करना पड़ा। 1936 से हसरत मोहानी ने इसे अपने पहले पत्र 'उर्दू-ए-मुहल्ला' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित करना शुरू किया। दैनिक से दो रोजा, तीन रोजा, साप्ताहिक और मासिक होने के पीछे आप उनकी जद्दोजहद की कल्पना कर सकते हैं। नवजागरण के सेनानियों का यही जनून और यही जद्दोजहद ही था- जिसने समाज और देश को नये मुकाम तक पहुँचाया। यह जज्बा हमें सँजोकर रखने को ही नहीं बल्कि उससे कुछ सीखने और करने को भी हमेशा उकसाता रहेगा।

बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक बीतते न बीतते भारत का स्वाधीनता आंदोलन पटरी से उतरने लगा था। हिन्दू और मुसलमानों के बीच तफरका बढ़ता जा रहा था और अंग्रेज इस फाँक को लगातार बढ़ाते जा रहे थे। दोनों समुदायों के कट्टरपंथी ताकतवर होते जा रहे थे और अंग्रेजों के विरुद्ध की सामूहिक लड़ाई हिन्दूवादी वर्चस्व कायम करने और मुसलिम हितों की रक्षा में गोलबंदी वाली बनती जा रही थी। 1937 में उत्तर प्रदेश में जो कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना था उसने असेम्बली में प्रस्ताव पास कर गोवध पर रोक लगा दिया। आप इस मानसिकता की कल्पना कर सकते हैं कि जब बात अंग्रेजों से देश को आजाद करने की हो, ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने की हो और दूसरे विश्व-युद्ध की तैयारी चल रही हो- तब कांग्रेसी सरकार की सोच कितनी पिछड़ी, अदूरदर्शी और भोड़ी थी। गोवध पर प्रतिबंध का प्रस्ताव पास करा कर वह एक तरह से देश को विभाजित करने की भूमिका ही तैयार कर रही थी। हसरत मोहानी देश के विभाजन को कबूल करने वालों में से नहीं थे, मगर गरीब मुसलमानों के गोमांस खाने पर रोक के भी वे सख्त खिलाफ थे। निस्संदेह यह बेतुका, बेसमय लाया गया प्रस्ताव था, जिसका हसरत मोहानी ने जमकर विरोध किया। उन्होंने उस समय फैजाबाद के इलाके में इस प्रतिबंध पर धुँआधार तकरीरों की थीं।

हिन्दुवादी ताकतें अपना दाँव चला रही थीं, जिन्ना लगभग मुसलिम कौम के निर्विवाद नेता बनते जा रहे थे उनकी अपनी चाल, अपना हठ था। इन दोनों से अलग निर्णायक और शांतिर चाल अंग्रेज चल रहे थे। इसी माहौल में दूसरे महायुद्ध की आशंकाओं के दौर में मौलाना हसरत मोहानी अप्रैल, 1939 को अपनी दो माह की इंग्लैंड यात्रा पर चले। कराची से बसरा, बसरा से बगदाद, वहाँ से बेरूत, बेरूत से मार्सेलज और वहाँ से लंदन मात्र 160 रुपये में पहुँच

गये। लंदन में उनके चाहने वालों की कमी नहीं थी। वहाँ वे लार्ड जिटलैंड, मि. मैकडानल्ड, कर्नल म्योर जैसे प्रभावशाली लोगों से मिले और अपनी ओर से मुसलिम नजरिये को रखा। जाहिर था उनका नजरिया जिन्ना से भिन्न था। वे किसी हालत में भारत का विभाजन नहीं चाहते थे और न ही कुछ शर्तों के साथ बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक आधार वाले विधान पर आजादी मान सकते थे। उनकी वही पुरानी सोच थी संयुक्त फेडरल एसेंबली वाली जिसमें अल्पसंख्यक हित सुरक्षित हो, हैदराबाद सूबा अपने आईन के साथ उसमें रहे। उन्होंने फिलिस्तीन में आज़ाद जम्हूरियत वाली सरकार बनाने में भी ब्रिटेन की मदद माँगी और इटली द्वारा हड़पे गये अल्बानिया की आजादी के दावे को समर्थन देने की बात भी कही। वे एम. एन. राय से भी मिले थे।

6 जुलाई, 1939 को वापसी में जब वे कराची बंदरगाह पर उतरे तो कौमी गार्ड के सदस्यों ने उनका जोरदार स्वागत किया। बाद में उनकी यात्रा का पूरा वृत्तांत कानपुर से प्रकाशित अपने पत्र 'मुस्तकिल' के जनवरी-अगस्त, 1939 के संयुक्तांक में छपा। वापसी के बाद यूनाइटेड प्रेस वालों से हुई वार्ता में उन्होंने बताया कि वे सचमुच महसूस करते हैं कि हिन्दुस्तान का भविष्य अंधकारमय है। जब तक देश में मजहब के साथ जोड़कर राजनीतिक मंच कायम करने का मौजूदा रिवाज बंद न कर दिया जाय। आप सोच सकते हैं उनकी राजनीतिक मंशा कितनी पाक थी। अंदर से उनकी रूह बिल्कुल साफ़-शफ़ाक थी। वे कहते थे देश में पूंजीपति हैं, मध्यवर्ग है और मेहनतकश मजदूर-किसान कामगार हैं। ऐसे में राजनीतिक मंच आर्थिक आधार पर ही बनने चाहिए। अंग्रेजों की बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक वाली नीति के विरुद्ध वे कामगार रेडिकल पार्टी का निर्माण चाहते थे, जिसमें दोनों समुदायों के समान हित वाली नीतियाँ हों। दोनों समुदायों के मजदूर-किसानों का हित सधे। ब्रिटिश नीति को पूरी तरह मिटाकर मुकम्मल आज़ादी के बाद ऐसा विधान बने। जाहिर था वे नवजागरण के उन योद्धाओं में थे, जो औपनिवेशिक सोच से मुक्ति चाहते थे। वे पूरी तरह मौलिक नीतियों पर चलने वाला आज़ाद हिन्दुस्तान चाहते थे, औपनिवेशिक सोच और नीति वाला नहीं।

हसरत मोहानी चाहे जैसा हिन्दुस्तान चाहते थे, मगर अपने समय में राजनीतिक रंगमंच के वे कोई अकेले किरदार नहीं थे। निर्देशक कोई और था- हिन्दू-मुसलिम अभिनेता थे, जिनके अपने-अपने संवाद थे। अपनी महत्वाकांक्षाएँ, अपने दाँव-पेंच, घात-प्रतिघात। बेशक हसरत मोहानी अपने असूलों को बचाये रख सकते थे, लेकिन आँधी को रोक पाना उनके वश की बात न थी। खुदा के विशाल कायनात में इबादतों के कई सलीके हैं। उसमें एक सलीका इस्लाम उनका था। कुरान पर पक्का भरोसा, पाँचों वक्त वाले नमाज़ी, शरीयत और तरीकत के पूरे पाबंद। जेल में चक्की पीसते रोजा रखने वाले धार्मिक प्रवृत्ति के इंसान थे :

*कट गया कैद में माह-ए-रमजान भी हसरत
गरचे सामान सहर का था न इतारी का*

अपने बारे में खुद कहते- मैं कंजरवेटिव सुन्नी और सूफी हूँ। कर्म से भी वही सूफी। जीवन में बहुत चढ़ाव-उतार आये, मगर उनकी मजहबी ज़िन्दगी और सूफियाना तौर-तरीकों में कभी कोई फर्क नहीं आया। तबीयत में जो आया, वही किया। हिन्दुओं के कृष्ण प्रिय थे तो थे। उन पर ऐसे फिदा कि शेर लिख डाले-

मथुरा की नगरी है आशिकी का, दम भरती है आरजू उसी का

हर ज़र्रा सरजमीने-गोकुल, दारा है जमाले दिलबरी का
बरसाने और नंदगांव में भी देख आये हैं जल्वा हम किसी का
पैगामे हयाते-जाविदां था हर नगमा कृशन बांसुरी का
वो नूरे-सियाह था कि हसरत, सर चश्मा फरोगे आगही का

ऐसा मिजाज था उनका कि दोस्त मुरारीलाल की बीवी ने होली में रंग डाल दिया तो दो-तीन दिन उसी कपड़े में घूमते रहे मौलाना बताते रहे किसने डाला है रंग। क्या मजाल जो पूरे जीवन में कभी किसी दूसरे धर्म के बारे में ऐसी कोई बात कही हो, जिससे किसी धर्म के अनुयायी का दिल दुखा हो। कव्वाली के ऐसे दीवाने कि कव्वालों के शेर पर जेब खाली कर देते। जेब खाली होती तो कपड़े तक उतार कर न्योछावर कर देते। अदील अब्दाली साहब ने कहीं उनका कहा दर्ज किया है- “कव्वाली की मजलिसों में एक शेर से जो रूहानियत मिल जाती है वह बरसों की इबादत से भी नहीं मिल पाती।”

मौलाना हसरत मोहानी इश्क और मुहब्बत वाले मिजाज के शायर थे, तो जाहिरन भीतर से तबियत भी वही होगी। गहरे रोमान से लबालब। नाजुक अंदाज, बाँकपन और कमाल की मोहक अदाओं के बारीक वर्णनों से भरी उनकी शायरी। खूबसूरती पर ऐसे फिदा कि फिसलें तो भी गम नहीं—

गुस्ताख हस्तियों का न था मुझमें हौसला
लेकिन हजूम शौक ने मजबूर कर दिया।

मौलाना के कई आलोचक आँख ढँकते हैं अपनी और पाठकों की भी। वे संकोच और शर्म से ठिठक कर पीछे रह जाते हैं, शायर हसरत आगे निकल जाते हैं। 1939 में इंग्लैंड यात्रा का वाकया। पानी के जहाज में इटली की हसीना। उम्र साठ या कुछ ऊपर की थी तो थी। आजाद ख्याल शायर के दिल और निगाह पर कंट्रोल नहीं। बात ही कुछ ऐसी थी-

इटली में तो क्या मैं तो ये कहता हूँ कि हसरत
दुनिया में न होगा कोई इस शक्ल का सानी

बेशक आलोचक शरमाये, उलेमा गुस्ताये लेकिन आजाद ख्याल हसरत मोहानी की अपनी मुश्किलें थीं-होठों के करीब आई जो वो जुल्फ मुअंबर झट चूम लिया हमने तबीयत ही न मानी इसमें आखिरी बंद ‘तबीयत ही न मानी’ पर गौर कीजिए। ‘ही’ पर विशेष जोर है। दिल पाक है तो साफ़गोई को सराहिये। जो अंदर है वह भी खुदा जानता है, जो बाहर है वह भी खुदा जानता है। ऐसे में दुराव क्या, छिपाव क्या- जो है, जैसा है बेबाकी से इज़हार किया। हज से वापसी कर रहे थे। वही पानी के जहाज की सूनी छत। उस पर एक खूबसूरत हसीना दिखी तो बस देखते रह गये हसरत। अब उलेमा हों या आलोचक जिसको जो कहना है कहे। शायर का दिल समुन्दर में गोता लगाने को मचल ही गया तो वह छल्लाँग लगायेगा ही, हंगामा बरपे या पहाड़ दरके—

तौबा फिर टूटी, मैं ठहरा फिर गुनहगारे-हवस
फिल्ना-ए-अकबर पसे-हज फिर है इस जाते हसीन

मौलाना हसरत मोहानी सूफी थे। इश्कमजाजी को इश्के-हकीकी में बदलना कोई गुनाह

तो नहीं। बात साफ़ है अगर छुपा जाते तो पाक- इज़हार किया तो गुनाह? बात तो खुदा की अदालत की है ये आलिम क्या, आलोचक क्या? हसरत कहते हैं—‘बुताने माह रू के हुस्न पर ईमान लाया हूँ/उन्हीं को देखकर होती है अब यादे खुदा मुझसे’ यहाँ इश्क इबादत बन जाता है। इस अंदाज में कोई वाइज, कोई उलेमा इबादत नहीं कर सकता है, हसरत जैसा शायर ही कर सकता है। वह एलानिया लगभग चुनौती भरे अंदाज में पूछता है-

*क्या हुस्न परस्ती भी कोई जुर्म है हसरत
होने दो जो अख्लाक की तंकीद कड़ी है।*

यह अकारण नहीं था कि 1945 में एहतेशाम हुसैन साहब की अध्यक्षता में उर्दू के प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन हुआ था। सज्जाद जहीर की जुबानी उसमें सभी ने थका देने वाली बहस से सहमति बनायी और डॉ. अब्दुल अलीम साहब ने प्रस्ताव रखा: “यह कांफ्रेंस इस बात को एक बार फिर साफ़ कर देना चाहता है कि तरक्की पसंद अदीब अदब में अश्लीलता के चित्रण के खिलाफ हैं और उसे बुरा समझते हैं...” मौलाना हसरत मोहानी वहीं पर मौजूद थे। उठे और झट बोले- “लेकिन वे वासना के लालित्यपूर्ण चित्रण को अशोभनीय नहीं मानते हैं।” - यह वाक्य प्रस्ताव में जोड़ दिया जाय। अदीबों की मजलिस थी, बहस तो होनी ही थी, शुरू हुई। हसरत मोहानी बेलाग बोले- “शायर या अदीब को मुल्लाओं से घबड़ाकर ऐसा नहीं करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मेरी शायरी के बड़े हिस्से में ऐन्द्रिकता मौजूद है लेकिन उसमें एक प्रकार का लालित्य भी है। क्या इस पर भी किसी को आपत्ति हो सकती है? बहरहाल कठमुल्लाओं को आपत्ति हो तो हो, जो शायरी को ही निंदनीय कृत्य समझते हैं, ऐसा अदीबों को नहीं होना चाहिए।” लोग समझाते रहे, मनाते रहे मगर वे टस से मस नहीं हुए। आखिर में प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। सिब्ले हसन साहब बड़बड़ाते रहे-... इस आदमी का तारीखी रोल ही बेटुब होता है। आज आप विचार कीजिए हसरत मोहानी अपने समय से कितने आगे थी, कितने आधुनिक थे।

सिब्ले हसन साहब की बात में दम था। मौलाना हसरत मोहानी की आजाद ख्याली ऐसी थी ही कि गांधी जी हों या नेहरू जी, कहीं कुछ लगा तो बेहिचक बोलते। कोई परहेज नहीं। अबुल कलाम आजाद आजादी के बाद लखनऊ आये। कार्लसन होटल में टिके थे तारीख थी- 27 दिसंबर, 1947। सुबह-सुबह मौलाना हसरत मोहानी पाँच मित्रों के साथ पहुँचे। आजाद साहब समझाने लगे कि तमाम मुसलिम संस्थाओं के राजनीतिक स्वरूप को खत्म कर उनको कांग्रेस में मिला देना चाहिए। संप्रदाय पर आधारित राजनीतिक संस्थाओं का अलहदा बने रहना ठीक नहीं। समकालीन राजनीतिक हालात के अनुभव ताजा थे। बेशुमार सांप्रदायिक हत्याओं और बेघरबारी के दौर तो पूरी तरह थमे भी नहीं थे। मौलाना का सांप्रदायिक सौहार्द पर यकीन तो यथावत था लेकिन हालात इसकी इजाजत नहीं दे रहे थे। कहने लगे- आप भी सर सैयद अहमद खान की तरह करने लगे। उन्होंने 1857 के बाद किया और आप 1948 में कांग्रेस के साथ मुसलमानों को बिना शर्त वफादारी सिखला रहे हैं। इस्लामी संस्थाओं को सिर्फ सामाजिक कार्यकलापों तक सीमित करने पर तुले हुए हैं। लाहौर विला क्यूवत इल्ला बिल्लाह।²⁴ उन्होंने विभाजन को कभी स्वीकार नहीं किया। यहाँ तक कि 6 जनवरी, 1949 को जब संसद में नये संविधान की स्वीकृति ली जा रही थी। सारे सदस्य हाथ उठाकर समर्थन दे रहे थे लेकिन एक अकेली आवाज हसरत मोहानी की थी- “मुझे मंजूर नहीं है।” क्यों? क्योंकि यह उनके सपनों का हिन्दुस्तान नहीं था। यह आईना वैसा नहीं था-जैसा वे चाहते थे।

आजादी के बाद हसरत मोहानी संसद सदस्य और विधायक बने। आवास, भत्ते और ऐशो आराम की ढेर सारी सुविधाएँ टेलीफोन, मोटर, तफरीह और राजसी शानो-शौकत। मौलाना हसरत मोहानी एक टिन के बक्से में सामान रखते। कभी पैदल तो कभी ताँगे पर स्टेशन आते। तीसरे दर्जे में सफर कर जामा मस्जिद पहुँच फर्श पर चटाई डाल सो जाते। अगल-बगल अखबार, कागज बिखरे होते। बगल की दुकान पर जाकर खा लेते और पैदल पहुँच जाते संसद। प्रो. जगन्नाथ आजाद ने एक वाक्य का बयान किया है कि वे आकाशवाणी से निकले तो सड़क पर संसद जाते हसरत मोहानी साहब दिखे। आदाब वगैरह कर वे भी साथ चलने लगे। तभी किसी केन्द्रीय मंत्री ने कार रोक-बंदगी की। चलिये साथ बैठिये हम भी संसद ही जा रहे हैं। मगर मौलाना ने जिद के बावजूद मना कर दिया। पूरे कार्यकाल में न तो प्रथम दर्जे का पैसा लिया, न 75 रुपये दैनिक भत्ता न ही कोई दूसरी सुविधा। तीसरे दर्जे का किराया, गली के होटल के पैसे-बस। मगर जब भी संसद में कोई मौका आन पड़ता तो ऐसी खरी, दो टूक और बेलाग तकरीर करते कि दरो दीवार गूँज उठते।

जीवन के आखिरी लमहों में वे फिरंगी महल में आ गये थे। दस्त की बीमारी ने पामाल कर दिया था। आखिरी वक्त चुपचाप चारपाई पर लेटे खामोश उंगलियों पर कुछ करते दिखे। 13 मई, 1951 को इंतकाल हो गया और नवजागरण का यह सिपाही अनवार बाग के फिरंगी महल कब्रिस्तान में दफना दिया गया। कब्र में तूफान खामोश हो गया और थमा गया आजाद हिन्दुस्तान के लोगों के हाथों में वह मशाल इस ताकीद के साथ कि इस विरासत को महफूज रखना अब हम सबकी जिम्मेदारी है, जवाबदेही है।

संदर्भ

1. 'अकार' 36-सं. प्रियंवद (अगस्त-नवंबर 2013, पृ. 11)
2. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डॉ. एहतेशाम हुसैन, पृ. 184
3. हसरत मोहानी: खलीक अंजुम, पृ. 141
4. खिलाफत आंदोलन- मुहम्मद अदील अब्बासी, पृ. 121
5. खिलाफत आंदोलन, पृ. 61
6. बापू के कदमों में- डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, पृ. 252
7. भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति: मुशीरुल हसन, पृ. 168
8. हसरत मोहानी-खलीक अंजुम, पृ. 185
9. हसरत मोहानी-खलीक अंजुम, पृ. 177
10. हसरत मोहानी-खलीक अंजुम, पृ. 173
11. खिलाफत आंदोलन, पृ. 160
12. नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला (2)-सं. कर्मेन्दु शिशिर (6 अक्टूबर 1923), पृ. 26
13. नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला (2), (13 अक्टूबर 1923), पृ. 26
14. नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला (2), (16 अगस्त 1924), पृ. 171
15. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (2)- डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 388
16. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (2), पृ. 389
17. सत्यभक्त और साम्यवादी पार्टी- सं. कर्मेन्दु शिशिर, पृ. 93
18. सत्यभक्त और साम्यवादी पार्टी, पृ. 141
19. सत्यभक्त और साम्यवादी पार्टी, पृ. 141

20. सत्यभक्त और साम्यवादी पार्टी, पृ. 146
21. हसरत मोहानी- खलीक अंजुम, पृ. 235
22. सत्यभक्त और साम्यवादी पार्टी, पृ. 228
23. भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (2), पृ. 405
24. हसरत मोहानी- खलीक अंजुम, पृ. 38-39

नोट : उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान और लेखक सफदर इमाम कादरी द्वारा चयनित और उनके शिष्य राजदेव द्वारा पठित हसरत मोहानी की दो पुस्तकों से उद्धरण-

- (i) उर्दू-ए-मुहल्ला के अदबी खिदमात (उर्दू)-सं. डॉ. रेहान गनी
- (ii) खुतबाते हसरत मोहानी- मुती मोहम्मद रजा अंसारी

सहायता :

- (i) हसरत मोहानी- खलीक अंजुम
- (ii) हसरत मोहानी- एम. हबीब खॉं

संपर्क : 38/9 न्यू पुनाईचक, दुर्गा मिल वाली गली, शास्त्रीनगर, पटना-23 मो. 9431221073

नेरुदा, फैज और नागार्जुन के तिराहे पर तीसरी दुनिया का जनवाद

प्रफुल्ल कुमार मिश्र

दूसरी और तीसरी दुनिया के महाद्वीपों में कविताई का स्वर पहली सदी में कई जगह एक ही सम पर रहा और वहाँ रचनाधर्मिता और प्रतिबद्धता के मसले कितने एक रहे हैं; इस बिन्दु पर बहस बार-बार हुई है। हलांकि कुछेक कवियों के बहाने से कविता का कर्म और मर्म कई बार एक स्थान पर जाकर मिलता रहा है। चिली के विश्वख्यात् कवि पाब्लो नेरुदा, पाकिस्तानी शायर फैज और नागार्जुन की कविताओं में देश और राष्ट्र के मसले किसान-मजदूर पसमांदा जन और उनके दर्दों की बात लगभग एक-सी देखी जाती है। तीनों ही कवियों के अनुभवों के कोणों में राजनीतिक अनुभवों का विशेष स्थान है और विस्तार की दृष्टि से सबसे अहम भी। इस क्षेत्र में किसी भी कवि की भाषाई कवित्व शक्ति की खासतौर पर परख होती है। नेरुदा, फैज और नागार्जुन तीनों ही उन मुल्कों से आते थे जिन्होंने बरसों गुलामी की रवायतें झेलीं और देश की आबो हवा में गुलामी से पैदा की सारी बुराइयाँ-गंदगियाँ पैबस्त हो गई थीं, जिनकी वजह से आजादी के लम्बे संघर्षों के बाद भी आम जनजीवन को बराबर एक अंतहीन लड़ाईयों में न्याय के वास्ते उलझे रहना पड़ा था। नेरुदा, फैज और नागार्जुन तीनों की कविताओं में उन्मत्त प्रेम बराबर कड़ियल यथार्थ के साथ-साथ ही नहीं बल्कि कई बार ओत-प्रोत होकर आता है। नेरुदा का पहला काव्य संग्रह उनके बीस वर्ष की उम्र में 'ट्रेंटी पोयम्स एण्ड ए सांग ऑफ डिस्पेयर' के नाम से वर्ष 1924 में ही आया था, जिसमें प्रेम की विद्रोहात्मकता उनकी पहली छाप लेकर आया था। नेरुदा का कठोर यथार्थ का कवि व्यक्तित्व ऊपर के कूटनीतिज्ञ एवं राजनेता के आवरण के भीतर की अंतर्धारा मात्र के रूप में नहीं बल्कि अनिवार्य धारा के रूप में बाद के कविताओं में देखा जाता है। ठीक यही वस्तुस्थिति फैज की शायरी में है। सूफ़ी परंपरा से प्रभावित, प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के पुरोधाओं में से एक फैज अन्याय एवं उत्पीड़न के खिलाफ सदैव मुखर रहे। इसके लिए उन्हें जेल तक जाना पड़ा और कई वर्षों तक निर्वासित भी रहे। जिस पर लिखी फैज की नज्म हमेशा अन्याय

और उत्पीड़न की आवाज की तरह है-

मेरे दिल मेरे मुसाफिर हुआ फिर से हुक्म सादिर
कि वतन बदर हो हम तुम, दें गली-गली सदाएं....

यूँ ही हमेशा उलझती रही है, जुल्म से खल्क
न उनकी रस्म नई है, न अपनी रीत नई
यूँ ही हमेशा खिलाए हैं हमने आग में फूल
न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई।
(निसार मैं तेरी गलियों में ऐ वतन, कि जहाँ;)

हिन्दी पट्टी में नागार्जुन इसी भावाभिव्यक्ति के एक चरित्र की तरह हैं। कवियों के आमफहम सौंदर्य प्रेम, यायावरी और अक्खड़ता के सम्मिलित रूप नागार्जुन यहाँ के जनकवि हैं, नेरुदा के विश्व कवि के समकक्ष शोषित जन के कवि की तरह। अल्बर्ट मार्ट के एक निबन्ध में ऐसे कवियों जिन्हें 'जनचेतना के प्रतिनिधि लेखक' कहा जा सकता है में लिखा कि साहित्य के इतिहास में अधिकतर ऐसे लेखकों का प्रभाव रहा है जो अपने जीवन और रचनाओं में मानव द्वेषी नहीं बलिक जनता के भावनात्मक लगाव और प्रेम से परिचालित रहे हैं। इसके भी आगे, वे अपने समय के प्रगतिशील और क्रांतिकारी आन्दोलनों के पक्षधर रहे हैं।' नागार्जुन ऐसे ही पक्षधरों में से एक कवि हैं, जो जातिगत तौर पर उच्चवर्ग से ताल्लुक रखने के बावजूद दलितों के दर्द के सहभोक्ता हैं-

दिल ने कहा -अरे यह बालक
निम्न वर्ग का नायक होगा
नयी ऋचाओं का निर्माता
नये वेद का गायक।”

नागार्जुन अपने दिल में एक बेहतर समाज का सपना लिए घूमते थे। यह कोरा सपना नहीं, छटपटाहट थी, भीतर का दर्द था, नेरुदा के यहाँ ये भाव 'रेजीडेन्स ऑफ अर्थ' में वर्ष 1962 में लिखते हैं। नेरुदा 'ऑड टू सॉल्ट' (स्पानी से अंग्रेजी में अनूदित) कविता में लिखते हैं:-

द साल्ट
इन द डेजर्ट
नियर अन्टो फेगेस्टा
द नाइट्स पंपा
री साउण्ड : अ ब्रोकेन वायस

लातिन अमेरिकी शोषित एवं उत्पीड़ित श्रमिक जन की टूटती आवाजों की कविता जो साम्राज्यवादी विस्तार और तानाशाही शासकों की सांठगांठ के कारण दबती जाती है; नेरुदा की पंक्तियों से सुनाई पड़ती है। नेरुदा के 'द बुक ऑफ क्वेश्चन्स' में प्रश्नों की शक्तों में जिस जनवाद और जनपक्षधरता की बात है, वह ओढ़ी हुई नहीं है। अपनी जमीन, अपनी आबोहवा और अपने प्राकृतिक स्वरूप से लगाव का नेरुदा का अहसास स्पेनवासियों की स्पानी भाषा से अपनी चिली (द. अमेरिकीयों) की स्पानी के अलगाव के रूप में दीखता है; जिसके संदर्भ में नेरुदा

साफ़-साफ़ कहते हैं- “गोंगोर का बर्फ जमा सौन्दर्य हमारे अक्षांशों के लिए नहीं; क्योंकि हमारा दक्षिण अमरीकी धरातल, धूल घूसर चट्टानों खून सनी मिट्टी और चूर-चूर लावा बना रहा है।” फिर भी नेरुदा के अहसासात राष्ट्रीय और जातीय धरातल से विश्वजनीन चेतना के प्रतीकों की रचना में वहाँ दीखते हैं, जहाँ वे ‘माच्यु पिच्यु के शिखर’ कविता की रचना करते हैं-

द केटेल डीलर: द चाइल्ड ऑफ सी हार्वर,
ऑर द डार्क कैप्लेन ऑफ द प्लघ,
ऑर द रेग पिकर ऑफ स्नार्ल्ड स्ट्रीट

.....
द शॉर्ट डेथ ऑफ एवरी डे;
एण्ड द ड्रेगडिंग बैड लक ऑफ एवरी डे वाज
लाइक ए ब्लैक कप डैट दे ड्रंक
(अनु. अंग्रेजी द हाइट्स ऑफ माच्युपिच्यु)

नेरुदा ने चिली के तानाशाहों के उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाने का दस्साहस किया जिसके लिए उन्हें भी फँस की तरह निर्वासन झेलना पड़ा। फँस ने तुर्की कवि नाजिम हिकमत की तरह कारावास और जलावतन (देश निकाला) की सजा को अपने भीतर प्रतिबद्धताओं की पुख्तगी के तौर पर लिया। उन्होंने अवाम के नागरिक अधिकारों के लिए सैनिक तानाशाही के खिलाफ लिखा—

न सवाल-ए-वस्ल न अर्ज-ए-गम न हिकायतें न शिकायतें,
तेरे अहद में दिल-ए-जार के सभी इख्तियार, चले गये,
ये हमीं थे जिनके लिबास पर सरे रू सियाही लिखी गई
यही दाग थे जो सजा के हम सर-ए-बज्म-ए-यार चले गए।

आम अवाम और जनता की पक्षधरता ठीक उसी अनुपात में नागार्जुन के भी कविता की कसौटी हैं। पक्षधरता के लिए प्रतिबद्धता आवश्यक है। प्रतिबद्ध कवि ही पक्ष को चुनता है। वर्गों में विभाजित एवं उत्पीड़ित समाज में एक पक्ष जरूरी है; यह पक्ष अगर जनता के प्रति हो तब उसे सिद्धांतों के खानों में उगी हुई फसल करार नहीं दी जा सकती। नागार्जुन साफ़ शब्दों में व्यक्त करते हैं-

“प्रतिबद्ध हूँ। सम्बद्ध हूँ। आबद्ध हूँ।
प्रतिबद्ध हूँ, जी हों, प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित ‘स्व’ की आपाधापी के निषेधार्थ

.....
अपने आप को भी व्यामोह से बारम्बार उबारने के खातिर
प्रतिबद्ध हूँ, जी हों, शतधा प्रतिबद्ध हूँ।”

नागार्जुन सीधे-सीधे सत्ता को चुनौती देते हैं, जेल जाते हैं, सम्पूर्ण क्रांति के आन्दोलन में भाग लेते हैं, सपनों में शरीक होते हैं। पहले अपने राजनीतिज्ञों के प्रति आस्था और बाद में उनके चरित्रों की गिरावट पर तंज उसी भाषा में-

आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी ।
यही हुई है राय जवाहर लाल की ।

कविता महारानी विक्टोरिया के भारत आगमन पर एक तीखा व्यंग्य है, तो सीधा प्रश्नवाचक कांग्रेसी शासन के समय प्रधानमंत्री पर भी कि-

इन्दु जी इन्दु जी क्या हुआ आपको
सत्ता के मद में भूल गयीं बाप को ।

नेरुदा भी अपनी कविताओं का सिद्धांत आम लातिन अमेरिकी जन को बनाते हैं। नेरुदा की 'अ न्यू डिक्डेड पोयम्स (1958-67) 'एक्स्ट्रा वेजेरिया' (1972), 'सलेंडर एण्ड डेथ ऑफ जोआकिन म्यूरियट' (1972), मेमोरीज (1978), विंटरगार्डन (1986), द स्टोन ऑफ चिली (1987) की अधिकांश कविताओं में उदात्त प्रेम एवं लोकजन की आवाज को स्वर देने का काम किया। नेरुदा की एक कविता 'द डॉग हैज डाइड' (अंग्रेजी अनुवादित) में सर्वहारा के प्रतीक और आम जन के भावना के प्रतिरूप में रूपान्तरण को प्रतीकित करते हैं-

'देयर इज नो गुड-बाई फॉर माई डॉग हू हैज डाइड,
एण्ड वी डोण्ट नाउ एण्ड नेवर डिड लाई टू ईच अदर,

हालांकि नेरुदा को फैंज की ही तरह का एक जज्बाए-रूमानियत का कवि माना गया है, जिन्होंने पूरे जोश से अपने हवाओं में घुले भावनाओं को अहसासों को बार-बार अभिव्यक्त किया। फैंज की शायरी में जिस डूब का जिक्र है वह शदीद और पुरनम जज्बातों से भरी है-

अनगिनत सदियों के तारीक बहीमाना तिलिस्म
रेशम-ओ-अतलस-ओ-कमखाब में बुने हुए
ज-ब-जा बिकते हुए कूचा ओ बाजार में जिस्म
खाक में लिथड़े हुए, खून में नहलाए हुए
जिस्म निकले हुए अमराज के तन्नूरों से
पीप बहती हुई गलते हुए नासूरों से,
(मुझ से पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न माँग)

ये दाग दाग उजाला, यह शब गजीदा सहर,
वो इंतजार था जिसका, यह वो सहर तो नहीं,

.....
फलक के दशत में तारों की आखिरी मंजिल
कहीं, तो होगा शबे सुस्त मौज का साहिल
कहीं तो जाके रुकेगा सफीन-ए-गमे-दिल;
(सुब्हे-आजादी)

नागार्जुन का जनवाद भी उसी समय की आंच में जला-तपा है। धरती और जन के प्रति समर्पित, उनकी आशाओं-आकांक्षाओं के, उनके यथार्थ के उनके सपनों एवं संघर्षों के चितरे रचनाकार के रूप में नागार्जुन का सच है-

लेखनी ही है, हमारा फार
धारा है पट, सिन्धु है मसि पात्र,
तुच्छ से अति तुच्छजन की जीवनी पर
हम लिखा करते कहानी, काव्य, रूपक, गीत।

ऐसी रूमनियत को नेरुदा और भी अधिक रागात्मक बनाते हैं। जनवादी धारा में जिस तरह स्थापित तंत्र और वर्जनाओं का विरोध है नेरुदा 'सुरा के गीत' नाम की एक अपनी कविता में उसे सहज मानवीय भावनाओं और सम्बन्धों को पुख्ता करने की चेतना के रूप में दिखाते हैं—

“थोर वेव कैरीज अस
फ्रॉम टॉम्ब टू टॉम्ब
स्टोन कटर ऑफ आइसी सेप्ल चेयर्स
एण्ड वी वीप
ट्रांजिटरी टीयर्स—Ode to wine (अंग्रेजी अनुवाद)

वस्तुतः बीसवीं सदी के सबसे क्रांतिकारी विचार व्यवस्था के प्रति प्रश्नों के बीच से ही उगते हैं। यह विद्रोह का आगाज था; नेरुदा के लिए कविता स्वयं विद्रोह का माध्यम रही क्योंकि विद्रोह उनके कविता की प्रकृति है। नेरुदा से एक प्रश्न के जबाब में उन्होंने कहा कि 'मैं एक वाणी बनना चाहता हूँ।' यह टिके और टिकाए गए व्यवस्थाओं के प्रति स्थूल हुँकार की तरह था। नामवर सिंह लिखते हैं कि “द हाइट्स ऑफ माच्चु पिच्चु” से याद आता है कालिदास का हिमालय- “पूर्मापरी तोयनिधी बगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।” बराए राह नेरुदा की कविता में ‘पृथ्वी भी है, समुद्र भी और पर्वत शिखर भी। पृथ्वी विस्तार, समुद्र की गहराई और एक पहाड़ की ऊँचाई भी।’ यह औदात्य नेरुदा के कविताओं में सदैव दीखता है यथा—

“भावनाओं, पदार्थों, पुस्तकों, घटनाओं और लड़ाइयों
इन सबके लिए मैं सर्वभक्षी हूँ।
मैं समूची पृथ्वी को निगल जाना चाहता हूँ” (यादें-अनूदित कविता)

फैज इसी सर्वस्वीकृति और आत्मस्वीकृति के बीच के फासले को पूरी कायनात के प्रति अपनी भावुकताओं के रूप में पिरोते हैं जब वे लिखते हैं-

आज का गम कि है जिन्दगी के भरे गुलिस्तां से खफा
जर्द पत्तों का बन जो मेरा देस है।
दर्द की अंजुमन जो मेरा देस है
क्लकों की असुर्दा जानों के नाम
किर्मखुर्दा दिलों एवं जवानों के नाम
पोस्टमैनों के नाम
तांगेवालों के नाम
रेलवानों के नाम
कारखानों के भोले जियालों के नाम (इंतिखाब)

फैज ने 'ईरानी तुलबा के नाम' कविता को उन्हें समर्पित किया जो अमन और आजादी की जद्दोजहद में काम आए-

“यूँ खाक में रेजा रेजा है
यूँ कूचा कूचा बिखरा है
ऐ अरजे अजम ! ऐ अरजे अजम!”

फैज की ही तरह नागार्जुन अपनी यायावरी के अनुभवों से विश्वजनीन मानवता एवं शोषण की वैश्विक स्थिति को एक नजर से देखने की हैसियत हासिल कर ली थी। ऐतिहासिक परिवेशगत तौर पर पूरब और पश्चिम के बीच के विभाजनों को नहीं बल्कि शोषक एवं शोषित के बीच के विभाजनों के तई देखना नागार्जुन ने अपने अनुभवों से सीखा था। दिलचस्प है कि फैज एवं नेरुदा की ही तरह नागार्जुन भी एक यात्री की तरह से जीवन को यात्राओं में देखने एवं पढ़ने की स्थिति में आए थे। यही कारण है पूर्व एवं पश्चिम के नकाबधारी समाजवाद और खाल ओढ़ी लोकतांत्रिक लोककल्याणकारी सरकारों और आजादियों की असलियत को कविताओं में बार-बार नोचते हैं-

‘जाओ भस्मासुरी नृत्य का
कहीं और ही करो रिहर्सल’

लिखकर नागार्जुन अमेरिकी राष्ट्रपति के वैश्विक चौधराहट और नृशंस रक्त पिपासा को आरेखित करते हैं। सोवियत संघ की साम्यवादी व्यवस्था के प्रति जनवाद का आकर्षण कितना गहरा है; यह नागार्जुन और फैज ही में एक-सा दीखता है जब नागार्जुन शांति मैत्री को आए रूसी नेताओं को इस रूप में उलाहना देते हैं-

‘अपने सुदृढ़ आलिंगनों में कस कर
हमें इतना अधिक मत झकझोरो
लेनिन जैसे आपके पितामह हुए
जिन्होंने हासिल करवा दिया
आपके लिए स्वर्ग-सुख
मगर हमारा तो
कोई पूर्वज वैसा नहीं हुआ

यहाँ नागार्जुन की कबीराना अक्खड़ता जिस रूप में प्रदर्शित है, वह अपने नेताओं के प्रति अविश्वास और उनकी अक्षमता के उद्घाटन में भी दीखता है—

“यहाँ के शोषक
धूमधाम आते हैं सारी दुनिया
समाजवादी देशों में भी
इनका अबाध स्वच्छन्द विहार होता है
इनके नकली मुस्कानों से
धोखा मत खाना तुम”

फैज भी समाजवाद एवं साम्यवाद के रंग में उतनी ही मात्रा में रंगे थे, जिसने समाज

में विभाजन को दूसरे ढंग से देखने की उनकी नजरी सलाहियत दी। फैज की मास्को यात्रा के दौरान लिखी एक नज़्म में इसी जज्बात की बानगी है-

“चंपई रंग कभी, राहते दीदार का रंग
सुरमई रंग की है, सा अते बेजार का रंग

.....
सुख फूलों का रंग, दहकते हुए गुलजार का रंग
जहर का रंग, लहू रंग, शबे-तार का रंग

.....
कोई भींगा हुआ दामन, कोई दुखती हुई रग
कोई हर लहजा बदलता हुआ आईना है।

इतना ही नहीं फैज अपने एक मशहूर नज़्म में यही भी फरमाते हैं कि
“सुनो कि इस हर्फे-लयमजल के
हमीं तुम्ही बन्दगाने बेबस
अलीम भी है, खबीर भी हैं
सुनो कि हम बेजवानों ओ बेकस
बशीर भी हैं नजीर भी हैं” (सर-ए-वादी-ए-सीना)

फैज के पहले संग्रह ‘नक्शे-फरियादी’ (1941) की भूमिका प्रसिद्ध तरक्की पसंद शायर नून भीम राशिद ने लिखी; जिसमें उन्होंने फैज को ‘अहसासातों का कवि’ करार दिया था। उनके अनुसार, “फैज किसी मरकजी नजरिए (केन्द्रीय विचारधारा) के शाइर नहीं सिर्फ अहसासत (संवेदनाओं) के शायर हैं और अपने शदीद अहसासात (तीव्र संवेदनाओं) को वो हसीन अल्फाज के साथ इस तरह पैवस्त करता है कि वो एक ही तार-पौद (धागे से बुना हुआ) मालूम होने लगता है।” फैज ने भी अपने पहले कविता संग्रह का नाम नक्श-फरियादी ही क्यों रखा? दरअसल मिर्जा गालिब के दीवान के पहले ही शेर में—

“नक्शे फरियादी है किसकी शोखि-ए-तहरीर का
कागजी है पैरहन हर पैकरे-तस्वीर का”

अर्थात् तत्कालीन इस्लामी रस्म के मुताबिक न्याय चाहने वाला कागज का पैरहन पहन कर काजी की अदालत में हाजिर होता था। इसका मतलब ही था कि उसे ईसाफ़ चाहिए। अपनी जात से जनवादी फैज ने अपने पहले ही संग्रह का नाम इसी कारण से यह रखा था कि जब इस दुनिया में हर ओर अन्याय का बोलबाला हो और हर आदमी मुंसिफ की तलाश व इंतजार में हो; तब खालिस अहसासों के कवि के लिए न्यायपूर्ण व्यवस्था पहली प्राथमिकता होगी। अपने एक शेर में फैज दीवारों-दर-दीवारों में बंटे शहर के नसीब की बात कहते हैं-

“यहाँ से शहर को देखो तो हल्का दर हल्का
खिंची है जेल की सूरत, हर एक सम्त फसील” (यहाँ से शहर को देखो)

और जब फैज लियालत अली खॉ के तख्तापलट के समय रावलपिंडी साजिश केस में बंदी बनाए गए तब के फौजी शासन और उनके जकड़बंदियों को इस रूप में शब्द दिया—

“मताए लोहे-ओ-कलम छिन गई तो क्या गम है
 कि खून-ए-दिल में डुबाली हैं ऊँगलियाँ मैंने
 जबां पे मुहर लगी है, तो क्या कि रख दी है
 हर एक हलका-ए-जंजीर में जबां हमने ।” (जिंदानामा)
 या फिर
 “नातवानों के निवालों पर झपटते हैं उकाब
 बाजू तोले हुए मंडराते हुए आते हैं
 जब भी बिकता है, बाजार में मजदूर का गोश्त
 शहराहों पे गरीबों का लहू बहता है” (रकीब से)

अपने गजलों-अशआर में फैज एक रचनाकार की संवेदनशीलता से संपुष्ट फैज की क्रांतिदर्शिता कई बार उन्हें खरे मार्क्सवादी चिंतकों, रचनाकारों के करीब ले जाती है। नेरुदा भी एक कूटनीतिज्ञ के साथ-साथ कवि हैं। नेरुदा के क्रांतिकारी होने में कहीं न कहीं का भूख की बड़ी भूमिका है। जैसा कि नेरुदा के स्पानी मित्र कवि गार्सिया लोर्का ने कहा था-‘नेरुदा की कविता रोशनाई की अपेक्षा खून के ज्यादा निकट है और यह बीसवीं शताब्दी के क्रांतिकारी विचार का महत्वपूर्ण अंग है।’ गुप्त दुरभिसंधियों और कातिल योजनाओं वाली वैश्विक व्यवस्था के सम्बन्ध में रोमान के मुहावरे में नेरुदा की कविता का यह अंग द्रष्टव्य है-

“समथिंग फ्रॉम फॉर ऑफ इट सीम्ड
 डीप एण्ड सीक्रेट टू मी, हिडेन बाय अर्थ,
 बाई दर मॉइस्ट हेल्प-ओपेन डार्कनेस ऑफ द लीक्स
 (अंग्रेजी अनुवाद ‘द व्हाइट मैन बर्डेन’)

सितम्बर, 1973 में पाब्लो नेरुदा ने इस दुनिया को अलविदा कह दिया। चिली में तत्कालीन आगस्टो पिनोशे की सैन्य तानाशाही सरकार के लिए सेल्वाडोर एलेंडे के बाद शायद नेरुदा ही सबसे खतरनाक आदमी थे। समालोचकों ने नेरुदा को ‘कविता का मार्क्स’ कहा है क्योंकि यह माना जाता है कि प्रख्यात पेंटर विवान सुन्दरम् ने जब नेरुदा की कविताओं पर पेंटिंग बनाने की कोशिश की तो उसमें अनायास ही मार्क्स का खुरदरा चेहरा उभर आता है। हिन्दी पट्टी के नागार्जुन तो घोषित तौर पर मार्क्सवादी थे, जिनका क्रांतिकारी तेवर उनकी कविता में बराबर दीखता है। नागार्जुन की कविताओं में भारतीय समाज का जीवन और यथार्थ चित्र अंकित हुआ है। यहाँ तक कि फैज और नेरुदा के बरअक्स नागार्जुन देश में सम्प्रदायवाद और जातिवाद फैलाए जाने के पीछे धार्मिक ग्रंथों की भूमिका को अपनी कविताओं तथा निबन्धों द्वारा उद्घाटित करते हैं—

दिल ने कहा- दलित माँओं के
 सब बच्चे अब बागी होंगे
 अग्निपुत्र होंगे वे, अंतिम
 विप्लव में सहभागी होंगे ।” (हरिजन गाथा, 1977)

नागार्जुन की जनवादी चेतना ने ही उनकी भाषा को सपाट बना दिया जिसमें पेंचोखम नहीं है। नागार्जुन के साठ वर्षों से भी कुछ अधिक के रचनाकाल में देश में अनेक उतार चढ़ाव

आए। अनेक बड़े-बड़े और विविध किस्म के राजनैतिक अंधड़ आए और बीत गए। इस समयान्तराल में भारत आजाद भी हुआ, जिसे जनवादियों ने अधूरी आजादी की संज्ञा दी, फिर भी अच्छे दिनों की आस नहीं छूटी। नागार्जुन कम्युनिस्ट पार्टी में शरीक हुए, उसके आन्दोलनों में भाग लिया। अनेक बार तीखे कांग्रेस विरोधी आन्दोलनों में भाग लिया। भारतीय राजनीति में घुसते अवसरवाद, भाई भतीजावाद और भ्रष्टाचार से क्षरण होते राजनैतिक परिवेश के आदर्शवाद को डूबते नागार्जुन ने अपनी आँखों देखा और महसूस किया। भावुकता और आदर्शों की बलि चढ़ते समाज में राजनैतिक पतन का जो स्वरूप अन्यान्यवादों के साथ गाँधीवाद का भी देखा तो नागार्जुन ने युगधारा लिखी-

“सरग था ऊपर, नीचे पाताल था
अपच के मारे बुरा हाल था
दिल दिमाग भुस का, खदर का खाल था।” (युगधारा)

अंतिम पंक्ति में भुस के पुतले का कांग्रेसीकरण कर तथाकथित गांधीवादी नेताओं पर तीखा व्यंग्य किया गया है। आजाद हिन्दुस्तान के पहले ही दौर से साम्राज्यवादी पूंजी का यहाँ प्रवेश बढ़ता गया है; भले ही भारतीय संविधान की प्रस्तावना में ‘समाजवादी लोकतंत्रात्मक गणराज्य’ स्थापना की संकल्पना रखी क्यों न गई हो। नागार्जुन एक कविता के जरिए इस पर चोट करते हैं-

“गंगा यमुना के कछार में
आ आ कर अण्डे देंगी अब
दुनिया भर की जोके
राम राज की सरल प्रजा का लाल रक्त
कितना सस्ता है।” (युगधारा)

भारत को व्यक्त करने के लिए गंगा-यमुना के कछार के प्रतीक का इस्तेमाल सबसे व्यंजक है, जो विश्व के सबसे उर्वर इलाकों में एक माना जाता है। और अब तो नवउदारवाद तथा नई आर्थिक नीति के नाम से किसानों-काश्तकारों की जमीन सरकारों द्वारा अधिग्रहीत कर बड़े पूंजीपतियों को बेचने का जो उपक्रम जारी है उस दौर में नागार्जुन की कविता और भी मौजूं हुई जा रही है। कवि राजनैतिक कलाबाजियों और उलटवासियों के परे खुद तो बस एक खम्भे से बंधा पाता है जब एक कविता में लिखता है-

“जनता मुझसे पूछ रही है
क्या बतलाऊँ
जनकवि हूँ मैं साफ़ कहूँगा
क्यों हकलाऊँ।”

एक जनकवि के रूप में नागार्जुन खुद को पहले और सबसे अंत में भी जनता के प्रति ही जवाबदेह मानते हैं। नेरुदा भी इसी प्रतिष्ठता के कारण जनकवि बन सके। उनकी एक अनूदित कविता का भावार्थ कि-

“कोई बच्चा था जो जीवन को सजाने आया
तमाम खल्क महज जन्म थी और थी आवाज

इत्तेफाक साफ़ और मजबूती लिए
साथ इनकार लिए
और तबाही का, कभी मौत का पैगाम लिए” (अनु. खुर्शीद अनवर)

नेरुदा पूरे लातिन अमरीका और अपने देश चिली में जनता की स्थैतिक मानसिकताओं एवं परिस्थितिगत यंत्राणाओं पर आधारित जीवनानुभवों का अंकन जिस शिद्दत से करते हैं; उसमें प्रेम और क्रांति दोनों ही के प्रति एक समान दृष्टि है। स्पेनी भाषा और स्पेनी (यूरोपीय समाज) से संबंधों के तर्ई नेरुदा जिन अनुभवों से भरे हैं; वह कहीं प्रतीकात्मक है तो कहीं पूर्ण व्यंजक। अंग्रेजी में अनूदित एक कविता ‘मैगेलोनिक पेंगुइन’ में नेरुदा लिखते हैं-

“पेंगुइन, स्ट्रेटिक ट्रेवलर,
डेलीब्रेट प्रीस्ट ऑफ द कोल्ड
आई सॉल्यूट योर वर्टिकल साल्ट
एण्ड एन्वी योर प्लम्ड प्राइड” (मैगेलोनिक पेंगुइन)

और एक हिन्दी में अनूदित कविता जिसमें नेरुदा वैश्विक अंतहीन वर्चस्व की लड़ाइयों तथा खतरनाक मंसूबों को उद्घाटित करते हैं-

“ठंडे समंदर में मछुआरे
और किनारे पर नमक बीनता आदमी
अपने टीसते हाथों की ओर नहीं देखेगा
वे जो नई लड़ाइयों के मंसूबे बना रहे हैं
जहरीली गैस और ज्वालाओं से लैस लड़ाइयाँ
जिनमें विजय के बाद कोई बाकी नहीं बचेगा

दरअसल, पूरा लातिन अमरीका का साहित्य आज अपने जिस जादुई यथार्थवाद के सम्मोहन से सारी दुनिया को मतवाला किए हुए है, यथार्थ जीवन के सूक्ष्मतम् पर्यवेक्षण से उत्पन्न उस जादू के सभी तंतुओं को नेरुदा की कविताओं में काफ़ी विकसित रूप में पाया जा सकता है। यह संश्लिष्ट यथार्थ की ठोस जमीन से कल्पना की अनोखी उड़ान की सर्जना का कमाल है। इसलिए इसके भीतर एक व्यक्त हुआ आक्रोश और प्रतिवाद भी प्रेम की उत्तेजना जितना ही मर्मभेदी और मादक है। यही कारण है कि गैब्रियल गार्सिया मार्केस नेरुदा को बीसवीं सदी की किसी भी भाषा का सबसे महान कवि मानते हैं। नेरुदा के ‘व्यथा-गीत’ में भी आक्रांत आवाजें, जिद्दी बहाव और आर्त चेतना की मूर्तता दीखती है-

“भीगे फूलों के मुख से बरसता जल,
मेरी हृदय कारा पर
टूटे हुए सामान का तल, भयानक गुफा, दूरी कश्ती की
-तुम्हीं में तो सारी उड़ानें, सारी लड़ाइयाँ इकट्ठा थीं
-एक दूरी की तरह, सब कुछ निगलता यथार्थ” (अनु. लावण्याशाह)

नेरुदा की ही तरह फैंज की कविताओं में देशवासियों पर मुल्की और गैर मुल्की शासकों के अनाचारों पर तंज है-

किस्साए साजिशे अगियार कहूँ या न कहूँ
शिकवाए यारे तरहदार करूँ या न करूँ
जाने क्या वजआ है अब रस्मे वफा की ऐ दिल
वज-अ-ए- देरिना पे इसरार करूँ या न करूँ (जिंदानामा)

जिस सरोकारी मानसिकता से फैज के गजल की शुरुआत होती है; वह अंत में जाकर एकांतिक मुद्रा में पूरी कायनात में पसरी अधियाली पर तंज में मुकम्मल होती है। यह हर कदम भौतिक परिस्थितियों सामाजिक संदर्भों प्रमुखतया राजनैतिक/साम्राज्यवादी शिकंजे की जाँच पड़ताल के रूप में ही अभिव्यक्त होती है;- फैज, ईथल और जूलियस रोजम्बर्ग के खतों से प्रभावित होकर वैश्विक समाजवादी विचारों को शेर में पिरोते हैं-

हिज्र की कल्लगाहों से सब जा मिले, कल्लगाहों से चुनकर हमारे अलम,
और निकलेंगे उश्शाक के काफिले, जिनकी राहें तलब से हमारे कदम,
मुख्तसर कर चले दर्द के फासले,..."

फिराक गोरखपुरी ने फैज की शायरी के संबंध में लिखा है कि 'उनकी दृष्टि स्पष्टतः सामाजिक है किन्तु उनकी चेतना भावना के उद्रेक तक ही सीमित नहीं, बल्कि उसमें बौद्धिकता और भावुकता के उचित सामंजस्य के आधार पर बड़ी गहराई पैदा हो गई है और उसी विशेषता ने उनकी कविता को राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रचारवादी बनने से बचा लिया है।' फैज की राजनीतिक प्रतिबद्धता पर उनके ही देश में सवाल बांग्लादेश के स्वतंत्रता आंदोलन के समय लगाए गए। कोरी राजनैतिक मतवादिता और खूरेंजी से परे फैज ने इसी दौर में 'शरहे बेदर्दी ए हालत न होने पाई' और 'हिज्र करो मेरे तन से' जैसी नज्में बांग्लादेश की घटनाओं से प्रभावित होकर ही लिखी थीं। फैज की एक नज्म तो पूरी तरह से लहू के ही रंग में है-

“खुशीद (सूरज) का कुंदन लहू, महताब (चांद) की चांदी लहू,
सुबहों का हंसना भी लहू, रातों का रोना भी लहू,
हर शजर मीनारे खूं, हर फूल खूने दीदा है,
हर नजर एक तारे खूं, हर अक्स खूं मालीदा है

बांग्लादेश से सम्बन्धित उनकी नज्में 'शामे शहरे यारा', और 'चलो फिर से मुस्कराएं' फैज की आशावादिता के ही सबूत हैं। उनकी एक नज्म 'ढाका से वापसी' ज्यादा प्रभावशाली है; जब वे शान्तिवार्ता को ढाका तो गए पर एक होटल के कमरे में कैद रहे। वापसी पर इसी बेदर्दी एवं महरूमी को व्यक्त करते हैं-

हम के ठहरे अजनबी इतनी मुलाकातों के बाद,
फिर बनेंगे आशना कितना मदारातों के बाद,
कब नजर आएगी बेदाग सब्जे की बहार
खून के धब्बे धुलेंगे, कितनी बरसातों के बाद,...

नए-नए आजाद देशों के बारे में फैज की सोच नई नहीं थी वे शुरू ही से इस उपमहाद्वीप की जनता में दोस्ती और भाईचारे के अलमबरदार रहे। वर्ष 1962 में मास्को में 'लेनिन शांति पुरस्कार' हासिल करते वक्त फैज के ये भाषण अंश उनके वैचारिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते

हैं। उन्होंने कहा कि “सामराजी और गैर सामराजी (साम्राज्यवादी) कूबतों (ताकतों) के लाजिमी कशमकश के अलावा बदकिस्मती से बाज ऐसे मुमालिक में शदीद (तीव्र) इखलाफात (विरोध) मौजूद हैं, जिन्हें हाल में ही आजादी मिली है, ऐसे इखलाफात हमारे मुल्क पाकिस्तान और हमारे सबसे करीबी हमसाया हिन्दुस्तान में मौजूद हैं। बाज अरब हमसाया मुमालिक में और बाज अफ्रीकी हुकूमतों में मौजूद हैं। जाहिर है कि इन इखलाफात से वही ताकते फायदा उठा सकती हैं जो अमने आलम और ईसानी बिरादरी की दोस्ती और यगानगत (भाईचारे) को पसंद नहीं करतीं। इसलिए सुलह पसंद और अमन दोस्त सफों में इन इखलाफात के मुंसिफाना हल पर गौर-ओ-फिक्र और इसके हाल में इमदाद देना लाजिम है।’ फैज इस खुसूसियत और जज्बात को नज्मों में भी ढालते हैं, जब अफ्रीका में चल रहे रंगभेद आन्दोलन और नेल्सन मंडेला की गिरफ्तारी को ‘अफ्रीका कम बैक’ (आ जाओ अफ्रीका) के रूप में शब्द देते हैं-

“आ जाओ अफ्रीका
 धरती धड़क रही है मेरे साथ अफ्रीका
 दरिया थिरक रहा है तो, बना दे रहा है ताल
 मैं अफ्रीका हूँ, धर लिया मैंने तेरा रूप
 मैं तू हूँ, मेरी चाल है तेरे बबर की चाल
 आ जाओ अफ्रीका”
 आ जाओ अफ्रीका से)

फैज के बरअक्स नागार्जुन का अंतराष्ट्रवाद छीजते और बिखरते सपनों के पीछे की त्रासदी और मनोत्पीड़न से उपजा है। नागार्जुन मानते हैं कि यहाँ के अधिकांश लोगों के दुबले पतले और धंसी आंखों वाले होने के पीछे यहाँ की व्यवस्था ही जिम्मेदार है। अतः कवि भारत में सामंतशाही के गढ़ों के साथ-साथ मुसोलिनी, हिटलर, तोजो, फ्रेंको आदि के बच्चों के होने की संभावना से भी इंकार नहीं करता। यहाँ एक तरफ महगाई, जमाखोरी, कालाबाजारी, उत्पीड़न और दमन के मारे लोग हैं, जो सनातन भाग्यवादी और कठिन हैं, जो शांति मैत्री के योग्य ही नहीं हैं। नागार्जुन लिखते हैं-

“तुम्हारी शांति मैत्री
 खाए पिए अघाए हुए
 स्वस्थ सम्पन्न सुखी जनों की शांति मैत्री है
 हमारी शांति मैत्री तो बस यों ही
 आपस में भी काफ़ी नहीं पड़ती
 फूट फाट में बिखरे हुए हम
 शांति मैत्री को भी
 आपस में घोल मट्ठा की तरह
 इस्तेमाल करते हैं।”

फैज और नागार्जुन की इस सार्वजनीन चेतना को नेरुदा की इस अनूदित कविता की भावना से मिलाकर पढ़ें तो तीसरी दुनिया की कविता के एक रस जनवादी काव्य चेतना के सूत्र कहीं न कहीं किसी न किसी बिन्दु पर जाकर जुड़े मिलते हैं-

“शक्ति होती है मौन (पेड़ कहते हैं मुझसे)
 और गहराई भी (कहती हैं जड़ें)
 और पवित्रता भी (कहता है अन्न)
 और रोटी कभी नहीं बोली;
 दुनिया में क्या है मुझसे अच्छा।”
 (सीधी सी बात’ अनु.-मंगलेश डबराल)

नागार्जुन की कविता पंक्ति ‘जनकवि हूँ मैं साफ़ कहूँगा’ में उसी प्रतिबद्धता और जवाबदेही की बात करते हैं जिसे नेरुदा खुद को जनता का कवि कहलाने की मंशा में व्यक्त करते हैं- “मैंने कविता में हमेशा आम आदमी के हाथों को दिखाना चाहा। मैंने हमेशा ऐसी कविता की आस की जिसमें ऊँगलियों की छाप दिखाई दे। मिट्टी के गारे की कविता, जिसमें पानी गुनगुना सकता हो, रोटी की कविता जहाँ हर कोई खा सकता है।” नेरुदा ने फैज की तरह निर्वासन का दंड भी भोगा; जिसका कड़वापन उनके कविता में आर्त रूमानी भाव से व्यक्त है—

“अगर तुम मानते हो इसे उत्कट अभिलाषा और पागलपन,
 लहराते झंडों की हवा
 जो गुजरती है मेरी जिन्दगी से होकर
 और फैसला करती हो तुम
 मुझे छोड़ने का सागर किनारे
 दिल के पास जहाँ मेरी जड़ें हैं,
 याद रहे
 कि उस दिन,
 उठाऊँगा मैं अपनी बाहें
 और हमारी जड़ें प्रयाण करेंगी
 किसी दूसरे देश की तलाश में” (अगर तुम मुझे भूल जाओ—अनु-दिगम्बर)

दिलचस्प ये है कि आजीवन साम्राज्यवाद के खिलाफ लेखनी से संघर्ष, उत्पीड़न के खिलाफ आवाज और अंतिम आदमी के प्रति जवाबदेही के मद्देनजर न तो नेरुदा, न ही फैज या फिर नागार्जुन ही कहीं हताश होते हैं। एक अबाध आस्था तीनों ही कवियों के मौजों में जिंदा है। नेरुदा के ‘कैन्टो जनरल’, ‘मेमोरीज’, ‘असेपरेट रोज’, ‘विंटर गार्डन’, ‘द बुक ऑफ़ क्वेश्चन्स’ जैसी रचनाओं में यही चिंता है। फैज ‘यह फल उम्मीदों की हमदम’ गजल में लिखते हैं-

“सब काट दो, बिस्मिल पौधों को
 बेआब सिसकते मत छोड़ो

.....
 खेती के कोनों खदरों में, फिर अपने लहू की खाद भरो
 फिर मिट्टी सींचो अशकों से, फिर अगली रुत की फ्रिक करो।”
 (यह फल उम्मीदों की हमदम से)

अथवा,
 “कहाँ गए शबे-फुरकत के जागने वाले

सितारा-ए-सहरी हमकलाम कब से है।”
(‘तेरी उम्मीद तेरा इंतजार जब से है’ से)

नागार्जुन की एक कविता में इस भावोद्रेक का पूरा रूपान्तरण कुछ इस रूप में है—

“आगामी युगों के मुक्ति सैनिक, कहाँ हो तुम।
निपीड़ित शोषित मानवता के उद्धारक हो तुम।
आओ सामने आओ बेटे।
मैं तुम्हारा चुम्बन लूँगा।
मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूँगा।” (‘तुमने कहा था’ से)

सभी नए आजाद हुए मुल्कों के बीच का भाईचारा और पूंजीवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लगातार जद्दोजहद और विश्वशांति के आदर्श हैं, जो फैज, नेरुदा की तरह नागार्जुन को भी सबसे प्यारे रहे। जब फैज बेरूत में थे, तब वह खूबसूरत शहर युद्ध स्थल बना हुआ था। फैज की एक नज्म ‘एक नगमा कर्बला ए बेरूत के लिए’ कोई मर्सिया नहीं बलिक संघर्ष के लिए उकसाती है।

‘हर वीरां घर, हर एक खंडहर, हम पाया-ए-कसरे दारा है,
हर गाजी रश्के अस्कंदर, हर दुख्तर हमसरे लैला है,
ये शहर अजल से कायम है, ये शहर अबद तक दायम है,
बेरूत निगारे बज्म जहाँ, बेरूत बदिले बागे जिनां,

नागार्जुन अपने ही देश, अपनी ही जमीं पर उभर रहे कंटीले चेहरों को पहचान देते हैं। इस रूप में—

“देवरस दानव रस
पी लेगा मानवरस
होंगे विकृत विरस
क्या षट्रस क्या नवरस” (देवरस दानव रस)

नागार्जुन का कृती व्यक्तित्व इस उपमहाद्वीप में विशेषकर हिन्दी पट्टी में फैज एवं नेरुदा की ही तरह क्रांतिदर्शी रचनाशीलता का एक अपूर्व प्रतीक बनकर हिन्दी जगत् में प्रतिष्ठित हुआ है। अशोक वाजपेयी मानते हैं कि ‘पचास एवं साठ के दशक में भारतीय कवियों के मानस पर नेरुदा ने गहरी छाप छोड़ी थी।’ परवर्ती पीढ़ी के कवि निकानोर पार्रा जैसे कवि स्वीकारते हैं कि नेरुदा ने स्पानी कविता की आधी शताब्दी की धारा मोड़ दी। अपनी रचनाओं के बारे में खुद नेरुदा ‘यादें’ नामक पुस्तक में उल्लेख करते हैं कि “महान गुरिल्ला नेता ‘चे गुएरा’ ने अपनी डायरी में सिर्फ एक कवि का उद्धरण दिया है और वह मैं हूँ।” हार्वर्ड फास्ट ने लिखा है- ‘साहित्य अपने उत्पादक समाज का सर्वाधिक सटीक प्रतिबिम्ब होता है।’ नागार्जुन फैज और नेरुदा तीनों की ही कविताएँ इसका खरा उदाहरण हैं। जीवन और समाज की सच्चाइयों को ही नहीं पूरे तीखे कशमकश को पूरी निष्ठा ईमानदारी से इन्होंने चित्रित करने का काम किया है। घट रहे घटनाओं के सच को फैज, नेरुदा और नागार्जुन तीनों ही ने द्वंद्वत्मक रूप में देखा, यह जरूर है कि फैज और नेरुदा के वनिस्वत् नागार्जुन ने यथार्थवादी छवि के अंकन

में ज्यादा सपाट अभिधात्मक पद्धति का उपयोग किया है। जनवाद का घोषित लक्ष्य यथास्थितिवाद के विरुद्ध जनमानस को उद्वेलित करना रहा है। तीनों ही कवियों में यह अपील एक जैसी है। यह जरूर है कि फैज ने सूफियाना, नेरुदा ने भावात्मक यथार्थवादी तो नागार्जुन ने सीधे संवाद का रास्ता अख्तियार किया है। मगर जन पक्षधरता में तीनों ही लगभग एक धरातल पर खड़े हैं- गहरे सरोकारी सम्बद्धता के साथ।

संदर्भ:

1. पाब्लो नेरुदा एक कैदी की खुली दुनिया—अरुण माहेश्वरी (राधाकृष्ण प्रकाशन)
2. नागार्जुन रचनावली भाग-1; सं- शोभाकान्त (राजकमल प्रकाशन)
3. <http://hi.Wikipedia.org/s/11 yr>.
4. नेरुदा जन्मशती (27 नवम्बर 2005) पर नामवर सिंह के भाषण।
5. hellopoetry.com
6. hindi samay.com
7. नक्शे-फरियादी, फैज अहमद फैज
8. उर्दू भाषा और साहित्य (1962)- फिराक गोरखपुरी
9. आजकल (फैज जन्मशती विशेषांक) फरवरी, 2011
10. <http://www.poemhunter.com>
11. Blog at worldpress.com
12. (अनुवादित) haashiya.worldpress.com
13. www.kavitakosh.org
14. jankipul.com
15. नागार्जुन : रचना प्रसंग और दृष्टि- संपादक- रामनिहाल गुंजन प्रकाशन (नीलाभ प्रकाशन)
16. anunaad.blogspot.com/2003/07
17. पाब्लो नेरुदा : कविता संचयन—चन्द्रवली सिंह (साहित्य अकादमी)

संपर्क : फैकल्टी ऑफ मास कम्युनिकेशन, एल. एस. कॉलेज, मुजफ्फरपुर, बिहार, मो.- 09572022923

कितनी तो सुन्दर है हर रूप में दुनिया

अरुणाभ सौरभ

अनामिका समकालीन हिन्दी कविता की उपलब्धि हैं। ऐसी उपलब्धि जिसने कविताओं में अपनी ज़मीन स्वयं निर्मित की हैं; या अपनी कविताओं की उर्वरा-शक्ति से समकालीन हिन्दी कविता की ज़मीन को लहलहाने का मौक़ा देती हैं। इसीलिए इनकी कविताओं की एक विशेष पहचान है। उस पहचान को चीन्हने के लिए इनकी कविताओं की गहरी दुनिया में उतरना निरर्थक नहीं है। यही कारण है कि आज की हिन्दी कविता पर कोई भी बहस अनामिका के बिना पूरी नहीं हो सकती। इनका स्वर उस आधी आबादी का स्वर है जिसकी अनुगूँज हिन्दी कविता में प्रायः हाशिए पर रही है और हिन्दी समाज में एकदम नदारद! वह स्वर जो स्त्रीत्व की भारतीय अवधारणा का प्रतिफलन है जिसकी अपनी एक खास परम्परा तो रही है; पर एकदम पैनी/धारदार परम्परा न सही! इस स्वर को चीन्हने हेतु लोक की सहानुभूति तक जाना पाठकों के लिए स्वाभाविक है।

अनामिका कविताओं को वहाँ तक ले जाती हैं जहाँ लोक-कण्ठ की मधुरता है, लोक स्मृतियों का पूर्वाभास है पर एक कौतूहल के साथ! इन सबके केन्द्र में आधी आबादी की समूची दुनिया है। वह हमारी पारम्परिक लोक गाथाओं और लोक धुनों को अपनी कविता में समेटकर अपनी निजता तय करती हैं। इन कविताओं में आकर्षण का मूल कारण यही है। हिन्दी के वरिष्ठतम कवि केदारनाथ सिंह ने इस सन्दर्भ में लिखा है—“वस्तुतः उनका अपना मानसिक परिवेश ऐसा है जिसके रग-रेशे लोक-स्मृतियों में दूर तक फैले हुए हैं। कविता उनके यहाँ कहीं से भी शुरू हो सकती है...अपनी जानी-पहचानी दुनिया में उनकी दृष्टि प्रायः वहाँ टिकती है, जहाँ कोई टूट-फूट होती है या फिर सारी आपात समरसता के भीतर कोई फाँक या दरार। वे अक्सर संकेतों, रूपकों या लोक अभिप्रायों से काम लेती हैं। इस तरह कविता का जटिल तन्त्र विकसित होता है जिसका सम्बन्ध रूप से और भाव तत्त्व अन्तर्वस्तु से अधिक है।”

एक तरफ भारतीय समाज पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जकड़ा हुआ है तो दूसरी तरफ पारिवारिक घरेलू हिंसाएँ सामान्य बात हो जाती हैं। ऐसे में आज जबकि, छेड़छाड़ और बलात्कार जैसी घटनाएँ आम हो गयी हैं, इन सबके बीच समाज में बहुत भयभीत जीवन जीने को अभिसप्त हैं स्त्रियाँ। भारत ही नहीं दुनिया के तमाम देश और व्यवस्था में स्त्रियाँ दोगम दर्जे की ही नागरिक हैं। इसी के प्रतिपक्ष में सिमोन ने 'द सेकेण्ड सेक्स' में बहस के लिए विकल्प दिया था, जिसके मूल में ये बातें हैं कि दुनिया की हर व्यवस्था में चाहे पूँजीवादी हो या समाजवादी हर जगह पुरुषों का ही वर्चस्व है! स्त्री कविता का स्वर पुरुष विरोधी नहीं है बल्कि पितृसत्ता के मौजूद संरचना को चुनौती देकर प्रतिरोध करने की तर्कपूर्ण प्रणाली यहाँ मौजूद है। अनामिका की कविताओं के केन्द्र में उपस्थित स्त्रियाँ अपनी पूरी कलात्मकता से कविता में संवाद करती हैं। उस संवाद के केन्द्र में आम स्त्री के जीवन के समस्त गुण, क्रियाएँ, हर्ष, उल्लास, उत्सव सब कुछ है। इन सबके बीच छिपा हुआ है एक अवसाद जो नेपथ्य की भूमिका निभा रहा है। समस्त राजनीति के बीच एक नेपथ्य अपनी अलग अवसाद परक भूमिका निभा रहा है। उस नेपथ्य से सामने आकर चल रहीं हैं—'खुरदरी हथेलियाँ' में छिपी हुई स्त्रियाँ! जो कहती हैं—

“पढ़ा गया हमको
जैसे पढ़ा जाता है कागज
बच्चों की फटी कॉपियों का
चनाजोर गरम के लिफाफे बनाने के पहले
देखा गया हमको
जैसे कि कुप्त हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी
अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद!

सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठसाठस्स ठुँसी हुई बस में।”²

यहाँ पर उड़ते मन और बेमन से स्त्रियों की आवाज़ को सुनना वह भी फिल्मी गाने जैसे सस्ते कैसेटों पर ठसाठस्स ठुँसी हुई बस में वाली पंक्तियाँ वर्चस्वशाली, प्रभुत्ववान पुरुष समाज में दबी जुबान वाली स्त्री जाति के बयान को दर्ज करती है। 'स्त्रियाँ' कविता स्त्री जाति के बयान को स्त्री वैचारिकी की अवधारणा के साथ सामग्रता में देखने की कोशिश यहाँ साफ़ दिखलाई पड़ती है—

“हम भी इन्सान हैं
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी. ए. के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन!”³

एक मानवीय इकाई तक के रूप में स्त्रियों को देखने की हमारी प्रवृत्ति नहीं है। अकारण नहीं है कि हमारा समाज अब भी मध्यकालीन मानसिकता के साथ जी रहा है; इसीलिए आधी आबादी का व्यक्तित्व इस संरचना में सबसे ज्यादा घुटन के साथ उपस्थित है। सबसे ज्यादा शोषण, उत्पीड़न की शिकार स्त्रियाँ ही होती हैं चाहे जिस समाज की हों। बच्चों की फटी कॉपियों के पन्नों की तरह, दूर के रिश्तेदारों के दुःख की तरह पढ़ी जाती रही हैं—वह! उनकी भावनाओं और संभावनाओं की दुनिया फिर भी बहुत विराट है। नारी जीवन को उन्हीं उत्सुकताओं के साथ पढ़ने की जरूरत है जैसे पढ़ा जाता है नौकरी का विज्ञापन बी. ए. करने के बाद! बँधी-बँधाई और रूढ़ होती व्यवस्था में जीती हुई स्त्रियाँ परम्पराओं के जकड़नों को तोड़ने की कोशिश में संघर्ष करने की हिक्मत करती हैं। दुनिया के सामने नई भाषा और चाल-ढाल सीखने पर उसे बयान करने की जब-जब कोशिशें करती हैं तो उन्हें सुनने को मिलती हैं रंगीन अफवाहें—

“दुश्चरित्र महिलाएँ
दुश्चरित्र महिलाएँ
किन्ही सरपरस्तों के दम पर फूली-फली
अगरधत्त जंगली लताएँ
खाती-पीती, सुख से ऊबी
और बेकार, बेचैन आवारा महिलाओं का ही
शगल हैं ये कहानियाँ और कविताएँ...”⁴

अनामिका अपने संग्रह का नाम ‘खुरदरी हथेलियाँ’ बहुत सोच-समझकर रखती हैं। इन्हें खुरदरी सतहें हमेशा से आकर्षित करती हैं। ‘कवि ने कहा’ की भूमिका में अनामिका लिखती हैं—

“खुरदरी सतहें मुझे हमेशा से आकर्षित करती थीं। भाषा की खुरदरी सतह हो या व्यक्ति की। कायनात की कोई राख, जिसमें प्रकट तौर पर कोई जन नहीं होती, कोई स्पंदन नहीं होता जैसे पत्थर...कोई पत्थर उठाकर भी देर तलक देखने पर यह लगता था आँसू की एक बूँद है जो इसके भीतर काँप रही है, उस कँपकपाहट में सात रंग झिलिर-मिलिर करते और सहस्र अर्थ-छवियाँ।”⁵

सामूहिकता में विश्वास कर जीवन से कविता को गूँथ देने की पूरी कला अनामिका के पास है। ‘खुरदरी हथेलियाँ’ संग्रह की शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ ऐसी विश्वसनीयता प्रस्तुत करती हैं—

“दुनिया का सबसे मजबूत और नाजुक पुल होते हैं
दो लोगों के बढ़कर मिले हुए हाथ...”⁶

इन कविताओं में कहीं अपने घरों में काम-काज करने वाली हाउस-वाइफ का जीवन है, तो कहीं एक औरत का पहला राजकीय प्रवास है। ‘सूली ऊपर सेज पिया की’ जैसी कविता भी इस संग्रह में है जिसमें एक स्त्री आत्महत्या करने के इरादे से पंखे में लटकना चाहती है। यह देखकर कि पंखे पर धूल जमी है—अपना इरादा बदलकर पंखे पर जमे धूल-गर्द को साफ़ करना चाहती है।

“अनुष्ठान है पूरा,

साड़ी का फन्दा बनाकर लटक जाना पंखे से,
 इतना आसान नहीं मरना भी।
 पंखे पर धूल जमी है जैसे सदियों की
 फन्दा लगा लूँ कि पहले पोंछूँ मैं यह धूल पंखे की
 आँचल से
 धूल-धूल, माटी-माटी होने के पहले
 धूल-माटी पोंछ देने की चिन्ता
 एक भोंडा चुटकुला है...”

‘वृद्धाएँ इस धरती का नमक हैं’ शीर्षक कविता एक वृद्धा की उन स्थितियों को प्रदर्शित करती है जिसमें वह घर के सभी फटे-पुराने कपड़ों से उपयोगी सामान गढ़ लेती हैं। उपयोगितावाद का दर्शन यहाँ अनूठे रूप में प्रकट हुआ है। ‘ओल्ड एज होम’ वाले इस दौर में वृद्धाओं की उपयोगिता और प्रासंगिकता को घर के सन्दर्भ में चीन्हने की कोशिश भी यहाँ साफ़ दिखलाई पड़ती है। गीता के ‘जीर्णाणि वस्त्राणि...’ जैसे श्लोक का पुनर्पाठ वृद्धाओं के सन्दर्भ में अनामिका इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं—

“अब बस इतना जानती हूँ जीर्णाणि वस्त्राणि के नाम पर
 कपड़े जब तार-तार होने लगते हैं
 बढ़ जाती है उनकी उपयोगिता।...”

“धुल जाती है बच्चों के सपनों में हिमालय-विमालय की अतल कंदराओं की
 दिव्यवर्णी-दिव्यगंधी जड़ी-बूटियाँ और फूल-वूल
 रहती हैं वृद्धाएँ घर में रहती हैं
 लेकिन ऐसे जैसे अपने होने की खातिर हों क्षमाप्रार्थी...”

यह वास्तविकता तकरीबन हर घर की है जिसमें वृद्धाओं के लिए कोई जगह नहीं है। अगर है तो कविता में जिसमें अनामिका कहती हैं—‘वृद्धाएँ धरती का नमक हैं।’ घर के भीतर घर और घर के अन्दर अपनों की पहचान का सिलसिला यहीं नहीं थमता। बल्कि गृह की गृहिणी या घर की घरनी की दशा शमशेर की कविता ‘टूटी हुई बिखरी हुई’ की तरह नहीं है बल्कि भयावह अर्थ सन्दर्भ के साथ अनामिका की एक कविता का शीर्षक है—‘टूटी बिखरी और पिटी हुई’। ‘पतिव्रता’ शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से भी इस अर्थ सन्दर्भ का पता लगाया जा सकता है—

“स्वामी जहाँ नहीं भी होते थे
 होते थे उनके वहाँ पंजे
 मुहर, तौलिए, डण्डे
 स्टैंप-पेपर, चप्पल-जूते,
 हिचकियाँ-डकारें-खरटि
 और त्योरियाँ-धमकियाँ-गालियाँ खचाखच...”

इसी कविता में आगे लिखती हैं—
 “रोज-रोज मरने में

एक बार शरमाती; लेकिन फिर कुछ सोचकर
मर ही जाती
मरती हुई सोचती—
चिड़ियों ही होना था तो शत्रुमर्ग क्यों हुई मैं...¹⁰

यथार्थ का ऐसा भयावह स्वरूप और वह भी आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के ताम-झाम के बीच विकसित हुए परिवेश में, परिवार में घिरी हुई स्त्री का! आधी दुनिया की समूची हकीकत यही है और पूरा फसाना भी यही है। अपना सब कुछ समर्पित करने के बदले में भी गृहिणी को कम बहुत कम और बिल्कुल ही कुछ नहीं मिलता! 'गृहलक्ष्मी' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

“जैसे कि
मजदूरनी
तोड़ती है पत्थर
मैंने तो तोड़ा खुद
कूट-कूटकर
धूल-धूल कँकड़ी हुई
उड़ी तो चुभी आँखों की किरकिरी-सी
गिरी धँसी तो थोड़ी नींव में पड़ी
थोड़ी सड़क वाली मिट्टी में
पुल के गारे में थोड़ी-सी
थोड़ी-सी घर की दीवारों में...”¹¹

प्रेम कविता लिखना हर समय में प्रासंगिक रहता है। पर अनामिका प्रेम को जीवन की गहन अनुभूतियों के ताप से सिंझाकर प्रेम का रस परिपाक निर्मित करती हैं। इसीलिए इनकी कविताओं में प्रेम झीने-झीने यथार्थ के साथ सम्मिलित हुआ है, जहाँ आधुनिक जाग्रत चेतस सौन्दर्य-बोध भी है और प्रगतिशील कला मूल्य भी। गहराई के साथ उतरता प्रेम नये यथार्थ के साथ जुड़कर सहज अभिव्यक्ति पाता यहाँ दिखाई देता है। मन के कोने से गहन संवाद कर अनुभूतियों की सूक्ष्म पीड़ा को आत्मसात् कर स्त्री मन प्रेम में अपने तरीके से डूबता-उतरता और उपराता इनकी कविताओं में दिखता है। 'दूबधान' संग्रह की कविता 'तुलसी का झोला' में रत्नावली का तुलसी के प्रति प्रेम आत्मोसर्ग की इन परिणतियों के अलावा और क्या है?

“आराम में भी तो एक 'राम' है है कि नहीं
आराम जो तुमको मेरी गोदी में मिलता था?
मेरी गोदी भी अयोध्या थी थी काशी।
तुमने कोशिश तो की होती इस काशी-करवट की।”

“एक विनय-पत्रिका मेरी भी तो है
लिखी गई थी वो सामानान्तर
लेकिन बाँची नहीं गई अब तलक!”¹²

रत्नावली (रत्ना) और तुलसी के सन्दर्भ में प्रायः चर्चा हिन्दी में कम ही हुई है—कविता

में तो न के बराबर! उपन्यास में अमृतलाल नागर कृत 'मानस का हंस' को छोड़कर अन्य में न के बराबर! अनामिका की दृष्टि में रतना (रत्ना) 'रतन' की तुलसी थी रतन मगर गूदड़ में सिली हुई। वह किसी तरह साँस लेती रही अपने गूदड़ में ही उजबुजाती अकबकाती रही। उसने सदियों तक इन्तज़ार किया कि कोई गूदड़ के टाँके तोड़कर उसे ले जाएगा वापस। पर तुलसी को रामरतन मिल गये इस रतन की याद क्यों आती —

“मैंने तुम्हें डाँटा
डाँटा तो सुन लेते
जैसे सुना करती थी मैं तुम्हारी
कुछ देर को रूठ सकते थे
ये क्या कि छोड़ चले
क्या सिर्फ गलियों-चौबारों में मिलते हैं
राम तुम्हारे?...”¹³

पूरी कविता में रत्ना का दुःख और संताप मजबूती से अभिव्यक्त हुआ है। एक व्यथा-कथा को पाठकों के सम्मुख लाकर अन्दर तक झकझोर देने की ताकत यहाँ मौजूद है। वहीं बेआसरा स्त्री अपने एकमात्र प्रेमी पति की याद के आसरे पर ज़िन्दगी की गाड़ी खींच लेने की जद्दोजहद करती यहाँ नज़र आती है। 'रत्ना' के द्वारा अनामिका उन सभी स्त्रियों के दर्द को हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं जो परित्यक्ता हैं। सूखी लकड़ी ले जाने के बहाने रत्नावली का तुलसी से मिलना और मिलकर तुलसीदास का अनदेखा करना आदि प्रसंगों की बड़ी मार्मिक व्यंजना अनामिका करती हैं—

“एक बार नहीं, कुल सात बार
पास मैं तुम्हारे गई
सात बहाने लेकर!
देखा नहीं लेकिन एक बार भी तुमने
आँख उठाकर!
क्या मेरी आवाज भूल गए—
जिसकी, हल्की-सी खुसुर-फुसुर पर
तुममें हहा उठता था समुन्दर?
...तटस्थ शब्द की व्युत्पत्ति
खूब तुमने समझाई, प्रियवर।”²⁴

परित्यक्ता नायिका की संवेदना और मनोविज्ञान का ऐसा बारीक विश्लेषण हिन्दी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है। कविता की समाप्ति वहाँ होती है जहाँ रत्ना स्त्री-विमर्श की वैचारिकता के संग अकेली जीवन जीने का दम-खम रखती है। यहाँ नियति को स्वीकार करना नहीं है—बल्कि तर्क की स्वीकार्यता पर बल दिया गया है—

“अब निकलूँगी मैं भी
अपने संधान में अकेली
आपका झोला हो आपको मुबारक!

अच्छा बाबा, राम-राम ।”¹⁵

ऐसी पंक्तियाँ जीवन की गतिशीलता को प्रमाणित करती हैं, जहाँ गतिशील चेतना के साथ स्त्रियाँ अपना जीवन जीने हेतु सर्वथा समर्थ दिखलाई पड़ती हैं। कविताओं की इस दुनिया में चकलाघर की स्त्रियों का मार्मिक जीवन है, ‘लेडिज संगीत’ है, ‘चिट्ठी लिखती हुई औरत’ का मनोविश्लेषण है तो सार्वजनिक ‘दूबधान- संग्रह में ही एक कविता है—‘आम्रपाली’! ‘आम्रपाली’ ‘वैशाली की नगरवधू’ के नाम से मशहूर है। उस आम्रपाली की कथा को इतिहास, साहित्य और लोकतत्त्व के सहारे कविता में प्रस्तुत करती है। आचार्य चतुरसेन जिसे वैशाली की नगरवधू कहते हैं, अनामिका के लिए बौद्ध भिक्षुणी के रूप में ज्यादा सशक्त होकर वह आती है!

“था आम्रपाली का घर
मेरी ननिहाल के उत्तर
आज भी हर पूनों की रात
खाली कटोरा लिए हाथ
गुजरती है वैशाली के खण्डहरों से
बौद्ध भिक्षुणी आम्रपाली ।”¹⁶

इस आम्रपाली की कथा कविता में अलग सौन्दर्य-बोध के साथ उद्घाटित हुई है। यह वह आम्रपाली नहीं है जिसकी एक झलक को तरसते थे वज्जिसंघ के बाहर के लोग-बाग भी—

...“ये मेरे सन-से सफेद बाल
थे कभी भौरे के रंग के, कहते हैं, लोग,
नीलमणि थीं मेरी आँखें
बेले के फूलों-सी झक सफेद दंतपंक्ति
खण्डहर का अर्द्धध्वस्त दरवाजा है अब जो
जीवन मेरा बदला, बुद्ध मिले ।”¹⁷

जीवन के एक कोने से दूसरे कोने में प्रवेश करने की कथा का यह मनोविज्ञान है। जीवन से सुन्दरता खोज लेने का यह अभ्यास है। और जीवन को सुन्दरता में देख लेने का सहज आभास! जीवन से जीवन का तलाश लेने की कोशिश। उस जीवन के विकास क्रम में सुन्दरता की गुंजाइश यहाँ बची हुई है। जवानी से बुढ़ापा आने के बाद भी जो सुन्दरता खोज लेती है रस से रसायन और बीज का सपना ही हरियाली तलाशना है—यही कविता है और कविता की ताकत भी यही है—

“पक रही है मेरी हर माँसपेशी तो पकने दो उससे क्या
कितनी तो सुन्दर है
हर रूप में दुनिया!”¹⁸

अनामिका की कविताओं में जीवन की बहुलता है, तो जीवन से बहुधा अर्थों में गतिशील तत्त्वों की तलाश इन कविताओं में साफ़ दिखलाई देता है। जहाँ एक तरफ पारम्परिक स्त्रियों का मौसियाँ, माँ, वृद्धाएँ, गृहिणी आदि का पूरा जीवन है तो दूसरी तरफ आधुनिक समकालीन

स्त्रियों का जीवन। स्त्रियाँ यहाँ उन शब्दों से होकर गुजरती हैं जो ठेठ तिरहुत या ठेठ मिथिलांचल की शब्दावली है। एक स्त्री का—“ऋतुमती होना, गर्भधारण करना, दूध पिलाना, बच्चे बड़े करना, पिटना, बलात्कार, गालियाँ खाना, तू-ता, खचर-पचर, भावहीन, यान्त्रिक संभोग, नोच-खसोट...और भी तरह-तरह की हिकारतें चुपचाप झेलते चले जाना स्त्री देह से जुड़े ऐसे बड़े सत्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति की भाषा अब जाकर स्त्रियों ने साधी है। रोटी बेलने जुएँ चुनने, झाड़ू देने तक की विशिष्ट अनुभूतियाँ एक अलग तरह का मेटाफिजिकल/रूपात्मक/प्रतीकात्मक आयाम स्त्री कविता को दे गई हैं।”¹⁹

लोकजीवन और लोकतत्त्व की चासनी में कविता घोलने की कला में अनामिका सिद्धहस्त हैं। चाहे भारतीय ग्राम्यांचल की लोककथा हो, जनश्रुतियाँ हों, शास्त्र-सम्मत कथा हो या ‘सिंदबाद द सेलर’ वाली अरबियन नाइट्स, रूसी लोककथा हो या पंचतंत्र और संस्कृत के लौकिक साहित्य की कथाएँ/गाथाएँ इन सबसे कविता गढ़ने का सूत्र पाने भर की एक सुभ्यस्त समझ अनामिका के पास है। कहीं से भी कविता के लिए मिठास खोज सकने की पूरी कला इन कविताओं में है। लोक जीवन की चासनी में इनकी कविता ऐसे घुल जाती है कि उसमें उपराने के लिए विकल्प ही नहीं बचता है, बल्कि लोक-रस की संप्रकित से स्वाद लेकर कविता की आत्मा ‘बरमब्रूहि’ जैसी तृप्ति का आभास कर लेती है।

सुशिक्षित स्त्री कवि होने का पूरा-पूरा लाभ कविताओं में लेती हैं। चूँकी अनामिका देश-विदेश के साहित्य और विश्व-साहित्य की गम्भीर पाठिका रही हैं इसीलिए कविताओं में भी उनका पूरा संस्कार दिखलाई देता है। **लोक और शास्त्र** का गहन अध्ययन करके विश्लेषण की सूक्ष्म समझ इनके पास है। इन सबको मिलाकर इनकी कविताओं की निर्मिति हुई है। सरल भाषा में गतिशीलता बिम्बों के सहारे सौन्दर्य-शास्त्र के विविध आयामों से ये कविताएँ युक्त हैं। अनामिका तर्क की, विचार की, संवाद-प्रक्रिया की, जनश्रुतियों की, लोकतत्त्वों की, भारतीय-विदेशी कथाओं की शास्त्र सम्मत पड़ताल की कविताएँ रचती रही है। यही इनकी प्रकृति है और खासियत भी। इसीलिए ये कविताएँ शोर-शराबे से अलग अपना वजूद तय करती हैं वह भी पूरी वैचारिक दृढ़ता के साथ!

भाषा के स्तर पर कई जगहों पर निरर्थक शब्द-युग्मों का प्रयोग अद्भुत ढंग से कविताओं को सुपाठ्य बनाता है। मसलन इक्कट-दुककट, टू-टां, खचर-पचर, कमंडल-वमंडल, हिमालय-विमालय आदि अनेक उदाहरण इनकी कविताओं से दिए जा सकते हैं, जो भाषा की सुन्दरता को गढ़ने का काम करते हैं। भाषा में लोक-जीवन के प्रचलित शब्दों का सहज मिश्रण है। भाषिक सुन्दरता से सुगठित ये कविताएँ अपने खास मिजाज, तेवर और अन्दाज़ के लिए हमेशा याद रखी जायेंगी। सौन्दर्य-बोध का ऐसा अभ्यास कम ही कवियों के यहाँ हैं। बिम्ब-सृष्टि में बहुत सर्तकता से काम लेती हैं, अनामिका। एक ही कविताओं की दो अलग-अलग पंक्तियों में अलग-अलग बिम्ब विधान कविताओं को खूबसूरती से भरता है। चाक्षुष, श्रव्य, दृश्य बिम्ब एक साथ उद्घाटित होकर ऑडियोविजुअल कंट्रास्ट के साथ रंग-संयोजन की बारीक बनावट कविता के कैनवास को बहुत सुन्दर बनाते हैं। इन सबके बीच सम्पूर्ण स्त्री जीवन अपनी कला, अपनी भाषा, अपने शिल्प के साथ कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। अपनी कविताओं में अनामिका स्वयं अपने मुहावरे निर्मित करती हैं। मुहावरे, लोकोक्तियाँ, जनश्रुतियाँ सबसे ये कविताएँ सज्जित हैं। इन कविताओं में लोकभाषा की ताकत से कविता गढ़ने की पूरी तमीज़ विकसित हुई है। इसीलिए अनामिका की कविताएँ बार-बार पढ़े जाने की माँग करती हैं। आलोचना के हाथ में भी बहुत-सी छिपी चीज़ें और अनछुए सन्दर्भ आ सकते हैं। अन्ततः इन कविताओं से हर रूप में सुन्दरता

और हर सुन्दरता में एक कलात्मक चेतना और हर कला में जीवन और जीवन में कविता के सूत्र पाये जाते हैं।

सन्दर्भ:

1. केदारनाथ सिंह : 'अनुष्टुप' संग्रह के ब्लर्फ से, अनुष्टुप : अनामिका, किताब घर प्रकाशन, दिल्ली-1998
2. स्त्रियाँ-(कविता)-अनामिका : खुरदरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन-2005, पृ. 13
3. वही,
4. वही,
5. कवि ने कहा : अनामिका, किताब घर-2009, पृ. 5
6. खुरदरी हथेलियाँ-वही,
7. सूती ऊपर सेज पिया की-(अनामिका)-खुरदरी हथेलिया, राधाकृष्ण प्रकाशन-2003, पृ. 33
8. वृद्धाएँ धरती का नमक हैं-(कविता-अनामिका) कवि ने कहा, पृ. 23, खुरदरी हथेलियाँ, पृ. 47
9. (पतिव्रता : अनामिका)-कवि ने कहा पृ. 18
10. वही,
11. गृहलक्ष्मी (कविता)-अनामिका, कवि ने कहा
12. तुलसी का झोला (कविता), दूबधान (संग्रह), भारतीय ज्ञानपीठ
13. वही,
14. वही,
15. वही,
16. आम्रपाली (कविता) 'दूबधान' से
17. वही,
18. वही,
19. कहती हैं औरतें : अनामिका, साहित्य उपक्रम-2009, पृ. 15

अरुणाभ सौरभ J-23-A, जैतपुर एक्स. पार्ट-1 अर्पण बिहार, बदरपुर, नई दिल्ली, 110044
मो.-9871969360 arunahbsaurabh@gmail.com

क्रान्ति के लिये दोहरा मार्गवरोध

ज्यॉक दरीदा
अनु. रामकीर्ति शुक्ल

जून, 1848, हम जल्दी से बता दें कि जून, 1848 एक अलग चीज था और इतिहास-दर्शन में इसका स्थान-निर्धारण असम्भव है। ...लेकिन अंततः क्या था जून, 1848? जनता का अपने ही विरुद्ध विद्रोह... तब तो जिन दो पूर्णतः अवरोधों (barricades) का जिक्र हमने अभी किया है उन पर पाठकों को ध्यान स्थिर करना चाहिये... गृह युद्ध की ये दो भयावह अप्रतिम घटनायें... सा आतीइने अवरोधक दानवी था... आप पूछ सकते हैं, इसे किसने बनाया था? आप यह भी कह सकते हैं, इसे किसने नष्ट किया? महाविनाश। वह महान था और वह जिद्दी था। वह यह उत्तम गड़ढा था जिसे उसी जगह दुबारा आये प्रलय ने विक्षेपित कर दिया था। अवरोधक आक्रोशपूर्ण था... यह विशाल था और जीवित, और जैसे किसी विद्युतीय पशु के पीछे होता है इससे धड़धड़ाहटों की ज्वाला फूट पड़ी। क्रान्ति की ऊर्जा ने अपने बादलों से उस शिखर को ढँक लिया जिसके ऊपर से जनता की आवाज गर्जना कर रही थी जो ईश्वर की आवाज जैसी थी, एक अद्भुत प्रभामण्डल कूड़े के उस विशाल ढेर से फूट पड़ा। वह कूड़े का ढेर था या वह सिनाई पर्वत था (यहूदियों और ईसाइयों के विश्वास के अनुसार वह पवित्र पर्वत जहाँ मूसा को प्रथम ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुए थे।) जैसा कि हमने पहले कहा है, इसने क्रान्ति के नाम पर आक्रमण किया, क्या? क्रान्ति...

वहाँ से एक मील दूर : दु तेम्पुल की एक ओर वह अवरोधक पड़ा था, जिससे सड़क बंद हो गई थी; एक न खिसक सकने वाली दीवार और कोई आवाज नहीं, कोई चीख नहीं, साँस लेने की भी आवाज नहीं। एक कब... उस अवरोध का प्रधान एक छाया अथवा प्रेत था...। सा आतीइने वाला अवरोधक घबड़ाहटों का पुंज था; दु तेम्पुल अवरोधक मौन था। इन दोनों के बीच का फर्क मंच और अपशकुन के बीच का फर्क था, एक अगर खुला मुँह था तो दूसरा महज एक चिन्ह अथवा संकेत।

माना कि जून का धुँधला और विशाल जनविद्रोह किसी आक्रोश और किसी पहेली से

मिलकर बना था। पहले अवरोधक का रूप एक ड्रेगन का था और दूसरे का एक अग्नि-पक्षी का।

इस रसातल में बात करने के अलावा और क्या किया जा सकता है? सोलह सालों से अन्दर ही अन्दर जनाक्रोश की आग सुलग रही थी अब महाविराट व्यक्ति और दैत्याकार व्यक्ति आमने-सामने नहीं थे। अब होमर की बजाय मिल्टन और दांते जैसे लोग थे। हमलावर पिशाच थे, उनका प्रतिरोध प्रेत कर रहे थे। भीड़ में से कहीं बहुत अधिक भीतर से आवाज आयी, “नागरिको, आओ, मुर्दों के विरोध के लिये तैयार हो जायें।”

यह कहने वाले आदमी का नाम कभी नहीं जाना जा सका... मानवीय संकटों और समाज के पुनर्जन्मों में इस तरह की महान् अनामता हमेशा पायी जाती है..।

“मुर्दों का विरोध” की घोषणा करने वाला जननायक जब बोल चुका और साधारण आत्मा का सूत्र दे चुका, तो सभी होठों से विचित्ररूप से सन्तुष्ट और भयाक्रान्त करने वाली आवाज निकली, जो एक और शवयात्रा का संकेत थी लेकिन जिसमें विजय की ध्वनि थी। “मृत्यु जिन्दाबाद! हम सब ठहरें।”

“सब क्यों?”

“सब, सब!”

—विक्टर ह्यूगो : *लेज मिजरेबलस*

मार्क्स के प्रेत। व्याख्यान का यह शीर्षक हमें सबसे पहले मार्क्स के विषय में बोलने के लिये प्रतिश्रुत करता है। स्वयं मार्क्स के बारे में उनके साक्ष्य अथवा वसीयतनामे के बारे में। और एक प्रेत, मार्क्स की छाया, उस मृतात्मा के बारे में बात करने के लिये, जिसकी वापसी का अभिचार द्वारा रोने का प्रयास बहुत-सी आवाजें कर रही हैं। क्योंकि यह किसी अभिचार अथवा षड्यंत्र जैसा लगता है और इसका कारण है उन तमाम राजनैतिक व्यक्तियों द्वारा सहमति-पत्र अथवा अनुबंध पर हस्ताक्षर करना जो कमोवेश स्पष्ट अथवा कमोवेश गुप्त उपबंधों पर सहमत है (मुद्दा होता है या तो हमेशा जीत लेने का अथवा सत्ता की कुंजी पर कब्जा जमाने का), लेकिन प्रथमतः इसलिये क्योंकि इस तरह के अभिचार का मतलब होता है ऐन्द्रजालिक विधि से अदृश्य कर देना। किसी को भी चाहिये कि वह जादुई तरीके से उस प्रेत को भगा दे जो अपने आप में अनिष्टकारक है तथा जिसका दानवी रूप मय शताब्दी के ऊपर छाया हुआ है।

क्योंकि कई जोर-शोर के साथ इस तरह का अभिचार इस बात पर आप्रह करता है कि जो वस्तुतः मृत है (इस अभिचार का ऐसा कहना है) वह मृत ही रहे क्योंकि यह सन्देहों को जन्म देता है। यह हमें वहीं जगा देता है जहाँ हमें इसे सुला देना चाहिए। सतर्क (रहना होगा) यह शव शायद उतना मृत, सीधे-सीधे मृत न हो जितना यह अभिचार में हमें विश्वास दिलाने का प्रयास कर रहा है। वह जो गायब हो चुका है, फिर दिखाई पड़ जाता है और उसकी छाया कुछ नहीं है। यह कुछ नहीं करता। यह मानते हुये कि अवशिष्ट अस्थियों की शिनाख्त हो सकती है, हम अब पहले से कहीं ज्यादा बेहतर जानते हैं कि मृत लोग कुछ करने में समर्थ होते हैं। शायद हमेशा से कहीं अधिक काम करने के कारण बन सकते हैं। छायाओं के उत्पादन की भी एक विधि होती है जो स्वयं ही एक छायाभासी उत्पादन विधि होती है। और जैसा कि अपघात के बाद शोक के कार्य में होता है, अभिचार को यह सुनिश्चित करना पड़ता है कि मृत लोग वापस नहीं आयेंगे: वह सब कुछ करना होता है और जल्दी करना होता है जिससे कि शव एक स्थान पर, एक सुरक्षित स्थान पर पड़ा रहे, वहीं सड़ता रहे जहाँ इसे दफनाया गया था, अथवा जहाँ

जैसा कि मास्को में किया जाता था, सुरक्षित रखने के लिए इस पर लेप किया गया था। जल्दी-जल्दी एक ऐसा तहखाना जिसकी चाभियाँ कब्जे में हैं। ये चाभियाँ और कुछ नहीं बल्कि उस शक्ति की चाभियाँ होंगी जिसे मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् वह अभिचार पुनर्चित करना चाहेगा। पहले हम *ताला खोलने* की, अर्थात् उस तर्कपद्धति की बात कर रहे थे जिसमें मैं इस व्याख्यान को दिशा देना चाहता था, उस अपघात और शोक के कार्य के स्थानविज्ञान की राजनैतिक तर्कपद्धति। वास्तव में अपनी यथार्थता और अवधारणा में एक ऐसी शोकाभिव्यक्ति जो समावेश और अन्तःक्षेपण के बीच किसी सम्भावित सभ्यता, किसी संभावित सीमा के बिना असमाप्त रहने वाली शोकाभिव्यक्ति, जैसे कि हमने संकेत किया है लेकिन वही तर्कपद्धति जिसका संकेत हम कर चुके हैं, उस न्याय के निषेध का उत्तर देती है जो अधिकार और विधान के परे उस सम्मान में उदित होती है जो न रहने वाले, अभी तक अथवा अब, इस समय जीवित न रहने वाले के प्रति ऋण शेष बना रहता है।

शोकाभिव्यक्ति हमेशा अपघात के बाद आती है। मैंने अन्यत्र यह दिखाने की कोशिश की है कि शोकाभिव्यक्ति का कार्य अन्य प्रकार के कार्यों जैसा कार्य नहीं होता। यह स्वयं कार्य है, सामान्य रूप से ऐसा कार्य, ऐसा लक्षण जिसके द्वारा किसी उत्पादन की अवधारणा पर ही शायद हमें पुनर्विचार करना चाहिये—अर्थात् (उस विधि) से जो इसे अपघात, शोकाभिव्यक्ति, स्वत्वहरण की आदर्शकारी पुनरावृत्ति और इस तरह किसी कार्यशैली (tekhne) में क्रियाशील प्रेतीय आध्यात्मकरण से जोड़ती है। फ्रायड की एक ऐसी उक्ति पर कुछ अनिश्चयात्मक टिप्पणी करने का लोभ हो रहा है जो एक ही तुलनात्मक इतिहास के भीतर भावी मानवीय आत्म-मुग्धता पर होने वाले उन तीन अपघातों को जोड़ती है जो तब घटित होते हैं जब यह आत्म-मुग्धता इस तरह वि-केन्द्रित हो जाती है : *मनोवैज्ञानिक* अपघात (मनोविश्लेषण द्वारा आविष्कृत अचेतन द्वारा चेतन अहं को शासित करने की शक्ति), उसके पहले (डारविन-जिनका उल्लेख एंगेल्स ने *घोषणापत्र* के 1888 के संस्करण के प्राक्कथन में किया है—द्वारा सिद्ध किया गया पशुओं से मनुष्य का विकास) *जीव वैज्ञानिक* और उसके भी पहले *ब्रह्माण्ड विज्ञान* सम्बन्धी अपघात (कॉपर्निकस की धियरी पृथ्वी ब्रह्माण्ड के केन्द्र में अब नहीं रह गई, इससे भू-राजनीति की सीमाओं के तमाम तरह की परिणाम निकाले जा सकते हैं)। हमारी अनिश्चयात्मकता (अपोरिया) की जड़ यहाँ इस तथ्य में है कि मार्क्सवादी क्रान्ति और इसके विषय के निर्धारण के लिये अब कोई नाम की सोद्दश्यता नहीं रही। फ्रायड सोचते थे कि उन्होंने यह मालूम कर लिया है कि मनुष्य और उसका आत्म-मोह क्या होते हैं। मार्क्सवादी प्रहार, कभी मसीहाई अथवा युगांतवैज्ञानिक रूप में, चिंतन और श्रमिक आन्दोलन की प्रक्षेपित एकता उतना ही जितना कि यह एकाधिकारवादी दुनिया (जिसमें नात्सीवाद और फाँसीवाद शामिल है और ये दोनों स्तालिनवाद के कभी भी अलग न किये जा सकने वाले शत्रु हैं) का इतिहास है। मानवता के लिये, इसके इतिहास की देह में, और इसकी अवधारणा के इतिहास में यह सबसे गहरा घाव है और जो मनोविश्लेषण द्वारा जनित (फ्रायड के मत में तीसरा और गम्भीरतमघाव) मनोवैज्ञानिक प्रहार से कहीं अधिक अपघाती है। क्योंकि हम जानते हैं कि मार्क्स के नाम से बड़े रहस्यमय ढंग से किया गया यह प्रहार दूसरे तीनों प्रहारों को पूँजीभूत कर इकट्ठा कर लेता है। इस प्रकार यह तीनों को मान कर चलता है, भले ही पिछली शताब्दी में ऐसा न होता रहा हो। यह उन्हें क्रियाशील कर उन्हें उनकी सीमा के पार लेकर चला जाता है ठीक जैसे यह मार्क्स का नाम ग्रहण करने के बावजूद इसको अतिक्रमित करता है। मार्क्सवाद की शताब्दी पृथ्वी के, इसकी भू-राजनीति के, इसकी सत्तामीमांसक-धर्मशास्त्रीय पहचान में मनुष्य अथवा इसके जन्मगत संरक्षक तत्त्वों के, अहं-ज्ञान और आत्म-मोह की

अवधारणा के टेक्नो-वैज्ञानिक और प्रभावी विकेन्द्रण की शताब्दी जिसकी अनिश्चययात्मकतायें विखण्डन की स्पष्ट विषयवस्तु हैं। अपघात उसी गति द्वारा अनवरत रूप से नकारा जाता है जिसके द्वारा कोई इसे ढँकने, आत्मसात् करने, आभ्यांतरीकृत करने और समायोजित करने की कोशिश करता है। इस शोक-कार्य की प्रक्रिया में, इस कभी न खत्म होने वाले कार्यभार में, प्रेत वह बना रहता है जो किसी को सोचने के लिये और उसे करने के लिये सर्वाधिक उपलब्ध रहता है। आइये हम उन चीजों पर और ध्यान दें और उनका खुलासा करें :

लेकिन मार्क्स के प्रेत दूसरी ओर से मंच पर आ जाते हैं। वे सम्बन्धकारकों के दूसरे रास्ते के अनुसार नामित होते हैं—और वह दूसरा व्याकरण, व्याकरण की तुलना में कुछ अधिक ही कहता है। मार्क्स के प्रेत मार्क्स के भी हैं। सबसे पहले शायद वे प्रेत हैं जो मार्क्स के भीतर निवास करते थे, वे प्रेत जिनके साथ मार्क्स स्वयं ही उलझे रहे होंगे और जिन्हें वे पहले से ही अपना बना चुके रहे होंगे। जिसका मतलब यह नहीं होता है कि वे उनके रहस्यों को जानते थे और न ही इसका मतलब यह होता है कि उन्होंने अपनी ओर से उस व्यग्रकारी आवृत्ति को विषयवस्तु के रूप में प्रतिपादित कर लिया था जो तब विषयवस्तु बनता अगर प्रेत के बारे में कोई यह कह सकता कि यह आपके सामने अपने को उस रूप में प्रस्तुत अथवा व्यक्त किये जाने की छूट देता है जैसे किसी प्रस्तावना अथवा संश्लेषण, किसी पद्धति अथवा किसी प्रमेय को करना चाहिये। अगर कोई प्रेत है, तो ये सारे मूल्य उसके द्वारा बेकार बना दिये जाते हैं।

मार्क्स के प्रेत : इन शब्दों से आगे हम कुछ उन आकृतियों का नामकरण करेंगे जिनके आने को सबसे पहले मार्क्स ने लक्षित किया होता, उनका वर्णन किया होता। वे लोग जो सर्वोत्तम के उद्घाटक होते हैं और जिनके होने का उन्होंने (मार्क्स ने) स्वागत किया होता, वे जो निकृष्टतम से पैदा होते हैं अथवा उसे भयभीत करते हैं, जिनके साक्ष्य को उन्होंने अस्वीकार कर लिया होता। प्रेत के अनेक समय होते हैं। अगर कोई प्रेत होता है तो उसका यह उचित लक्षण होता है कि कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं जान पाता कि लौटने के साथ यह किसी जीवित अतीत अथवा भविष्य का साक्ष्य देता है, क्योंकि प्रेत पहले से किस जीवित मनुष्य के प्रेत की प्रतिश्रुत प्रत्यावर्तन को लक्षित कर सकता है। इस सन्दर्भ में कम्युनिज्म हमेशा छायाभासी रहा है और रहेगा। यह हमेशा आनेवाला होता है और लोकतन्त्र की तरह, किसी स्वयं के प्रति उपस्थित के प्राचुर्य के रूप में उपस्थिति की साकल्यता के रूप में समझे जाने वाले जीवित वर्तमान से अलग किस्म का होता है। पूँजीवादी समाज राहत की साँस ले सकते हैं और अपने से कह सकते हैं : बीसवीं सदी के एकाधिकारवादियों के पतन के पश्चात् कम्युनिज्म समाप्त हो गया है और केवल समाप्त ही नहीं हुआ है अपितु यह घटित ही नहीं हुआ था, यह महज एक प्रेत था। वे असंदिग्ध को अस्वीकार करने से अधिक कुछ नहीं करते: प्रेत की मृत्यु कभी नहीं होती, यह हमेशा आने वाला, वापस आने वाला होता है।

हम याद करें कि *कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र* में पहली संज्ञा पहले ही पृष्ठ पर तीन बार उल्लिखित हुई है और वह संज्ञा है 'प्रेत' "एक प्रेत योरोप के ऊपर मंडरा रहा है", 1848 में मार्क्स कहते हैं 'कम्युनिज्म का प्रेत'। अगर एंगेल्स नहीं तो मार्क्स, एकाध अनुच्छेद के बाद, उस भय को मंच पर ले आते हैं जो यह प्रेत पुराने योरोप की सभी सत्ताओं में पैदा कर रहा है। इस प्रेत के अलावा और किसी की बात काई कर ही नहीं रहा है। इसी प्रेत के पर्दे पर सारे छायाभास प्रक्षेपित कर दिये जाते हैं (अर्थात् किसी ऐसी चीज पर जो अनुपस्थित है क्योंकि पर्दा स्वयं एक छायाभ्रम है जैसे भविष्य के टेलीविजन के पर्दे पर, जिसके पास किसी भी पर्दे का सहारा नहीं है और जो अपने 'बिम्बों—कभी संश्लेषी बिम्बों—को सीधे आँखों पर ही प्रक्षेपित

करेगा, जैसे सीधे कान के पर्दे पर पड़ने वाली टेलीफोन की आवाज। हम संकेतों की तलाश करते हैं, उलट जाने वाली मेजों, चलने वाली तश्तरियों पर निगाह जमाये रहते हैं। क्या इससे कोई जवाब मिलेगा? जैसे उस स्थान में, जहाँ आत्माओं को बुलाया जाता है लेकिन जिसे गली के नाम से पुकारा जाता है, कोई सारी राजनीति को किसी के आगमन की भयावह कल्पना से अनुकूलित करता हुआ अपना सामान अपना फर्नीचर देखता रहता है।¹² राजनेता ऋषि अथवा भविष्य-द्रष्टा होते हैं जिस छायाकृति को वे चाहते हैं उससे डरते भी हैं, जिसके बारे में वे जानते हैं कि वह (छाया) किसी को साक्षात् नहीं प्रस्तुत कर सकती लेकिन तमाम ऐसे प्रहार करती हैं जिनका गूढ़ार्थ जानना होता है। इस तरह सभी सम्भव मोर्चे बनाये जाते हैं इस सामान्य शत्रु को, “कम्युनिज्म के प्रेत” को अभिचार से उड़ा देने के लिये। इस प्रकार का मोर्चा प्रेत की मृत्यु का संकेत होता है। इसे बुलाया जाता है भगाने के लिये, हर कोई प्रेत के नाम की कसमें खाता है लेकिन बस इसे छूमंतर कर देने के लिये। और कोई दूसरी बात ही नहीं की जाती। लेकिन आप कर ही क्या सकते हैं क्योंकि यह अर्थात् प्रेत, प्रेत कहलाने योग्य कोई प्रेत कहीं है ही नहीं? और जब वह होता भी है, अर्थात् न होते हुए भी जब वह होता है, तब आप महसूस करते हैं कि प्रेत देख रहा है हालाँकि हेलमेट के भीतर से देख रहा है; वह दर्शकों और अन्धे भविष्यद्रष्टाओं को ध्यान से देख रहा है, उनका जायजा ले रहा है और उन्हें घूर रहा है लेकिन आप इसे नहीं देख पा रहे हैं कि यह देख रहा है; यह अपने हेलमेट के कवच के पीछे सुरक्षित बना रहता है। इसलिये और कोई बात न कर केवल इसे भगाने, इसे निकालने, इसे हटा देने की ही बात की जा रही है। इस तरह आत्मायन (आत्माओं को मंत्रबल से बुलाने का कक्ष) पुराना योरोप है जो अपनी सारी ताकतों को इकट्ठा कर रहा है। अगर षड्यन्त्रकारी लोग प्रेत को गायब करने का प्रयास करते हैं जो भी उन्हें पता नहीं होता है कि वे किसके बारे में और क्या कह रहे हैं। षड्यन्त्रकारियों के लिये कम्युनिज्म एक नाम है, पवित्र मोर्चा एक पवित्र मृगया है : “पुराने योरोप की सारी शक्तियाँ इस प्रेत के विरुद्ध एक पवित्र मृगया में शामिल हो गई हैं।”

इसे कौन नकार सकता है? अगर कम्युनिज्म के विरुद्ध कोई मोर्चा बनने की प्रक्रिया में है, फिर वह मोर्चा चाहे पुराने योरोप का हो या नये योरोप का, यह होगा पवित्र गठजोड़ ही। पवित्र पिता पोप का पितृ-सुलभ स्वरूप, जिसे मार्क्स उद्धृत करते हैं, इस गठजोड़ में अब भी पोलिश पोप के रूप में प्रमुख स्थान बनाये हुये हैं जो यह शेखी बघारते हैं (और इस शेखी को गोर्बाचोव प्रमाणित करते हैं) कि योरोप में कम्युनिज्म के एकाधिकारवाद को ढहाने में वे यूँ ही नहीं लगे थे बल्कि इसलिये क्योंकि इससे एक नये योरोप का जन्म होगा और यह नया योरोप वही होगा जो उसे होना चाहिये अर्थात् ईसाई योरोप। जैसे उन्नीसवीं सदी के पवित्र मोर्चे में, वैसे ही इस बार भी रूस इस पवित्र मोर्चे में सहभागी हो सकता है। इसीलिये हम नव-धर्मवाद (निओ-इवेंजलिज्म) पर बल दे रहे थे—अर्थात् ‘फुकूयामा’ की हीगलवादी वाग्मिति वाला नव-धर्मवाद। एटरनर के प्रेत-सिद्धान्त में इसी हीगलवादी नव-धर्मवाद की मार्क्स ने बड़ी तीक्ष्णता और कठोरता से निन्दा की थी। इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे लेकिन यहाँ उस मिलन-स्थल का संकेत अवश्य करना चाहेंगे क्योंकि हमारा मानना है कि यह बहुत महत्वपूर्ण है।

जिस प्रेत के बारे में मार्क्स बात कर रहे थे अर्थात् कम्युनिज्म, वह वहाँ न होते हुये भी मौजूद था। अभी तक वह वहाँ नहीं था और वह कभी भी वहाँ नहीं होगा। प्रेत का कोई सत्व नहीं होता लेकिन किसी प्रेत की विचित्र पहचान उसकी रहस्यमयता के बिना होता ही नहीं। प्रेत क्या होता है? इसका इतिहास क्या है और इसका काल क्या है?

जैसा कि इसके नाम से जाहिर होता है, प्रेत किसी दृश्यमानता की आवृत्ति है लेकिन

अदृश्य की दृश्यमानता। अपने सारतत्त्व में दृश्यमानता दिखाई नहीं पड़ती और इसी कारण यह प्रपंच अथवा सत्य से परे होती है। अन्य चीजों के अलावा प्रेत वह है जिसकी कोई कोई कल्पना करता है, जिसे वह देखता है। उसके बारे में सोचता है, प्रक्षेपित करता है। किसी काल्पनिक पर्दे की संरचना में छाया का गायब हो जाना निहित होता है। लेकिन अब आँख बन्द करना भी सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी वापसी देखने के लिये आँख लगी होती है। परिणाम होता है स्वयं भाषा की पूरी नाटकीयता और समय के ऊपर चमत्कारकारी चिन्तन। परिप्रेक्ष्य को एक बार उलझा देना होता है : प्रेत, ऐन्द्रिक—अनैन्द्रिक, दृश्य—अदृश्य, सबसे पहले हमें देखता है। हम उसे देखें उसके पहले ही आँख की दूसरी ओर से यह हमें वाइजर-प्रभाव के चलते देख लेता है। हमें महसूस होता है कि हमें देखा जा रहा है, कभी-कभी किसी प्रेत-छाया के पहले ही हम जाँच के घेरे में होते हैं। विशेष रूप से—और यही घटना होती है क्योंकि प्रेत घटना का ही होता है—यह हमें मुलाकात के दौरान देखता है, यह मुलाकात के बदले मुलाकात करता है, देखने के बदले देखने आता है। मुलाकात के बदले मुलाकात, क्योंकि यह हमें देखने लौटता है क्योंकि मिलना (देखना, पड़ताल करना, सोचना) आवृत्ति अथवा प्रत्यावर्तन अथवा भेंट करने की आवृत्ति का भी अर्थ देता है। लेकिन भेंट करने की आवृत्ति किसी उदार प्रेतछाया के क्षण को, अथवा मित्रतापूर्ण दृश्य को हमेशा चिन्हित नहीं करता। यह कड़े निरीक्षण अथवा हिंसक तलाश, इसके परिणामस्वरूप उत्पीड़न, कठोर शृंखलाबद्धता का संकेत हो सकता है। अगर इस दुहराव का हम ध्यान रखें तो छायाग्रस्तता की सामाजिक विधि, इसकी मौलिक शैली को आवृत्ति भी कहा जा सकता है। हम यह स्पष्ट करने जा रहे हैं कि दूसरों की तुलना में मार्क्स प्रेतों की आवृत्ति में ज्यादा रहते थे।

आगमन के दौरान प्रेत अपने को उपस्थित करने के लिए *प्रकट होता है*। कोई अपने लिये इसका प्रतिनिधिकरण करता है लेकिन यह स्वयं रक्त-मांस में उपस्थित नहीं होता। प्रेत की यह उपस्थिति माँग करती है कि हमें इसके समयों और इसके इतिहास, इसकी कालिकता अथवा इसकी ऐतिहासिकता की अद्वितीयता पर विचार करना चाहिये। 1847-48 में जब मार्क्स कम्युनिज्म के प्रेत का नामकरण कर रहे होते हैं तब वे इसे उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उत्कीर्ण करते हैं जो उस परिप्रेक्ष्य का ठीक उलटा था जिसे मैं प्रारम्भिक तौर पर 'मार्क्स के प्रेत' शीर्षक के द्वारा प्रस्तावित कर रहा था। जहाँ मैं एक वर्तमान अतीत के अभिनिवेश का, मृतकों की उस वापसी का नामकरण करना चाहता था जिससे विश्वव्यापी शोकाभिव्यक्ति का कार्य छुटकारा नहीं पा सकता, जिसके प्रत्यावर्तन से यह आँख बचाना चाहता है लेकिन जिसके पीछे यह दौड़ता (बहिष्कृत करता, निर्वासित करता और साथ ही जिसका यह अनुगमन करता है) वहीं मार्क्स एक आने वाली उपस्थिति की घोषणा करते हैं। पुराने योरोप के विचारधारात्मक प्रतिनिधिकरण में जो थोड़े समय के लिये केवल एक प्रेत के रूप में सामने आता है उसे ही, भविष्य में, एक वर्तमान यथार्थ अर्थात् एक जीवित यथार्थ बनना पड़ेगा। *घोषणापत्र* इस जीवित यथार्थ की प्रस्तुति का आह्वान करता है : हमें इस बात पर ध्यान देना है कि भविष्य में यह प्रेत—और प्रथमतः लगभग 1848 तक गुप्त रहने के लिये विवश मज़दूरों का एक संगठन—*यथार्थ* और एक *जीवित* यथार्थ बन जाता है। यह यथार्थ जीवन अपने को स्वयं व्यक्त करें और सामने आये, इसे अपने को न इस रूप में अथवा पुराने योरोप से परे जाकर एक इण्टरनेशनल के सार्वभौमिक आयाम में *प्रस्तुत करना है*।

लेकिन इसे अपने को एक घोषणापत्र के रूप में भी प्रकट करना है जो एक दल का *घोषणापत्र* होगा। क्योंकि मार्क्स पहले ही समुचित राजनैतिक संरचना की शक्ति को एक दल का रूप दे देते हैं जिसे *घोषणापत्र* के अनुसार, क्रान्ति, रूपान्तरण और अन्ततः राज्य के

विनियोजन और विनाश, और स्वयं राजनीति के अन्त का उपकरण बनना पड़ेगा। और चूँकि राजनीति के अन्त का इसका एक मात्र लक्ष्य एक पूर्णरूप से जीवित यथार्थ की प्रस्तुति का समकालिक होगा, अतः यह एक और कारण है ऐसा सोचने के लिये कि राजनीति में हमेशा एक सार रहित रूप, एक प्रेत का रूप रहेगा।

और यहाँ एक विचित्र प्रतीक (मोटिव) की चर्चा जरूरी है। उभर रहे राजनैतिक विश्व में और शायद लोकतन्त्र के एक नये युग में जो गायब होने की ओर उन्मुख होता है वह होता है पार्टी के नाम से पहचाने जाने वाले संगठन, दल-राज्य सम्बन्ध का प्रभुत्व अंततः जो दो शताब्दियों तक ही, अथवा इससे थोड़े ही ज्यादा समय तक जीवित रह सकेगा, एक ऐसा समय जिससे जुड़े हैं संसदीय और उदार लोकतन्त्र के कुछ निश्चित रूप, संवैधानिक राजतन्त्र, नात्सी, फासीवादी अथवा सोवियत एकाधिकारवाद। जिसे दल की स्वतः सिद्धियाँ कहा जाता है उनके बिना इनमें से एक भी शासन व्यवस्था सम्भव न हो पाती। और आज, जैसा कि कोई भी दुनिया में देख सकता है, दल की संरचना अधिकाधिक संदेहास्पद ही नहीं हो रही है (और इसके कारणों में महज 'प्रतिक्रियावादी' कहे जाने वाले कारण अर्थात् क्लासिकी व्यक्तिवादी प्रतिक्रियावाद ही शामिल नहीं है) अपितु यह सार्वजनिक स्थान, राजनैतिक जीवन, लोकतन्त्र और संसदीय अथवा अ-संसदीय प्रतिनिधित्व की नई-टेलि-टेक्नो-सूचना-माध्यमों-स्थितियों के साथ बिल्कुल ही अनुकूल हो रही है। भविष्य में मार्क्सवाद, इसकी वसीयत अथवा साक्ष्यपत्र के भविष्य पर किसी भी चिंतन में अन्य चीजों के अलावा दल की अथवा राज्य के साथ इस दल के सहसम्बन्ध के एक विशेष यथार्थ अथवा विशेष अवधारणा की ससीमता भी शामिल होनी चाहिये। यह एक ऐसा आन्दोलन रूप रहा है जिसे राज्य और इस प्रकार दल और मजदूर संगठन की पारम्परिक अवधारणाओं का विखण्डन कहने का लोभ हो सकता है। हालाँकि इनसे राज्यों के क्षरण का संकेत नहीं मिलता, फिर चाहे वह मार्क्सवादी अर्थ में राज्य हो अथवा ग्रांशी के अर्थ में, लेकिन तो भी उनकी ऐतिहासिक अद्वितीयता का विश्लेषण हम मार्क्सवादी विरासत से कट कर नहीं कर सकते—और यहाँ विरासत का अर्थ है पहले की अपेक्षा कहीं अधिक एक प्रकार का आलोची और रूपान्तरकारी फिल्टर अथवा छान्ना, और यहाँ सामान्य रूप से राज्य इसके जीवन और इसकी मृत्यु के पक्ष अथवा विपक्ष में होने का सवाल ही नहीं उठता। योरोपीय (और साथ ही अमरीकी) राजनीति के इतिहास में एक ऐसा क्षण आया था जब दल के अन्त की बात करना उसी तरह प्रतिक्रियावादी माना जाता था जैसे स्वयं लोकतन्त्र के सन्दर्भ में अस्तित्वमान संरचनाओं की अपर्याप्तता का विश्लेषण करना। यहाँ हम सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की सावधानियों के साथ यह परिकल्पना प्रस्तुत कर सकते हैं कि अब ऐसा नहीं है, हमेशा नहीं है, (क्योंकि राज्य के खिलाफ संघर्ष के पुराने रूप काफ़ी समय तक जीवित रह सकते हैं), हमें इस तरह के वाकूल से मुक्त होना पड़ेगा ताकि बात अब ऐसी न रह जाये। परिकल्पना यह है कि यह बदलाव शुरू हो चुका है, इसे मोड़ा नहीं जा सकता।

1848 के घोषणा पत्र के अनुसार सार्वभौमिक कम्युनिस्ट पार्टी, कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल प्रेत का अन्तिम अवतार, प्रेत की यथार्थ उपस्थिति और इस प्रकार प्रेतीयता के अन्त का संकेत होगा। भविष्य का ब्यौरा नहीं दिया जाता, किसी स्थिर विधि से इसका पूर्वाभास नहीं किया जाता है, इसकी घोषणा, प्रतिश्रुति और आह्वान निष्पादी विधि से होती है। लक्षणों के आधार पर मार्क्स निदान और पूर्वानुमान करते हैं। वह लक्षण जो रोग को प्रमाणित करता है यह है कि कम्युनिस्ट प्रेत का भय मौजूद है। पवित्र गठबन्धन को ध्यान में रखने से भय के संकेत मिल जाते हैं। इन संकेतों का अर्थ अवश्य होना चाहिये और यह अर्थ, उदाहरण के लिये, यह है कि योरोपीय

सत्ताएँ, प्रेत के माध्यम से कम्युनिज्म की ताकत को पहचानती हैं। (“सभी योरोपीय शक्तियाँ कम्युनिज्म को स्वयं शक्ति के रूप में संज्ञापित कर रही हैं”)। जहाँ तक पूर्वानुमान की बात है तो इससे पहले से ही देख लेना ही नहीं शामिल होता अपितु भविष्य में कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र के आगमन के लिए आह्वान करना भी शामिल होता है जो प्रेत की अनुश्रुति को कम्युनिस्ट समाज की यथार्थता में कभी भी रूपान्तरित न कर (अनुश्रुत प्रेत और उसके पूर्ण अवतार के बीच की) यथार्थ घटना के उस दूसरे रूप में बदल देगा जो कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र है, प्राकट्य के घोषणापत्र का (मसीही) पुनरागमन, दल के रूप में, न कि उस दल के रूप में जो इस मामले में अतिरिक्त रूप से, कम्युनिस्ट दल के रूप में दल के सार तत्त्व को निष्पादित करेगा। घोषणापत्र के कारण घोषणापत्र का आह्वान, अथवा घोषणापत्र की स्व-प्राकट्य (स्व-प्राकट्य अथवा स्व-अभिव्यक्ति जिसमें शामिल होता है उस किसी भी घोषणापत्र का सारतत्त्व जो अपना आह्वान करता है)। ‘समय आ गया है’, कहते हुये, यह समय यहाँ और अभी आसन्न है, अपने से फिर जुड़ जाता है, एक ऐसा समय जो इस प्राकट्य की क्रिया और देह में अपने साथ घटित होता है: यह “सर्वानुकूल समय” है कि मैं प्रकट हो जाऊँ, कि वह घोषणापत्र प्रकट हो जाये जो यहाँ, अभी, इसके अलावा, दूसरा नहीं है, वर्तमान आने वाला है, जो स्वयं संयुक्त साक्षी है, यही ठीक घोषणापत्र है जो मैं हूँ अथवा जो मैं कार्य में संचालित कर रहा हूँ, मैं स्वयं कुछ न होकर यह प्राकट्य हूँ, इसी क्षण, इसी पुस्तक में, यहाँ मैं हूँ : “यह सर्वानुकूल समय है कि कम्युनिस्ट खुले रूप में, सारी दुनिया की आँखों के सामने, अपने विचारों, अपने उद्देश्यों, अपनी प्रवृत्तियों को प्रकाशित करें और पार्टी के घोषणापत्र के साथ ही कम्युनिज्म के प्रेत की इस बालसुलभ कहानी से भेंट करें”। यह घोषणापत्र किस चीज का साक्ष्य दे रहा है? और कौन क्या साक्ष्य देता है? किस भाषा में? निम्नलिखित वाक्य अनेक भाषाओं की बात कर रहा है : सभी भाषाओं की नहीं बल्कि कुछ भाषाओं और लन्दन में इकट्ठा हुये कई देशों के कम्युनिस्टों की बात कर रहा है। जर्मन भाषा में लिखित घोषणापत्र कहता है कि, “घोषणापत्र अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इतालवी, फ्लेमिश और डैनिश भाषाओं में प्रकाशित किया जायेगा।” थोड़ी देर में हम देखेंगे कि कैसे की तरह प्रेत भी कई भाषाओं, राष्ट्रीय भाषाओं में बात करते हैं और कैसे से उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। संचरणशील मुद्राओं के रूप में कैसे का भी स्थानीय और राजनैतिक चरित्र होता है, यह “विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं का इस्तेमाल करता है और विभिन्न राष्ट्रीय पोशाकें पहनता है।”³ आइये, हम घोषणापत्र के अपने सवाल को साक्ष्य की बोली अथवा भाषा के रूप में दुहरायें। कौन क्या सिद्ध कर रहा है? किस तरीके से ‘क्या’ ‘कौन’ को, जो एक दूसरे के पूर्वगामी नहीं होते, नियामित कर रहा है? क्यों यह स्वयं के पूर्ण प्राकट्य को (घोषणा) स्वयं के लिये प्रमाणित कर रहा है जबकि प्रेत से घृणा करते हुये और उसका विरोध करते हुये ही यह दल का पक्ष ले रहा है? इसलिये इस संघर्ष में प्रेत का काया होता है? अर्थात् यह प्रेत जो पता है कि उसे पक्ष लेने के लिये कहा जा रहा है और साथ ही हेलमेट और वाइजर-प्रभाव के साथ साक्ष्य देने को भी कहा जा सकता है।

इस तरह आवाहन की गई घटना की संरचना का विश्लेषण कठिन बना रहता है। प्रेत की अनुभूति कथा, उपदेश कथा घोषणापत्र में मिटा दी जायेगी जैसे मानो प्रेत अपने को प्रोतीयता अनुश्रुति में रूपायित करने के पश्चात् और बिना यथार्थ (कम्युनिज्म स्वयं, कम्युनिस्ट समाज) बने हुए ही अपने से बाहर आ गया हो, उस यथार्थ में प्रवेश किये बिना अनुश्रुति के बाहर आ गया हो जिसका कि प्रेत यह है। चूँकि यह न तो यथार्थ है और न ही अनुश्रुति, अतः इस घटना के वाकूल में इस निष्पादित कथन की एकांतिक प्रेतीता की ही भाँति, अर्थात् स्वयं मार्क्सवाद

के कथन में उस 'चीज' ने भयग्रस्त किया होगा और अभी भी कर रही है (और इस व्याख्यान के केन्द्र में जो प्रश्न है उसे यँ कहा जा सकता है : मार्क्सवादी कथन क्या है? एक तथाकथित मार्क्सवादी कथन? अथवा और सटीक ढंग से कहा जाये तो, क्या 'होगा आज के बाद' से इस तरह का कथन? और कौन कह सकता है, "मैं मार्क्सवादी हूँ" अथवा "मैं मार्क्सवादी नहीं हूँ"?)

डर पैदा करना, अपने को डराना। *घोषणापत्र* के शत्रुओं में भय पैदा करना या फिर मार्क्स और स्वयं मार्क्सवादियों में भय पैदा करना : इस तरह मार्क्स के चिन्तन की पूरी एकाधिकारवादी विरासत की व्याख्या करने का लालच हो सकता है लेकिन साथ ही उन तमाम एकाधिकारवादों की भी व्याख्या की जो किसी संयोग अथवा यांत्रिक समीपता के कारण ही इस विरासत के समकालीन नहीं थे अर्थात् सामान्यतया प्रेत से सामना होने पर भयाक्रान्त भय की प्रतिक्रियाओं के रूप में भी वे समकालीन थे। सामान्यतया पुराने योरोप के पूँजीवादी (राजतन्त्रीय, साम्राज्यवादी, गणतान्त्रिक) राज्यों के लिये कम्युनिज्म जिस प्रेम का प्रतिनिधित्व कर रहा था उसके प्रति प्रतिक्रिया एक भयाक्रान्त और क्रूर युद्ध के रूप में आयी और इसी युद्ध के दौरान ही लेनिनवादी और उसके बाद स्तालिनवादी एकाधिकारवाद को अपने को स्थापित करने, अपनी शव-तुल्य का मौका मिला और वे शव-तुल्य कठोर और चीमड़ हो गये। लेकिन चूँकि मार्क्सवादी सत्तामीमांसा भी भौतिक यथार्थता की जीवित उपस्थिति के नाम पर सामान्य रूप से प्रेत के विरुद्ध संघर्षरत थी, अतः एकाधिकारवादी समाज की पूरी 'मार्क्सवादी' प्रक्रिया भी उस भय को लेकर प्रतिक्रियाशील थी। मुझे ऐसा लगता है कि हमें इस तरह की परिकल्पना को गम्भीरता से लेना चाहिये। बाद में हम स्टर्नर और मार्क्स के बीच विवाद में प्रेत के अनुभव में 'किसी को भयाक्रान्त' करने की तात्त्विक अपरिहार्यता का, उसके प्रतिबिम्बी प्रतिबिम्बन का सामना करेंगे। ऐसा लगता है मानों मार्क्स और मार्क्सवाद अपने से भागे थे, अपने को भयभीत कर दिया था। *पीछा करने* के इसी क्रम में उसी तरह के उत्पीड़न, उसी तरह की नारकीय तलाश, जैसा कि विक्टर ह्यूगो का उपन्यास '*लेज़ मिज़रेबुल्स*' संकेत करता है, क्रान्ति के खिलाफ़ क्रान्ति। और सटीक शब्दों में इसकी संख्या और आवृत्ति को देखते हुये ऐसा लगता है मानो वे *अपने भीतर* ही किसी के द्वारा डरा दिये गये थे। हम जल्दबाजी में यह कह सकते हैं कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। नात्सी और फासीवादी एकाधिकारवाद प्रेतों के इस युद्ध में कभी एक पक्ष के साथ अपने को पाते थे, कभी दूसरे पक्ष के साथ, लेकिन ऐसा एक ही दौर और एक ही इतिहास के भीतर हो रहा था। सभी शिविरों के मुर्दाघरों में, इस ट्रेजडी में इतने अधिक प्रेत हैं कि एक ही पक्ष के साथ होने का दावा निश्चित रूप से कोई नहीं कर सकेगा। यह जान लेना उचित है। संक्षेप में, कम से कम योरोप की राजनीति का पूरा इतिहास, कम से कम मार्क्स के बाद राजनीति का इतिहास उन परस्पर निर्भर शिविरों के क्रूर युद्ध का इतिहास है जो प्रेत से, अपने शत्रु के प्रेत से और अपने शत्रु के प्रेतों के रूप में अपने ही प्रेतों से समान रूप से भयाक्रान्त है। पवित्र मोर्चा कम्युनिज्म के प्रेत से भयभीत है और इसके खिलाफ युद्ध घोषित करता है जो अभी भी जारी है, लेकिन यह युद्ध है उस शिविर के विरुद्ध जो प्रेत के भय के कारण स्वयं ही संगठित हुआ है, वह भय जो इसके सामने खड़ा है और साथ ही जो इसके भीतर भी मौजूद है।

एकाधिकारवाद के जन्म को प्रेत के भीतर उस भय की प्रतिक्रियाओं के रूप में व्याख्यायित करने में किसी भी प्रकार 'संशोधनवाद'⁴ निहित नहीं है जो कम्युनिज्म ने उन्नीसवीं सदी में पैदा किया था। एकाधिकारवाद को उस आतंक की प्रतिक्रिया भी कहा जा सकता है जिसे कम्युनिज्म ने अपने शत्रुओं में पैदा किया था लेकिन जिसे इसने उलट-पुलट दिया था और अपने भीतर उस एक मुक्तकारी युगान्तविज्ञान के विराट बोध, जादुई वास्तवीकरण और

जीववादी समावेशन को शीघ्रता प्रदान करने के लिए पर्याप्त रूप में महसूस किया था, जिसे प्रतिश्रुति, किसी प्रतिश्रुति की प्रतिश्रुति होने का सम्मान अवश्य ही करना चाहिये था—और जो महज एक सीधा-सरल विचारधारात्मक कल्पनाभास नहीं हो सकता था क्योंकि विचारधारा स्वयं किसी और चीज से प्रेरित नहीं हुयी थी।

अन्ततः हमें इस बात पर आना ही है कि प्रेत मार्क्स का उत्पीड़न था जैसा स्टर्नर का था। और यह बात समझने लायक है कि वे दोनों अपने उत्पीड़क का, अपने ही उत्पीड़क का, अपने सर्वाधिक आत्मीय अपरिचित का उत्पीड़न करते हरे। मार्क्स प्रेत के स्वरूप से प्रेम करते थे, वे इससे घृणा करते थे, उन्होंने अपने विवाद में इसे साक्षी बनाया, वे इसकी छाया से बाधित, ग्रस्त, उत्पीड़ित घिरे थे, यह उनके मस्तिष्क पर छाया हुआ था। यह उनके भीतर था जिसे वे बाहर निकालना, अपने से बाहर निकालना चाहते थे। यह उनके भीतर और बाहर था—एक ऐसा स्थान जो प्रेतों के उस स्थान से बाहर था जहाँ वे (प्रेत) अपना निवास स्थान बनाने का स्वांग करते हैं। शायद दूसरों से कहीं अधिक, मार्क्स के सिर के भीतर प्रेत थे और जाने बिना जानते थे कि वे (मार्क्स) क्या कह रहे हैं। लेकिन इसी कारण से वे जिन प्रेतों को प्यार करते थे उन्हें प्यार नहीं करते थे और वे प्रेत भी उन्हें (मार्क्स को) प्यार करते थे और अपने वाइजर के भीतर से उन्हें देखते रहे थे। वे (मार्क्स) निस्संदेह इन प्रेतों से मनोग्रस्त थे (जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह शब्द उन्हीं का है) लेकिन वे इन प्रेतों के विरुद्ध एक निर्मम युद्ध भी लड़ रहे थे ठीक वैसे ही जैसी कम्युनिज्म के दुश्मनों के विरुद्ध।

सभी मनोग्रस्तों की ही तरह मार्क्स को भी मनोग्रस्तता ने परेशान किया और इसके अनेक लक्षण मौजूद हैं और प्रत्येक लक्षण दूसरे लक्षणों से कहीं अधिक सुस्पष्ट। इस तरह के प्रेतविज्ञान के दो उदाहरण काफ़ी होंगे, इस क्रम में चलते-चलते हम मार्क्स के 1841 के शोधप्रबन्ध (द डिफरेंस इन द फिलॉसफी ऑफ नेचर ऑफ डिमाक्रिटस एण्ड इपीक्यूटस) का संदर्भ ले सकते हैं। यहाँ युवा मार्क्स ने एक पारिवारिक साक्ष्य पर हस्ताक्षर भी किया है (क्योंकि प्रेत से भयभीत बच्चा अपने पिता से, पिता के रहस्य से सहायता की पुकार करता है : “मैं तुम्हारे पिता की आत्मा हूँ/बँधा हूँ निषेधों से/अपने बंदीगृह के रहस्यों का खुलासा करने में)।

इस साक्ष्य में मार्क्स अपने को त्रायर में “सरकार के व्यक्तिगत सलाहकार और पिता के समान बहुत ही प्रिय मित्र”, (“इस अत्यधिक प्रिय मित्र”) लुडविग फ्रॉन वेस्टफालेन के पुत्र के रूप में सम्बोधित करते हैं। फिर वे इस तरह के रक्त-सम्बन्ध के एक लक्षण की बात करते हैं, अर्थात् एक ऐसे व्यक्ति की जिसके सामने “दुनिया की सारी आत्मायें प्रकट होने के लिये पुकारी जाती हैं।” और जो अयोगामी प्रेतों की छायाओं से अथवा काले बादलों से ढके आसमानों से **MjdjdHihNugajMAbl leiZdsr/fkjh 'Ghaa/Rek** (Spirit) को एक ‘महान जादुई कायाचिकित्सक’ के नाम से अभिहित किया गया है जिसके हवाले मार्क्स के इस आध्यात्मिक पिता ने अपने को सौंप दिया था और जिससे ताकत पाकर ये प्रेतों के विरुद्ध संघर्ष करते थे। प्रेत के खिलाफ यही आत्मा है। इस दत्तक पिता में, अधोगामी प्रेतों (जिन्हें प्रच्छन्न रूप से मार्क्स प्रगति के उस प्रेत से विभेदित करते हैं जो कम्युनिज्म होगा) के विरुद्ध संघर्ष करने वाले इस नायक में युवा मार्क्स इस बात का जीवित और यथार्थ प्रमाण देखते हैं कि “आदर्शवाद कोई कपोल-कल्पना न हो पर एक सत्य है।”

युवकोचित समर्पण? पारम्परिक भाषा? निश्चित ही। लेकिन शब्द उतने सामान्य नहीं हैं, ऐसा लगता है कि शब्दों को सावधानीपूर्वक चुना गया है और उनकी सांख्यिकीय गणना शुरू हो सकती है। आवृत्ति का कोई मतलब होता है। प्रेत का अनुभव, उसकी अनुमान आवृत्ति से सुर

मिलाता है : संख्या (एक से अधिक), आग्रह, लय (लहरें, चक्र, समयावधि) यह युवकोचित समर्पण अपेक्षाकृत अधिक सार्थक और बोलता और अपने को फैलाता रहता है यह अधिक सार्थक और कम पारम्परिक तब लगता है जब बाद के वर्षों में, *द जर्मन आइडियोलॉजी* में, प्रेतों का इतिहास आलोचना करने अर्थात् प्रेतों को अभिचार से गायब कर देने की मार्क्स की अग्रतिहत दृढ़ता और साहसिक उत्साह के साथ ही प्रेतों से अत्यधिक सम्मोहन से हमारा साक्षात्कार होता है। *द जर्मन आइडियोलॉजी* की ओर हम कुछ देर बाद वापस लौटेंगे, इसमें प्रेत भरे हुए हैं, प्रेतों की पूरी भीड़ हमारी प्रतीक्षा कर रही है, शव-वस्त्र, पापविद्ध, आत्मायें, रात में जंजीरों की झनझनाहट, कराहें, हड्डियाँ कपा देने वाले हँसी-ठहाके और वह सभी सिर, न दिखाई पड़ने वाले अनगिनत सिर जो हमारी ओर देखते हैं, मानवता के इतिहास में प्रेतों का सबसे बड़ा जमावड़ा। मार्क्स (और एंगेल्स) चीजों को ठीक-ठाक करने की कोशिश करते हैं, वे शिनाख्त करने की कोशिश करते हैं, वे गणना करने का बहाना करते हैं वे परेशान हैं।

कुछ समय बाद, *दि एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट* में उसी आवृत्ति के साथ एक प्रकार से प्रेत राजनीति और प्रेतों की वंशावली, अथवा और सटीक ढंग से कहा जाय तो, *प्रेतों की पीढ़ियों* की एक आनुवंशिक तर्कपद्धति का इस्तेमाल किया जाता है। आह्वान और बहिष्करण की क्रिया मार्क्स कभी बन्द ही नहीं करते। वे अच्छे और खराब 'प्रेतों' को एक-दूसरे से अलग करते हैं। कभी-कभी एक ही वाक्य में, काफ़ी परेशानी महसूस करते हुए, वे क्रान्ति की आत्मा (Spirit of the Revolution) को क्रान्ति के प्रेत के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं (कितना मुश्किल रहा होगा ऐसा करना और कितने खतरे उठाने पड़े होंगे ऐसा करने में!)। बिल्कुल ठीक, यह कठिन भी है और खतरों से भरा भी और प्रधानतः भाषा के कारण। जर्मन शब्द Geist भी 'प्रेत' का संकेत देता है और मार्क्स सोचते हैं कि वे इसके वाग्मृतात्मक प्रभावों पर नियन्त्रण रखते हुए भी इसका भरपूर इस्तेमाल कर सकते हैं। Gespenst के अर्थ स्वयं Geist पर छाये हुए है। अगर कोई प्रेत है तो इसे वहाँ खोजा जाना है जहाँ सन्दर्भ इन दोनों शब्दों के बीच दुविधा में पड़ा हुआ है और निर्णय नहीं कर पा रहा है अथवा जहाँ इसे दुविधा में होना चाहिये, वहाँ यह मुक्त है... लेकिन अगर यह वास्तव में इतना कठिन और जोखिम भरा है कि इसे कब्जे में नहीं किया जा सकता, अगर दोनों को अलग नहीं किया जा सकता और वे एक दूसरे के पर्याय बने हुए हैं तो इसलिये क्योंकि, मार्क्स के मत में, चेतना (स्प्रिट) के ऐतिहासिक पल्लवन के लिये प्रेत जरूरी ही नहीं अपितु अत्याधिक महत्त्वपूर्ण रहा होगा। प्रथमतः इसलिये क्योंकि इतिहास की पुनरावृत्ति के बारे में, फिर चाहे सन्दर्भ में महान घटनायें, अथवा क्रान्तियाँ अथवा नायक ही क्यों न रहे हों, हीगल की उक्ति से (उक्ति विख्यात है; पहले दुखांतक, फिर प्रहसन) मार्क्स की अपनी विरासत जुड़ी है। विक्टर ह्यूगो भी क्रान्ति की पुनरावृत्ति के बारे में सजग थे। क्रान्ति दुहराती है, यह क्रान्ति के विरुद्ध भी क्रान्ति दुहराती है। *एटीन्थ ब्रूमेअर* में इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि मनुष्य अपना इतिहास बनाते हैं, यह *विरासत* की शर्त होती है। सामान्य रूप से विनियोजन *दूसरे की शर्त* में होता है और *मृत दूसरे की शर्त* में, एक से अधिक मृत लोगों की शर्त में, मृतकों की एक पूरी पीढ़ी की शर्त में होता है। विनियोजन के बारे में जो कहा जाता है वह स्वतन्त्रता, मुक्ति अथवा और उद्धार पर भी लागू होता है।

मनुष्य अपने इतिहास का निर्माण स्वयं करते हैं : लेकिन वे इसका निर्माण जैसा उन्हें अच्छा लगता है वैसा करने के लिये स्वतन्त्र नहीं होते। वे इसका निर्माण अपने द्वारा चुनी गई परिस्थितियों के अनुसार नहीं करते अपितु प्रत्यक्षतः सामने आ जाने वाली, अतीत द्वारा प्रदत्त और प्रेषित परिस्थितियों के अनुसार, करते हैं सभी मृत पीढ़ियों की परम्परा जीवित पीढ़ी के

मस्तिष्क पर एक दुःस्वप्न के रूप में चढ़ी रहती है।

माक्स ने मूल जर्मन में लिखा है कि वह परम्परा चढ़ी रहती है उन प्रेतों जैसे जो दुःस्वप्न पैदा करते हैं : फ्रेंच अनुवाद में इसे सीधे तौर पर (परम्परा) बहुत अधिक भारी पड़ती है' बना दिया गया है : अनुवादों में प्रायः ऐसा होता है कि प्रेत भुला दिया जाता है अथवा इसे 'मायाजाल' जैसे लगभग समरूपक लगने वाले रूप में अनुदित किया जाता है :

“और ठीक जिस समय वे (मनुष्य) अपना और चीजों का क्रान्तिकारी परिवर्तन करने और अब तक अस्तित्व में न रहने वाली किसी चीज के सृजन में लगे दिखते हैं, क्रान्तिकारी संकट के ठीक ऐसे ही क्षणों में वे अपने हित में अतीत की आत्माओं का आह्वान करते हैं और इस चिरसम्मानित छद्मवेश और इस उधार ली हुई भाषा में विश्व इतिहास का नया दृश्य प्रस्तुत करने के लिए उनसे नाम, युद्ध-उद्घोष और वेश-भूषा उधार ले लेते हैं।”⁵

वास्तव में यह मेला होता है एक सकारात्मक अभिचार की मुद्रा में आत्माओं को प्रेतों के रूप में बुलाने का, एक ऐसा अभिचार जो बुलाने के लिये, न कि भगा देने के लिए, शपथ-बद्ध होता है। लेकिन क्या (बुलाने और भगाने के बीच) इस भेद को माना जा सकता है? क्योंकि इस तरह का अभिचार अगर बुलाने और स्वागत करने की मुद्रा जैसा लगता है, क्योंकि वह मृतात्माओं का आवाहन करता है, उन्हें आने देता है तो भी यह चिन्ता से, घृणा अथवा अवरोधन की स्थिति से मुक्त नहीं होता। यही नहीं कि यह अभिचार किसी चिन्ता से युक्त होता है, यह अपने को इस चिन्ता द्वारा केवल नियमित ही नहीं होने देता बल्कि यह जो है वह उस चिन्ता की नियति ही होती है। यह अभिचार उसी क्षण से चिन्ता बन जाता है जब शीघ्रता का आविष्कार करने के लिये और नवीन को सजीव बनाने के लिये और जो अभी तक अस्तित्व में नहीं आया है, उसकी उपस्थिति का आवाहन करने के लिए वह मृत्यु से गुहार लगाता है। प्रेत के सामने यह चिन्ता समुचित रूप से क्रान्तिकारी होती है। अगर जीवित लोगों के जीवित मस्तिष्क पर मृत्यु की चिन्ता बनी रहती है और इससे भी अधिक क्रान्तिकारियों के ऊपर चढ़ी रहती है तो इसका कोई न कोई प्रतीय घनत्व अवश्य होता होगा। चढ़े रहने का मतलब होता है आदेश देना, दबाव डालना, आरोपित करना, ऋणी बनाना, आरोप लगाना, काम सौंपना, जिम्मेदारी देना। और जितना ही अधिक जीवन होता है उतना ही भारी दूसरे का प्रेत होता है, उतना ही भारी उसका भार होता है। और उतना ही अधिक जीवित लोग जवाबदेह होते हैं—मृतकों की ओर जवाबदेह, मृतकों के प्रति जवाबदेह, किसी निश्चितता अथवा समरूपता के अभाव में मनोग्रस्त प्रेतबाधा से सम्बद्ध होना और उससे छुटकारा पाना। इस मायाजाल से अधिक न तो कोई चीज गम्भीर होती है और न ही सत्य और सटीक। “प्रेत मार से दबाता है, यह सोचता है, यह घनीभूत होता है और जीवन के भीतर, सर्वाधिक जीवित जीवन के भीतर, सर्वाधिक एकावाची (अथवा अगर आप चाहें तो कह सकते हैं, सर्वाधिक विशिष्ट) जीवन के भीतर अपने को सिकोड़ लेता है। इसलिये जीवन के पास, जिस सीमा तक यह जीवित होता है, अपने प्रति अथवा निश्चित अंतःतत्त्व के प्रति कोई पहचान नहीं होती है और न रहना ही चाहिये जीवन के सभी दर्शनों, अथवा जीवित और यथार्थ व्यक्ति के दर्शनों को इस पर ही सावधनी से सोचना है।”⁶

इस विरोधाभास की धार को और तेज किया जाना चाहिये: क्रान्तिकारी संकट में नये का जितना ही अधिक प्रस्फोट होता है, काल-खण्ड जितना ही अधिक संकटग्रस्त होता है, जितना ही यह 'चूल से खिसका' होता है, उतना ही अधिक पुराने का आवाहन करना होता है, इससे 'उधार लेना' पड़ता है।

'अतीत की आत्माओं' से विरासत पाने में हमेशा ही उधार लेना शामिल होता है। उधार

लेने के चित्र, उधार लिये गये चित्र, उधार लेने के चित्र के रूप में चित्रात्मकता। और उधार बोलता है : उधार लिये गये नाम, उधार ली गयी भाषा, मार्क्स कहते हैं तब, साख अथवा विश्वास का सवाल होता है। लेकिन एक अस्थिर और मुश्किल से दिखाई पड़ने वाली विभाजक रेखा न्यासी के इस विधान से होकर गुजरती है। यह विद्रूप (पैरोडी) और सत्य के बीच से गुजरती है लेकिन एक सत्य जो दूसरे सत्य का अवतार अथवा उसकी जीवित आवृत्ति होता है, अतीत का, आत्मा का, अतीत की आत्मा का, जिससे हम विरासत प्राप्त करते हैं, पुनर्जागरण या नवजागरण होता है। यह विभाजक रेखा प्रेत के यांत्रिक पुर्नउत्पादन और अतीत की विरासत और 'अतीत की आत्माओं' के इतने सजीव, आभ्यन्तरकारी और समावेशी विनियोजन के बीच से गुजरती है कि यह जीवन के विस्फरण, अथवा विस्मरण के ही रूप में जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती और साथ ही मातृत्व का विस्मरण भी है ताकि अपने भीतर 'आत्मा' को रहने के लिये विवश कर दिया जाय। ये मार्क्स के ही शब्द हैं, यह उनकी भाषा है और इस भाषा का यह उदाहरण अन्य उदाहरणों में से एक उदाहरण भर नहीं है। यह उत्तराधिकार के इन अधिकारों के तत्त्व को ही अभिहित करती हैं।

“इस तरह लूथर ने सन्त पॉल का मुखौटा पहन लिया, 1789 से लेकर 1814 तक की क्रान्ति कभी रोमन गणतन्त्र और कभी रोमन साम्राज्य के रूप में प्रकट होती रही, और 1848 की क्रान्ति कभी 1789 की, कभी 1793 से लेकर 1795 की क्रान्तिकारी परम्परा का अनुकरण करने से अधिक कुछ जानती ही नहीं थी। इसी तरह वह नौसिखिया जिसने कोई नई भाषा सीखी है उस भाषा को अपनी मातृभाषा में पुनः अनूदित कर लेता है लेकिन उसने नई भाषा की आत्मा को समावेशित कर लिया है और उसमें अपनी बात आसानी से तभी कह सकता है जब पुरानी भाषा का स्मरण किये बिना वह इसमें नई भाषा भी आसानी से अपना रास्ता बना लेता है और नई भाषा के प्रयोग में अपनी मातृभाषा भूल जाता है।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 104)

एक विरासत से दूसरी तक। आत्मा का सजीव विनियोजन, एक नई भाषा का समावेशन पहले ही से एक विरासत है। और किसी दूसरी भाषा का विनियोजन वहाँ क्रान्ति का चित्र तैयार करती है। क्रान्तिकारी विरासत निश्चित रूप से मानती है कि अन्ततः प्रेत भुला दिया जाता है अर्थात् आदि अथवा मातृभाषा का प्रेत, जो विरासत में मिलता है उसे भूलने के लिए नहीं अपितु, उस विरासत-पूर्व को भूलने के लिये जरूरी होता है जिसके आधार पर विरासत मिलती है। यह भूलना महज एक भूलना है। क्योंकि जिसे भुलाना है वह अनिवार्य रहा होगा। एक नई भाषा के जीवन के विनियोजन के लिये अथवा क्रान्ति के लिये विरासत-पूर्व को भूलना ही होता है भले ही ऐसा करना इसका विद्रूपण करना ही होता हो। और जहाँ एक ओर विस्मरण सजीव विनियोजन के क्षण के साथ जुड़ा होता है, वहीं दूसरी ओर मार्क्स इसे उतना सीधे तरीके से महत्त्व नहीं देते जितना कोई सोच सकता है। चीजें बहुत उलझी हुई होती हैं। मार्क्स ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि प्रेत और विद्रूपण को भूलना जरूरी होता है ताकि इतिहास जारी रह सके। लेकिन अगर कोई इसे भूलकर सन्तुष्ट है तो परिणाम होगा बुर्जुआ सामान्योक्ति : जीवन बस। इसीलिये इसे नहीं भूलना चाहिये, इसे याद रखना चाहिये लेकिन इसे पर्याप्त रूप से भुलाते हुये, इसी स्मृति में, (और) (क्रान्ति के) प्रेत की वापसी का प्रयास किये बिना, क्रान्ति की आत्मा (Spirit) को पुनः प्राप्त करने के लिये?”

मार्क्स का कथन है कि मृतकों के अभिचार में प्रेतों के आह्वान अथवा बुलाने की दो विधियाँ अथवा कालिकथाओं के बीच वह 'प्रखर भेद' की परत है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों

परतें एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं। दोनों एक दूसरे को प्रदूषित करती हैं और इतने उलझे हुए तरीके से करती हैं क्योंकि प्रतिकृति में छायाभास की नकल अथवा दूसरे की छाया का रूप धारण करना शामिल होता है, दोनों के बीच का 'प्रखर भेद' ठीक उद्भव-स्थल पर चोट करता है और निगाह के सामने खड़ा हो जाता है आपकी आँख के सामने उछल-कूद करने के लिये। अपनी छाया की परिघटना में प्रकट होकर गायब होने के लिये। मार्क्स इस भेद को कायम रखते हैं, ठीक उसी तरह जैसे वे जीवन का पल्ला नहीं छोड़ते वे उदाहरण सहित इसे सिद्ध करते हैं उन भावपूर्ण क्रान्तिकारी महाकाव्यों में से एक में जिसके मुखर पाठ से ही उसके साथ न्याय किया जा सकता। इसका प्रारम्भ होता है विश्वव्यापी इतिहास के स्तर पर मृतकों के अभिचारी आह्वान से।

“इस विश्व-ऐतिहासिक प्रेत-सिद्धि पर विचार तत्काल एक प्रखर भेद प्रकट कर देता है। कमिले देसमोलिस। दांते, रॉब्सपियरे, सॉ-यस्त, नेपोलियन, पुरानी फ्रेंच क्रान्ति के नायकों और साथ ही दल और जनसमूह ने अपने समय के कार्य, आधुनिक बुर्जुआ समाज की मण्डियाँ तोड़ने और उसकी नव-स्थापना के कार्य रोमन वेश-भूषा और रोमन शब्दावली में निष्पन्न किये। पहले कार्य से सामती आधार को छिन्न-भिन्न किया और इस पर उगे हुए सामन्ती सिरों को कुचल डाला। दूसरे (अर्थात् आधुनिक बुर्जुआ समाज की नव-स्थापना) ने फ्रांस के भीतर ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दीं जिनके तहत पहले स्वतन्त्र स्पृद्धा विकसित की जा सकती, बंटी हुई भूसम्पत्ति का भरपूर, इस्तेमाल किया जा सकता... और फ्रेंच सीमाओं से बाहर...।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 104)

लेकिन समकालिकता का कोई अवसर नहीं होता, कोई भी समय अपना समकालीन नहीं होता और न तो क्रान्ति का समय, जो अन्तिम रूप से वर्तमान में कभी नहीं घटित होता और न ही इसके बाद अथवा इससे जुड़ा हुआ समय ही। घटित क्या होता है? कुछ नहीं, भूलने के अलावा कम से कम कुछ भी नहीं। सबसे पहले यह कार्यभार, एक ऐसा कार्यभार जो उनके समय का अपेक्षाकृत अधिक था, एक ऐसे समय सामने आ रहा है जो पहले ही स्थानच्युत, हिला-डुला ('चूल से खिसका') हुआ है : यह अपने को केवल रोमन छायाग्रस्तता में, वस्त्राभूषण और शब्दावली के कालदोष में ही उपस्थिति कर सकता है। तब, एक बार क्रान्ति का कार्यभार सम्पन्न हो जाने के बाद विस्मरण-रोग अनिवार्यतः प्रारम्भ हो जाता है। यह कालदोष की कार्य-सूची में 'उनके समय के कार्याभार' में पहले उल्लिखित था। कालदोष विस्मरण का व्यवहार करता है और उसकी प्रतिश्रुति करता है। बुर्जुआ समाज, अपनी सौम्य सामान्योक्ति में भूल जाता है “कि रोम के दिनों के प्रेत इसके पालने पर निगरानी रखे हुए थे।” हमेशा की तरह, मार्क्स के अनुसार, “सवाल सिर का, सिर अथवा टोप का सवाल—और आत्मा का : पूँजीवादी बुर्जुआ की विस्मृतकारी व्यवस्था में (अर्थात् किसी पशु की तरह वह व्यवस्था जिसके जीवन का आधार ही प्रेतों को भुलाना होता है) शिखर पर सिर का स्थान थूथन ले लेता है, किसी मोटे, स्थिर बुर्जुआ राजा का चर्बी से भरा हुआ सिर मार्च कर रहे क्रान्तिकारियों के राजनैतिक और ओजपूर्ण सिर का स्थान ले लेता है।”

“इसके असली सेनापति खिड़कियों के पीछे बैठते थे और सुअर जैसे सिर वाला लुई 18वाँ इसका राजनैतिक प्रधान था। धनोत्पादन और शान्त स्पृद्धात्मक संघर्ष में पूर्णतय तल्लीन यह (बुर्जुआ समाज) इस बात को अब नहीं समझ पा रहा था कि रोम के दिनों के प्रेत इसके पालने की रखवाली करते थे। लेकिन क्योंकि बुर्जुआ समाज में नायकत्व नहीं होता तो भी नायकत्व, बलिदान, आतंक, गृहयुद्ध और जन-बुद्ध के माध्यम से ही यह अस्तित्व में आया था।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट)

इसके पश्चात् मार्क्स इस लयात्मक कालदोष के उदाहरण इकट्ठा करते हैं। वे इसके नाड़ियों और नाड़ीगतियों का विश्लेषण करते हैं। इसमें उन्हें सुख मिलता है, आवृत्ति का सुख; इन अनिवार्य लयों के प्रति उन्हें इतना संवेदनशील देखकर ऐसा लगता है कि वे उंगली नहीं उठा रहे हैं वे इतिहास की नब्ज टटोल रहे हैं। और वे एक क्रान्तिकारी आवृत्ति पर कान लगाये हुये हैं। और यह क्रान्तिकारी आवृत्ति बारी-बारी प्रेतों के निपटारे और अभिचार में लगी हुई है। क्लासिकी परम्परा (रोम) के महान प्रेत का आह्वान किया जाता है। (यह सकारात्मक अभिचार है) ताकि कोई आदमी शौर्यपूर्ण ट्रेजेडी की ऊँचाई तक उठ सके, लेकिन इसलिये भी ताकि बुरुआ महत्वाकांक्षा की अतिसामान्य विषयवस्तु को किसी भ्रमजाल में दिपाया जा सके। इसके बाद छायाभास निरस्त कर दिया जाता है, जो कि निपटारा है; प्रेत को ऐसे भुला दिया जाता है मानों भुलाने वाला व्यक्ति मतिभ्रम से मुक्त हो गया हो। क्रॉमवेल पहले ही इब्रानी पैगम्बरों की भाषा बोल चुके थे। बुरुआ क्रान्ति सम्पन्न होने पर अंग्रेज लोग हबक्कुक की बजाय लॉक को पसन्द करने लगे। फिर अठारहवीं ब्रूमेअर का दौर आता है और फिर आवृत्ति अपने को दुहरा देती है। इसी बिन्दु पर मार्क्स क्रान्ति की आत्मा और इसके प्रेत में भेद करना चाहते हैं मानो आत्मा पहले से ही प्रेत का पूर्वाभास न दे रही हो, मानों प्रत्येक चीज और मार्क्स स्वयं यह जानते हैं, पहले से ही उस *छायाविज्ञान* के भीतर भेदों से होकर न गुजरी हो जो *सामान्य के साथ ही अलघुकरणीय होता है*। समय के संघटन के एक अच्छे वर्गीकरण को संगठित करने से बहुत अलग, यह दूसरी अतीन्द्रिय कल्पना है अज्ञेय *कालदोष* का विधान है। असामयिक, 'चूल से खिसका हुआ', चाहे यह समय पर ही क्यों न आये, क्रान्ति की आत्मा पूरी तरह से *काल्पनिक और कालदोषग्रस्त* होती है। इसे ऐसा होना ही है—और हमारे सामने इस विमर्श द्वारा प्रस्तुत सभी प्रश्नों में निस्सन्देह सर्वाधिक आवश्यक प्रश्न होगा इन सभी उलझी हुई अवधारणाओं में तारतम्यता लाना, एक दूसरे से अलग होने के बावजूद जिन्हें किसी दृढ़ अवधारणात्मक सीमा का अतिक्रमण किये बिना एक-दूसरे में प्रवेश करना ही होता है : क्रान्ति की आत्मा, वास्तविक यथार्थ, (उत्पादी अथवा पुर्नउत्पादी) कल्पना, प्रेत :

“इस तरह इन क्रान्तियों के दौरान मृतकों का पुनरुत्थान नये संघर्षों के महिमामण्डन, न कि पुराने। संघर्षों के विद्रूपी अनुकरण के उद्देश्य से, सामने उपस्थित कार्यभार को कल्पना में प्रभामण्डित करने, न कि यथार्थ में उसके समाधान से मुँह चुरा कर भगाने के उद्देश्य से, क्रान्ति की आत्मा का एक बार पुनः दर्शन करने, न कि इसके प्रेतों को पुनः गतिशील करके उसे प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया था। 1848 से 1851 तक बूढ़े बेली के कपड़ों में अपने को छिपाये पीले दस्ताने पहने रिपब्लिकन मरास से लेकर नेपोलियन के मृत्यु-अवरोधी लौह मुखौटे से अपने बदसूरत चेहरे को ढके रहने वाले घुमक्कड़ सहित पुरानी क्रान्ति का प्रेत इधर-उधर चलकदमी करता रहा।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 105)

मार्क्स के निशाने पर अक्सर सिर अर्थात् प्रधान होता है। प्रथमतः प्रेत के रूप चेहरे होते हैं। और फिर अगर लौह-टोप नहीं तो मुखौटे की ओर हेलमेट तथा वाइजर की बात होती है। लेकिन आत्मा और प्रेत, ट्रेजडी और कॉमेडी, गतिमान क्रान्ति और इस गतिमान क्रान्ति के विद्रूपित अनुकरण में इसे रोक देने वाले के बीच, दो मुखौटों के बीच, केवल किसी समय का अन्तर होता है। जब लूथर (यहाँ सन्दर्भ सोलहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण अनेक अग्रदूतों में से एक जर्मनी के मार्टिन लूथर का है) सन्त पॉल का मुखौटा पहन लेते हैं तब यह आत्मा का मामला होता है लेकिन लुई 16वें का चर्बी-युक्त सिर अथवा नेपोलियन के सिर पर नेपोलियन महान का लौह मुखौटा प्रेत के 'विद्रूपण' और 'व्यंग्य चित्र' का मामला बन जाता है।

एक और कदम उठाना जरूरी है। हमें भविष्य को अर्थात् जीवन को भी सोचना चाहिये अर्थात् मृत्यु के बारे में भी सोचना चाहिए। मार्क्स निश्चित रूप से इस मारक काल-दोष के नियम को पहचानते हैं और अंततः, जैसा कि हम सभी जानते हैं वैसे, शायद वे भी प्रेत द्वारा आत्मा के तात्विक संदूषण जानते हैं। लेकिन वे इससे छुट्टी पाना चाहते हैं, वे जानते हैं कि ऐसा हो सकता है, वे घोषणा करते हैं कि इससे छुटकारा पा लेना चाहिये। वे सभी प्रेतों से घृणा करते हैं, चाहे वे शुभ हो अथवा अशुभ, उनकी सोच है कि (प्रेतों के) इस आने-जाने के क्रम से छुटकारा मिल सकता है। ऐसा लगता है मानो वे हमसे कह रहे हों, हम जो इसका एक शब्द भी नहीं मानते, जिसे आप बड़ी चतुराई से कालदोष का नियम मानते हैं यह स्पष्टतया कालदोषग्रस्त है। अतीत की क्रान्तियों पर यही नियति भारी पड़ी थी। और उन क्रान्तियों को जो *वर्तमान में और भविष्य में* आ रही हैं (अर्थात् वे क्रान्तियां जिन्हें मार्क्स, दूसरों की तरह, जीवन की तरह, पसन्द करते हैं और यह वरीयता की पुनरोक्ति है) जो पहले ही उन्नीसवीं सदी में घोषित की जा रही है अतीत से इसकी आत्मा और इसके प्रेत दोनों से मुँह मोड़ना पड़ेगा। निष्कर्ष यह कि उन्हें विरासत लेना बन्द कर देना चाहिये। उन्हें अब उस शोकाभिव्यक्ति का काम भी बन्द कर देना चाहिए जिसके दौरान जीवित लोग मृतकों को बचाये रखते हैं, मृतक होने का अभिनय करते हैं, मृतकों के साथ अपने को व्यस्त रखते हैं, उनसे अपना मनोरंजन करते हैं, उनके साथ उलझे रहते हैं, मृतकों द्वारा मूर्ख बनाये जाते हैं, उनके खिलौने बन जाते हैं, उनकी बात करते हैं, उनसे बात करते हैं, उनका नाम ओढ़े रहते हैं और उनकी भाषा में भाषण देते हैं। स्मृति की छुट्टी, स्मारक मुर्दाबाद, छायाभासी रंगमंच की यवनिका गिरा दो और शोकवक्तव्य बंद करो, लोगों के हुजूम के लिये मकबरे बहा दो, शीशे की पेटियों के नीचे के मृत्यु-मुखौटे तोड़ डालो। यह सारा कुछ अतीत की क्रान्ति है। पहले ही, उन्नीसवीं सदी में पहले ही। इस तरह विरासत लेना बन्द होना चाहिए, जिसे शोक का कार्य कहा जाता है, आत्मा से ग्रस्तता के ही इतना प्रेत-ग्रस्तता कहा जाता है, उसकी आवृत्ति की विस्मृति के स्वरूप को विस्मृत किया जाना चाहिये।

“उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति अपनी कविता का स्रोत अतीत में नहीं पा सकती है। पा सकती है तो केवल भविष्य में। अतीत के सारे अन्धविश्वासों से जब तक यह युक्त नहीं होती तब तक यह स्वयं अपना प्रारम्भ नहीं कर सकती। अपनी ही विषयवस्तु के प्रति उदासीन होने के लिये बीते विश्व इतिहास की स्मृतियों की आवश्यकता होती है अपनी ही विषयवस्तु तक पहुँचने के लिए उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्ति के लिए जरूरी था कि वह अपने मृतकों द्वारा मृतकों को दफनाने देती। वहाँ शब्द विषयवस्तु के आगे निकल गये थे, यहाँ विषयवस्तु शब्दों की पहुँच से बाहर निकल गयी।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 6)।

दूर से देखने पर चीजें आसान नहीं हो जातीं। ध्यान से कान लगाकर सुनना चाहिए, ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये, भाषा के प्रत्येक शब्द को तौलना-परखना चाहिये; हम अभी कब्रगाह में हैं, कब्र खोदने वाले मेहनत कर रहे हैं, खोपड़ी निकाल रहे हैं, एक-एक करके खोपड़ियों की शिनाख्त कर रहे हैं, और हेमलेट याद करता है कि इसकी ‘एक जीभ थी’ और यह गाया करता था। मार्क्स क्या कहना चाहते हैं? हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वे एक से अधिक बार भी मर चुके हैं, हमें इसे जानना चाहिए, यह आसान नहीं है, खासकर तब जब यह मौत प्रायः होती है; हम अपने ही तरीके से, कम से कम उनके प्रत्येक जीवित बचे शब्दों में से कुछ न कुछ पाते हैं, वे चाहते थे कि हम उनके प्रति कम से कम थोड़ा-सा सम्मान दिये बिना उन शब्दों को कभी न भूले, उदाहरण के लिये, यह क्रान्तिकारी आदेश सुने बिना न भूलें कि मृतकों के द्वारा अपने मृतक लोगों को दफन करने दिया जाय, और जैसा कि बहुत शीघ्र ही नीक्षे कहेंगे, मार्क्स के एक

‘सक्रिय विस्मरण’ का आदेश सुने बिना उन्हें न भूलें। मार्क्स, मृत मार्क्स का मतलब क्या है? वे बहुत अच्छी तरह जानते थे कि मृतकों ने कभी किसी को भी नहीं दफनाया और जीवित लोगों ने भी नहीं जो *नाशवान* भी नहीं थे, अर्थात् जो उचित रूप से अपने भीतर अर्थात् अपने बाहर और अपने पहले, अपनी मृत्यु की असम्भव सम्भावना लिये जाते हैं। यह हमेशा जरूरी बना रहेगा कि अभी जीवित नाशवान लोग पहले से मर चुके जीवित लोगों को दफनायें। मृत लोगों ने कभी किसी को नहीं दफनाया है। लेकिन जीवित लोगों ने ऐसे जीवित लोगों ने जो केवल जीवित रहेंगे, अमर जीवित लोगों ने भी किसी को नहीं दफनाया है। देवता कभी भी किसी को नहीं दफनाते। न मृत लोग, न जीवित लोग ही कभी किसी को पृथ्वी के नीचे दबा पाये हैं। यदि मार्क्स इसे नहीं जान सके थे, तब उनके कहने का क्या मतलब है? वे ठीक-ठीक क्या चाहते हैं? वे आखिर क्या चाहते थे, वे जो मृत हैं और कब्र में हैं? ऐसा लगता है कि प्रथमतः वे हमें डर से अपने को डराना याद कराना चाहते थे। पिछली क्रान्तियों के दौरान, मृत क्रान्तियों के दौरान, अभिचार ने महान आत्माओं (यहूदी पैगम्बरों, रोमन नायकों इत्यादि) का आवाहन किया था लेकिन केवल इसलिये ताकि जो चोट यह कर रहा था उसकी हिंसा के प्रति अपने को भुलाने, दबाने और संज्ञा शून्य करने के लिये ही। अतीत की आत्मा अभिचार को इसकी ‘अपनी ही विषयवस्तु’ से बचाती थी, आत्मा थी, स्वयं को अपने से बचाने के लिये। इस तरह प्रत्येक चीज इस ‘विषयवस्तु’, इस ‘अपनी विषयवस्तु’ के सवाल में संकेन्द्रित है, जिसका मार्क्स प्रायः सन्दर्भ देते हैं, इन कुछ पंक्तियों में तीन बार। पूरा कालदोषग्रस्त स्थानभ्रंश शब्दावली और विषयवस्तु के बीच की अनुकूलता में झूलता रहता है—*उचित* विषयवस्तु अनुकूल विषयवस्तु। मार्क्स इसमें विश्वास करते हैं।

यह असंमजस निस्संदेह रूप से कभी भी खत्म नहीं होगा। निस्सन्देह यह अपने को उलट देगा और हम क्रान्ति के भीतर क्रान्ति पायेंगे, भावी क्रान्ति जो, बिना शोक जताये, अतीत की क्रान्ति पर विजयी होगी : अंततः यही घटा, घटना का आगमन, आने वाले भविष्य का आगमन, एक ‘अपनी ही विषयवस्तु’ की विजय-क्षण होगा जो ‘शब्दावली’ पर विजय पाकर शान्त हो जायेगा। फिर भी, अतीत की क्रान्ति में, जब कब्र खोदने वाले जीवित थे, निष्कर्षतः विषयवस्तु की अपेक्षा शब्दावली अधिक थी। अपने प्राचीन आदर्शों द्वारा छायाग्रस्त एक क्रान्तिकारी वर्तमान की कालदोषता का कारण यही है। लेकिन भविष्य में, मार्क्स की दृष्टि में अभी आने वाली उन्नीसवीं शताब्दी की *सामाजिक* क्रान्ति में राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति से आगे, नवीन की पूरी नवीनता इसी सामाजिक आयाम में निवास करेगी कालदोष अथवा असामायिकता अपने प्रति वर्तमान की उपस्थिति और (मसीही) पुनरागमन के प्राचुर्य के धूल-पुंछ नहीं जायेगी। समय ‘चूल से खिसका’ हुआ रहेगा लेकिन इस बार अननुकूलता ‘शब्दावली’ के सन्दर्भ में ‘अपनी ही विषयवस्तु’ के अतिरेक से निकलेगी। ‘अपनी विषयवस्तु’ अब भयाक्रान्त नहीं करेगी, मृत्यु-मुखौटे की मुख-विकृति और प्राचीन मॉडलों की शोकयुक्त वाग्मिता में पीछे खदेड़ दी जाने पर यह अपने को छिपायेगी नहीं। यह रूप की सीमा पार कर जायेगी, यह अपने आवरणों को फाड़कर बाहर निकल आयेगी, यह संकेतों, मॉडलों, प्रखर वाक्विन्यास, शोकभावना से आगे निकल जायेगी। अब इसमें कोई दिखावा, कोई कृत्रिमता नहीं रहेगी : न कोई जमा-बाकी और न ही कोई उधार लिया हुआ रूप। विरोधाभासी वह जरूर लगेगा लेकिन इस निर्बाध प्रवाह में ही उसी क्षण जब रूप और विषयवस्तु के सभी चूल अपनी जगह से हिल जायेंगे, विषयवस्तु ठीक से ‘अपनी’ और ठीक से क्रान्तिकारी हो पायेगी। किसी भी युक्ति से देखा जाय, इसकी पहचान का एक मात्र आधार इस असामायिक अ-पहचान के अतिरेक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस समय

पहचानी जा सकने वाली किसी चीज से इसकी पहचान नहीं हो सकती। जैसे ही क्रान्ति की पहचान हो जाती है, वह अनुकरण करना शुरू कर देती है और मृत्यु-पीड़ा में प्रवेश कर जाती है। यही काव्यात्मक अन्तर है क्योंकि हम मार्क्स की यह बात याद करते हैं कि *सामाजिक* क्रान्ति अपनी 'कविता' कहाँ से पाती है *कल वहाँ* की राजनैतिक क्रान्ति और *आज यहाँ* की अथवा और सटीक ढंग से आसन्न आज की क्रान्ति के बीच स्वयं कविता का अन्तर है, जिसके बारे में हम अभी, अफसोस! आज यह जानते हैं कि पिछड़ी डेढ़ शताब्दी से, इसके भावी कल में, किसी मानसिक उद्वेग के बिना, अनिश्चित समय के लिये, कभी सर्वोत्तम के लिये, कभी निकृष्टतम के लिए, वहाँ की बजाय यहाँ, आधुनिक इतिहास की सर्वाधिक अक्षय शब्दावलियों में से एक प्रति इसे अपने को खोलना पड़ेगा : वहाँ शब्द विषयवस्तु से आगे निकल गये, यहाँ विषयवस्तु शब्दों की पहुँच से बाहर निकल गयी। *एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट* में इस विषम कालदोष के और अधिक उदाहरणों को उद्धृत करना सचमुच जरूरी होता है, (तिथि के साथ यह शीर्षक पहले ही शोकसंतप्त विद्रूपण का पहला उदाहरण उपलब्ध कराता है, सार्वजनिक और निजी के वंशानुक्रम के मिलन-बिन्दु पर बोनापार्ट परिवार के साथ फ्रांस) हम केवल एक उदाहरण को अपने समझ रखेंगे जो उस दयाभासी देह के सर्वाधिक निकट हैं जो इसका स्थान लेती है। इस बार वह मामला वास्तव में स्वयं प्रेत के विद्रूपण का है, क्रान्ति उस 'लाल प्रेत' के व्यंग्य चित्रण से अपना प्रारम्भ करती है जिसे अभिचार के माध्यम से उड़ा देने के लिये प्रति-क्रान्तिकारियों ने कुछ भी नहीं रख छोड़ा था। 'लाल प्रेत' एक क्रान्तिकारी गुट का नाम भी था। वह पूरक परत जो हमारे लिये यहाँ काम की है ऐसी है जो अभिचार के प्रतिबिम्बी प्रत्यावर्तन को लगातार आश्वस्त करती है : जो डराते हैं वे स्वयं को भी डराते हैं, वे उसी प्रेत का आह्वान करते हैं जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। अभिचार अपना ही शोक मनाता है और अपनी शक्ति को अपनी ही खिलाफ लगा देता है।

हमारी परिकल्पना यह है 'एटीन्थ ब्रूमेअर' के काफ़ी आगे जिसे मार्क्सवाद कहा जाता है उसके साथ यह लगातार घटता रहा है। निकृष्टतम से इसे बचाने की बजाय यह प्रत्यावर्ती अभिचार, यह प्रति-अभिचार अधिक निश्चित रूप से इसे उस दिशा में मोड़ रहा होगा। *एटीन्थ ब्रूमेअर* के तीसरे अध्याय में मार्क्स 1848 की क्रान्ति की पहली फ्रेंच क्रान्ति के बरक्स रखते हैं। एक प्रमुख व्यक्ति द्वारा प्रभावित विरोध के लक्षणों को एक विश्वस्त और प्रभावशाली वाग्मिता एकत्र करती है : 1789 एक उर्चगामी गति है, साहसिकता ऊपर आती है, लगातार आगे बढ़ने का क्रम जारी रहता है (संविधानवादी, गिरदिंयन क्रान्तिकारी, याकोविन क्रान्तिकारी), जबकि 1848 में स्थितियाँ उतार पर होती हैं, संविधानवादी संविधान के खिलाफ षड्यन्त्र करते हैं, क्रान्तिकारी संविधानवादी बनने की कोशिश करते हैं और नेशनल असेम्बली की सर्वशक्तिमानता संसदवाद में उलझ जाती है। शब्द विषयवस्तु पर निर्णायक विजय प्राप्त कर लेते हैं।

“शान्ति के नाम पर अव्यवस्थित, खोखला आन्दोलन (किसी अंतर्वस्तु का अभाव), क्रान्ति के नाम पर शान्ति अत्यन्त गम्भीर उपदेश, सत्य से शून्य भावेग, भावेग से शून्य सत्य, नायकोचित कर्म से शून्य नायक घटनाओं से शून्य इतिहास।” (*एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट*, पृ. 125)

देखना चाहिए कि घटनाओं का यह अभाव और अन्ततः यह निरैतिहासिकता किसमें शामिल थी? इसका स्वरूप कैसा था? उत्तर है, निश्चित ही देह का अभाव। लेकिन कौन और क्या देह खो बैठा है? कोई जीवित व्यक्ति नहीं, न ही, जैसा कहा जाता है, कोई यथार्थ कर्ता बल्कि एक प्रेत, एक लाल प्रेत जिसे प्रति-क्रान्तिकारियों ने (वास्तव में समूचे योरोप में :

घोषणापत्र बीते कल की बात बन चुका था) अभिचार से उड़ा दिया था। इसीलिये जरूरी है कि चीजों को पीछे मोड़ा जाये, शामिशो की कहानी सिर के बल खड़ी कर दी जाय, 'पीटर श्लेमहिल की अनोखी कहानी', कहानी उस आदमी की जो अपनी छाया गँवा बैठा था। मार्क्स बताते हैं, "व्यक्ति और घटनायें सिर के बल खड़े श्लेमहिल जैसे दिखते हैं", जिस क्षण क्रान्ति व्यवस्था के वेष में प्रकट हुई, छाया ने देह खो दी। स्वयं लाल प्रेत का अवतार तिरोहित हो गया है मानो ऐसा होना सम्भव था। लेकिन क्या यह सम्भावना, संक्षेप में, स्वयं प्रतीयता नहीं है? और इतिहास को समझना, अर्थात् घटना के घटनापन को समझना, क्या इसके लिये हमें इस तरह के प्रतीयकरण का अनिवार्यतः सामना नहीं करना पड़ता है? क्या हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि देह का खोना स्वयं प्रेत को प्रभावित कर सकता है? इस सीमा तक प्रभावित कर सकता है कि प्रेत और प्रेत के प्रेत के बीच, उचित अन्तर्वस्तु की तलाश में लगे हुए प्रेत और जीवित प्रभावोत्पादकता में अन्तर कर पाना फिर असम्भव हो जाता है? उस रात में नहीं जब सब कुछ काला दिखता है अपितु भूरा पर भूरा और लाल पर लाल चढ़ा रहता है। हमें कभी नहीं भूलना चाहिये कि इस पूरे उलट-पुलट, विलोमीकरण तथा परिवर्तन का उल्लेख करते समय मार्क्स छायाओं की निन्दा करते हैं। उनकी क्रिटीक में यह भी शामिल है कि वे लोग और वे घटनायें उलट दिये गये श्लेमहिल की तरह अपनी उक्त-मज्जा खो चुके होते हैं जिसकी देह गायब हो चुकी है, वे निश्चय रूप से इसी तरह दिखाई देते हैं लेकिन यह छायाभास भर है और इसीलिये अन्ततः एक छाया, एक परिघटना के अर्थ में तथा वाग्मितात्मक अलंकार के अर्थ में। बात बस इतनी कि जो अंततः एक बिम्ब जैसी दिखता है वह थोड़े समय के लिए अन्तिम बिम्ब होता है, जो भ्रूण-हत्या का शिकार हो चुकी क्रान्ति के (मसीही) पुनरागमन में 'अन्त में दिखायी पड़ता है', भूरे पर भूरा की तरह लाल पर लाल :

“अगर इतिहास को किसी अंश के भूरे रंग पर भूरा रंग चढ़ाया जाता है तो वह है यह। घटनाएं और मनुष्य श्लेमहिल की तरह सिर के बल उलटे लटके, अपनी देह को खो चुकी छायाओं जैसे दिखाई पड़ते हैं। स्वयं क्रान्ति ही अपने वाहकों को लुंज करती है और केवल अपने शत्रुओं को ही वेगपूर्ण ऊर्जा से युक्त करती है। प्रति-क्रान्तिकारियों द्वारा निरन्तर आमन्त्रित और निष्काषित, 'लाल प्रेत' जब अन्ततः प्रकट होता है तब वह अपने सिर पर अराजकता का दोष पहनकर नहीं अपितु व्यवस्था की पोशाक पहन कर प्रकट होता है।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट)

दोनों ओर, क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति के बीच, लोकतान्त्रिकवादियों और बोनापार्ट के बीच युद्ध केवल प्रेतों और अभिचारों, जीववादी सम्मोहनों और जादुई मन्त्रोचार का ही विरोध नहीं करता अपितु प्रतिकृति के प्रतिकृत का भी विरोध करता है। दोनों ओर, एक चमकीली छाया लगातार प्रतिकृति को अन्यत्र भेजती रहती है, अर्थात् जीवित शरीर, यथार्थ, जीवित, वास्तविक घटना, स्वयं क्रान्ति सचमुच की क्रान्ति के साथ अपनी मुठभेड़ को रसातल तक स्थगित करती रहती है। इससे मार्क्स को तिथि देने में कोई रुकावट नहीं होती। यह सच है कि हर बार कोष्ठक में वे बताते रहते हैं कि रविवार का दिन था। अब अपनी एकवाचिकता में कोई तिथि किसी अन्य तिथि के प्रेत को दुहराती है, उसे पुनर्जीवित करती रहती है जिसका वह शोक मनाती है। और भी, कोई रविवार क्रान्ति के लिये महज एक तिथि भर नहीं है। कभी हीगल ने किसी अनुमानाश्रित गुड फ्रायडे का नाम लिया था, मार्क्स हमें वह दिखा देते हैं जो लाईस डे (ईश्वर के दिन) दिखाई पड़ता है, अर्थात् प्रतीक्षित छायाभास, मृतक की वापसी, पुनर्छायाभास के रूप में पुनर्जीवन :

“2 मई, 1852 (महीने का दूसरा रविवार) के लाभकारी परिणाम : उनके (डिमाक्रेडेटी के) मन में मई, 1852 का दूसरा रविवार एक निश्चित विचार, एक प्रकार का दृढ़ विश्वास बन गया था, उस दिन की तरह जिस दिन क्राइस्ट का पुनर्प्रकट्य होगा और नई सहस्राब्दि प्रारम्भ होगी (ईसाईत के प्रारम्भिक दौर में कुछ रहस्यवादी धर्म प्रचारकों के अनुसार पृथ्वी पर ईसा मसीह के पुनरागमन के साथ एक नयी सहस्राब्दी का प्रारम्भ होगा और चारों ओर न्याय, शान्ति, उमंग और समृद्धि का साम्राज्य होगा; इन धर्म प्रचारकों को धियलिस्ट कहा जाता है। हमेशा की तरह कमजोरी में चमत्कार में शरण ले रही थी, कल्पना कर लिया गया था कि शत्रु पर विजय हो चुकी है जबकि इसने उसे शत्रु को अभिचार द्वारा कल्पना में भगा भर दिया था।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 107)

थोड़ा आगे—यह भी रविवार अथवा वही दिन, वही रविवार, पूरी फर्श फिर से छायाभासों, ऐन्द्रजालिक छायाओं, अभिचार के संपुट के रूप में अभिशाप, जादू-टोना को सौंप दी जाती हैं, उत्तरजीविता आँख झपकने तक के लिये जीवित बची रह सकेगी—यही जनता की इच्छा और साक्ष्यपत्र है। अपनी ही आवाज में, अपने ही हाथ से एक तत्काल अन्धा हुआ जनसमूह शैतानी आदेश के रूप में अपने ही मृत्यु-आदेश पर हस्ताक्षर कर देता है।

“दैनिक समाचार पत्रों के पन्नों की बिजली, सारा साहित्य, राजनैतिक नाम और बौद्धिक प्रतिष्ठाएँ, नागरिक कानून और दण्ड संहिता, (स्वतन्त्रता, समानता, बंधुत्व) और दूसरी मई 1852 (मई का दूसरा रविवार)—सारा कुछ उस आदमी के जादू के सामने छायाभास की तरह गायब हो गया है जिसे उसके शत्रु भी जादूगर नहीं मानते। सार्वभौमिक मताधिकार एक क्षण के लिये जीवित बच गया लगता है इसलिए ताकि अपने ही हाथों यह अपना अन्तिम इच्छा-पत्र और साक्ष्य सारे संसार की आँखों के सामने तैयार कर सके और स्वयं जनता की ओर से यह घोषणा कर सके, वह सारा कुछ जिसका जन्म होता है पलट देने के योग्य, मूल्यहीन होता है।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट)

आँख झपकते ही क्या हो गया? इस हाथ की सफाई को कैसे वर्णित किया जाय? एक नकली जादूगर, जो इतना खोखला जितना कि स्थानापन्न के रूप में कोई प्रेत। आदेश की प्रतीक्षा में पुस्तुत कोई प्रेत (लुई बोनापार्ट) जो स्वयं किसी महान प्रेत (नैपोलियन बोनापार्ट और 1789 की क्रान्ति) के अर्द्ध-पितृसत्तात्मक छवि को एक इन्द्रजाल, किसी विकृत, शैतानी और गुप्त भूत-अप्सारण के द्वारा गायब कर देता है। क्योंकि अगर अभिचार से लोग गायब कर दिये जाते हैं तो यह उसी तरह अपने गायब होने के लक्षण को हस्ताक्षरित करता है। पूर्ण अलगाव और देह के बिना स्वयं का अलगाव जो इस तरह अपनी मृत्यु का विनियोजन करता है और अपने स्वत्व को पैतृक सम्पत्ति की विरासत को सौंप देता है।

क्या ये विरोधाभास किसी सुसंगत और अलघुकरणीय तर्कणा से मेल खाते हैं? अथवा इन्हें कुछ छूट देनी पड़ेगी? क्या वाग्मिता के लिये कुछ गुंजाइश करनी पड़ेगी? क्या मामला मार्क्स के कुछ उन विशेष ‘राजनैतिक’ अथवा ‘ऐतिहासिक’ पाठों में एक विशेष प्रकार का प्रभाव ढूँढना है जिन्हें कुछ लोगों (उदाहरण के लिये, कभी-कभी मिशेल एनरी) ने मार्क्स के ‘दार्शनिक’ पाठों के बरक्स रखा है? हमारी परिकल्पना अलग है। इसमें संदेह नहीं कि (मार्क्स के लेखन को) खण्डन-मण्डन, भाषण-प्रतिभा, असाधारण भाषिक शस्त्रागार के रूप में देखा जा सकता है। तर्कों का कवच लेकिन साथ ही बिम्बों का कवच भी, ऐसे समय एक *अतिकाल्पनिक कवच* जब लोग प्रेतों में रुचि लेते थे (ऐतिहासिक रूप से सुनिश्चित दृष्यबंध के अनुसार एक प्रकार की प्रेतों की रंगशाला—प्रत्येक युग के दृश्यबंध का अपना तरीका होता है, हमारे अपने प्रेत हैं)। हमें, निश्चित

रूप से, एक अत्यधिक भेदात्मक ऐतिहासिक, रणनीतिक और सामटिक प्रसंग की गतिशीलता में एकान्तिक संसक्ति पर भी विचार करना चाहिये। लेकिन इससे इन सीमाओं के बावजूद कुछ अपरिवर्तियों की पहचान करने में भी कोई बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये। निरंतरता, सुसंगति और सम्बद्धता यहाँ मौजूद है। विमर्शात्मक पत्रों भी हैं जिनके श्रेणीक्रम लम्बे कथाक्रमों को क्षणिक विरचनों का पिछलगू बने रहने की छूट देते हैं। अगर संरचना सम्बन्धी विविधता का कुछ अंश शेष भी रहता है, तो भी यह, जैसा कि हम लगातार संकेत करती है, अलग-अलग विमर्श के रूप में नहीं करता अपितु प्रत्येक के भीतर कार्यरत रहता है। अपने दार्शनिक रूप में यह विरोधाभास पहले से ही *द जर्मन आइडियोलॉजी* के कार्यक्रम का हिस्सा था और *पूँजी* की कार्य सूची में बना रहेगा। अत्यधिक छायाभासी कवच वाग्मिता में जहाँ एक ओर बहस के लिये विम्ब मुहैया कराता है, शायद वहीं दूसरी ओर यह भी सोचने के लिये बाध्य करता है कि प्रेत का रूप अन्य रूपों में से महज एक रूप भर ही नहीं है। यह सम्भवतः सभी रूपों का कोई रूप होता है। शायद इसी कारण यह अन्य लाक्षणिक हथियारों में से एक हथियार नहीं माना जाता है। प्रेत का कोई परा-अलंकार नहीं होता।

इन विरोधाभासों के मद्देनजर कार्यभार क्या होगा? कम से कम एक कार्यभार होगा युद्ध-योजना का पुनर्संयोजन अर्थात् *द जर्मन आइडियोलॉजी* में जिसे दर्शन के पूरे इतिहास में विशालतम फैंटोमैसिया (प्रेत-मीमांसा अथवा प्रेत-दर्शन) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसका प्रेतवैज्ञानिक मानचित्र तैयार करना। इसके पूरे ब्यौरे पर विस्तार से ध्यान देने की जरूरत है, अर्थात् जिसे मार्क्स ने 'अपनी विषयवस्तु' और 'शब्दावली' कहा है उसकी असाधारण क्रीड़ा और पारस्परिक अतिरेकों का लेखा-जोखा करना। "सुखानुभूति को वाग्विदग्धता की संक्षिप्तता, इसके लक्षणों और कटाक्षों के भीतर से और उनके पार अपितु जाल (Gaz-gauge) और प्रेत (Geist) के बीच तत्वांतरण के भीतर और पार मार्क्स (और एंगेल्स) की आत्मा की एक भी छटा को हाथ से जाने नहीं दिया जाना चाहिये। सुखानुभूति के लिये जरूरी है कि वह मार्क्स (और एंगेल्स) की वाग्विदग्धता की संक्षिप्तता, इसके लक्षण और कटाक्षों तक सीमित न रहते हुए, जाल और आत्मा के तत्वांतरण के भीतर और बाहर भी इसकी छटा न खोये।"⁸

एक लम्बी और विदग्धतापूर्ण निन्दोक्ति के कुछ गिने-चुने लक्षणों को ही हम अलग कर पायेंगे। एक बार फिर सवाल उठता है किसी मृगया का। किसी भी नजदीक की चीज को धनुष का तीर बना लिया जाता है। कुछ देर पहले जिन नव-धर्मप्रचारकों का उल्लेख किया गया था उनसे सम्बन्ध होने के आरोप के चलते किसी को निर्मम तरीके से और शिष्ट आचरण के नियमों के प्रति सम्मान के बिना उसकी धज्जियाँ लगातार उड़ाई जाती हैं। अगर मार्क्स (और एंगेल्स) की बात मानी जाये तो सॉ मैक्स स्टर्नर ने सेण्ट जॉन की भविष्यवाणी को झूठ बोलने के लिये बाध्य किया होता। जहाँ सेण्ट जॉन बेबिलोन (हमारे मध्य-पूर्वीय पदलोप का आज भी एक अन्य केन्द्र) की वेश्या को सामने लाये, वहीं नव-धर्मवादी स्टर्नर पुरुष को रहस्यमय, अनुपमेय घोषित करते हैं। और फिर आता है आत्मा के रेगिस्तान में आत्माओं, प्रेतों, मृत्युलोक से वापस आने वालों का पूरा इतिहास। पहले आत्माओं का इतिहास, फिर आत्माओं का अशुद्ध इतिहास। स्टर्नर स्वयं घोषित करते हैं, "जब से शब्द को माँस बना दिया गया, जब से संसार का आत्मीकरण और सम्मोहन किया गया तभी से यह एक प्रेत है।"⁹ मार्क्स 'स्टर्नर' के मसले पर व्यंग्य करते हैं (उद्धरण चिन्हों से घिरा यह व्यक्तिवाचक नाम वास्तव में एक उपनाम है) : "स्टर्नर आत्माएँ (स्प्रिट्स) देखते हैं।" पर्यटकों के किसी गाइड अथवा प्रोफेसर की तरह स्टर्नर हमें प्रेतों के बारे में एक अच्छा परिचय प्राप्त करने के लिये नियम अथवा शैली बताने का दावा करते हैं। यह

निश्चित करने के बाद कि स्पिरिट (प्रेतात्मा) स्वयं से अलग कोई चीज होती है (और इस परिभाषा में काफ़ी दम है) स्टर्नर एक और बहुत ही उत्तम प्रश्न करते हैं ('लेकिन यह अलग कोई, यह क्या है?) एक बड़ा प्रश्न जिस पर, ऐसा लगता है, मार्क्स कुछ जल्दी ही भृकुटी चढ़ा लेते हैं और कुछ जल्दी ही इसे उड़ा देने की जुगत में लग जाते हैं। और, जैसा कि मार्क्स स्वयं बहुत जल्दी इसका मजाक उड़ाते हुए कहते हैं, यह प्रश्न एक पूरक रूपान्तरण (मेटामॉर्फोसिस) **dhlgjrklsnl tñxr** (orginary) प्रश्न को, उस यातनादायी प्रश्न को परिवर्तित भर कर देता है जिसने स्वयं के प्रति अस्मिता पर, स्वयं के प्रति अपनी अनुकूलता और अ-उपस्थिति पर, मृतात्मा के नाम से पुकारी जाने वाली चीज की अपने प्रति स्थानच्युत असामयिकता को प्रभावित किया था। मार्क्स को इसका मजाक नहीं उड़ाना चाहिये था लेकिन ये ऐसा करते हैं और दुर्भावना के साथ ही ऐसी चतुराई से करते हैं जो नकली लगना चाहेगी। लेकिन शायद यह उतनी नकली नहीं है जितना दिखती है। इसलिये हमें इस बात को यहाँ छिपाना नहीं चाहिये, हालाँकि यह बिल्कुल ही उचित क्षण नहीं है कि हम स्टर्नर की मौलिकता, साहस और दार्शनिक-राजनैतिक गम्भीरता को गम्भीरता से ले रहे हैं। और स्टर्नर को मार्क्स के बिना अथवा उनके बरक्स पढ़ा जाना चाहिये, लेकिन इस समय हम इसकी चर्चा नहीं करेंगे। मार्क्स लिखते हैं :

“इसलिये अब सवाल उठता है : अहं के अलावा आत्मा क्या है? जबकि मौलिक सवाल था; कुछ नहीं से पैदा होने के कारण आत्मा अपने अलावा और क्या है? इसके साथ सॉ मैक्स अगले 'रूपान्तरण' (ट्रान्सफारमेशन) पर कूद जाते हैं।” (एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 152) इसी तरह कहा जा सकता है आत्मा अपने अलावा और किसी चीज से नहीं सृजित की जाती है।

अपनी पहली और सरल 'अशुद्धता' में प्रेतों का इतिहास अपने को अनेक क्षणों में प्रकट करता है। इसके पहले भी कि आप अपनी कुर्सी से आराम के साथ इसे देखें, जिसे प्रेतों का सिद्धान्त कहा जाता है, अवधारणाओं के प्रेतों का जुलूस जो प्रेतों की ये अवधारणायें होंगी (महज उनका नाम, मार्क्स ऐसा सोचते हैं), यह रेखांकित करना महत्त्वपूर्ण होगा कि यह सिद्धान्त अपने उद्गम, अर्थात् पिता हीगल का पता *बता देता है*। यह सबके सामने अपनी पूर्वज-परम्परा जाहिर कर देता है और यह उस पूर्वज के योग्य नहीं है। यह उस पूर्वज की निन्दा करता है। स्टर्नर की हीगलीय वंश-परम्परा का मतलब सन्तान की अवनति भी है। स्टर्नर हीगल से पैदा होते हैं, वे *द फिर्नॉमेनॉलॉजी ऑफ स्पिरिट्स* के लेखक की छाया से ग्रस्त हैं और वे इसका सामना नहीं कर सकते। अपच से परेशान किसी हेल की तरह वे जीवित आत्मायें उगलते हैं, दूसरे शब्दों में हीगल स्टर्नर की समझ के परे हैं; वे हीगल को उतनी अच्छी तरह नहीं समझते जितना कि हीगल की सन्ततियों में से एक अन्य ने समझा था। अनुमान लगाइए कि वह सन्तति कौन है? यह सन्तान भी अपने महान पिता की प्रत्येक रात्रि आनेवाली छाया से उतना ही ग्रस्त था, उसका रहस्य खोल देने अथवा उससे प्रतिशोध लेने (दोनों का मतलब कभी-कभी एक ही होता है) को उतना आतुर, यहाँ बन्धु स्टर्नर को हीगलवाद का पाठ पढ़ाने में व्यस्त है। स्टर्नर हमेशा हीगल की भाषा बोलते हैं, उनके शब्द “लम्बे-परिचित, रूढ़िवादी, हीगलीय शब्दावलियों” में ढल जाते हैं (पृ. 149)। लेकिन यह अयोग्य उत्तराधिकारी इच्छा-पत्र और साक्ष्य-पत्र के अन्तःतत्त्वों को नहीं समझ पाया है। *द फिर्नॉमेनॉलॉजी ऑफ स्पिरिट्स* को, जो उसका प्रेरणा-ग्रन्थ है, उसने ठीक से नहीं पढ़ा है और वह इसका ईसाई रूप हमें बताना चाहता है। (“सॉ मैक्स हमें ईसाई आत्माओं का परिघटनाशास्त्र, फिर्नॉमेनॉलॉजी)। देना चाहते हैं।” (पृ. 153)। उन्होंने क्या नहीं समझा है? अन्तःतत्त्व क्या है? आत्मा के प्रेत बनने के विषय पर उन्होंने

यह नहीं देखा कि हीगल के लिये संसार का केवल आत्मकरण ही नहीं अथवा वि-आत्मकरण भी हो गया था : एक ऐसा प्रमेय जिसे *द जर्मन आइडियोलॉजी* के लेखक स्वीकार करते लगते हैं : यह वि-आत्मकरण हीगल द्वारा बहुत ठीक ढंग से पहचान लिया जाता है, ऐसा बताया जाता है। हीगल इन दो गतियों को दूसरे से जोड़ने में सफल हो गये लेकिन हमारा 'साधुप्रकृति वाला द्वन्द्ववादी' जो 'ऐतिहासिक विधि' से अनजान है, यह नहीं जान पाता कि इसे कैसे किया जाया। इसके अतिरिक्त अगर वे थोड़ा अच्छे इतिहासकार होते तो वे अपने को हीगल से अलग करने में सफल हो जाते क्योंकि, "स्टर्नर से (मार्क्स को) दो शिकायतें हैं। स्टर्नर हीगल को समझ नहीं पाते और यह कोई आवश्यक अन्तर्विरोध नहीं है—प्रेत की अपनी वंशावली में वे अत्यधिक हीगलवादी हैं। इस बुरे भाई पर आरोप है कि वह अपने पिता के प्रति आवश्यकता से अधिक समर्पित है और साथ ही वह इस पिता का अयोग्य पुत्र है।"¹⁰ एक आज्ञाकारी पुत्र अपने पिता की बातों को सावधानी से सुनता है, वह पिता की बताई राह पर चलता है लेकिन वह उन्हें समझ नहीं पाता—यह मार्क्स के कहने का मतलब है। और मार्क्स स्वयं यह न करते अर्थात् दूसरे अयोग्य पुत्र न बनते अपितु कुछ ऐसा करते जिससे पिता-पुत्र सम्बन्ध अवरोधित हो जाता। लेकिन करने से कहना आसान होता है। जो भी हो, स्टर्नर का काम व्यर्थ बना रहता है। "अगर उन्होंने (स्टर्नर ने) यह परिघटनाशास्त्र न भी दिया होता (जो हीगल के बाद वैसे भी फालतू ही होता) तो भी उन्होंने हमें कुछ भी न दिया होता।" ((एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, पृ. 153-154)

अयोग्य पुत्र और अयोग्य इतिहासकार स्टर्नर अपने पूर्वजों से और *फिनॉमेनॉलॉजी* से अपने को मुक्त नहीं कर सके थे। *दि इगो एण्ड हिज ओन* का लेखक यह नहीं जान पाता कि आत्म-चेतना अथवा मनुष्य जैसी अमूर्त अवधारणायें अपनी प्रकृति में धार्मिक होती हैं। वह धर्म को स्वयंसिद्ध कारण मान लेता है मानो प्रेत अपने आप ही इधर-उधर घूमते रहते हों। वह नहीं जान पाता कि "ईसाईयत का कहने लायक कोई इतिहास", अपना कोई इतिहास नहीं है। जैसा कि (ईसाईयत को) करना चाहिये या, यह 'अनुभवाश्रित दशाओं' और 'अनुभवाश्रित कारणों', "समाज के ये नियमित स्वरूप", 'आदान-प्रदान और उद्योग के नियमित सम्बन्धों' के आधार पर --धार्मिक चेतना के 'स्व-नियामनों' 'विकासों' की व्याख्या करने में सफल नहीं हो पाती। वे नियामित होने ओर है। इसीलिये 'आवश्यक' को नहीं पहचान पाये, ये *नियामनवाद* (आरोप का प्रधान शब्द) और ठीक इस नियामन की अनुभवाश्रितता को नहीं पकड़ पाये। इस तरह उन्होंने आत्मा (स्पिरिट के इस नियामन को जो नियामित करता है उसे विषम-नियामन समझने की भूल की। इस क्रिटीक को प्रेरित करने वाला खुले तौर पर घोषित अनुभववाद इस क्रिटीक को विकल्पन के नियम की ओर पीछे ढकेल देता है। किसी संरचना में अलग-अलग उत्पत्ति-मूलों के कारण उसके विभिन्न अंगों के बीच असम्बद्धता से भी हमेशा की तरह अनुभवाद का साबका पड़ता है। किसी वास्तविक अनुभव को हम किसी अन्य अनुभव से इसका सामना होने पर ही पहचान सकते हैं। ईसाई आत्मा (स्पिरिट) के इस बहु-नियामन की अनदेखी करने के कारण स्टर्नर जादुई प्रभाव में आ जाते हैं, वे दुःस्वप्न देखते हैं, वे छायायें गढ़ते हैं, यह भी कहा जा सकता है कि वे आत्मा को कपोल-कल्पना बना देते हैं। सच्चाई यह है कि स्टर्नर हीगलीय आवृत्ति से ग्रस्त हैं। उनके अन्दर केवल वही बसती है। एकमात्र 'विकल्पन' जिसके लिये वे सक्षम है, वह है 'आचार्य-पीठ' का एक 'दूसरा-होना', बर्लिन के आचार्य (हीगल) के विचारों का एक विकल्प होना। स्टर्नरीय मनुष्य और संसार के कायान्तरण वास्तव में सार्वभौमिक विश्व इतिहास हैं जो हीगल की काया में अवतरित हुए हैं अर्थात् 'हीगलीय दर्शन की देह' में समावेशन, 'ऐसे प्रेतों के

कायान्तरण और समावेशन जो केवल ऊपर से “बर्लिन के आचार्य के विचारों का विकल्प होते हैं।” वे सिर्फ उतना भर ही है और वे ऐसा ऊपर-ऊपर ही है। ‘द फिनामेनॉलॉजी ऑफ स्पिरिट’ में, इस धर्मग्रंथ में, हीगल व्यक्ति को ‘चेतना’ के रूप में और विश्व को ‘वस्तु’ के रूप में ढाल देते हैं। इस तरह, अपनी पूरी विविधता में जीवन और इतिहास वस्तु के साथ चेतना के सम्बन्धों के रूप में रूपान्तरित कर दिये जाते हैं। यह अभी भी सत्य का मामला है, चेतना के सत्य के रूप में सत्य का परिघटनाकरण है जिसे प्रश्नांकित कर दिया जाता है। प्रेत का इतिहास छायाकरण का इतिहास बना रहता है और छायाकरण का इतिहास वास्तव में सत्य का इतिहास, किसी पुरा-गल्प के सत्य बन जाने का इतिहास होता है बशर्ते इसका उल्टा न होता हो अर्थात् सत्य का पूरा-गल्प में रूपान्तरण, किसी भी स्थिति में यह प्रेतों का इतिहास— (1) आत्म का परिघटन विज्ञान सत्य के रूप में वस्तु के साथ चेतना का सम्बन्ध अथवा केवल वस्तु के रूप में सत्य के साथ सम्बन्ध; (2) जिस सीमा तक यह सत्य होता है उस सीमा तक वस्तु के साथ के साथ चेतना का सम्बन्ध; और (3) सत्य के साथ चेतना का यथार्थ सम्बन्ध का वर्णन करता है।

यह त्रिविमीय चरित्र ही पिता ईश्वर, ईसा मसीह और पवित्र प्रेत की त्रिमूर्ति का प्रतिबिम्बन है। आत्मा मध्यस्थ और इस प्रकार संतरण और एकत्व प्रदान करती है। इसी तरह वह प्रेतीयता में आत्मकरण के रूपान्तरण को जन्म देता है : सॉ मैक्स की चूक यही है। इसीलिये हमें यह अनुभव होता है कि स्टर्नर की क्रिटीक में मार्क्स स्पिरिट तक पहुँचने की बजाय प्रेत के पीछे पड़ जाते हैं मानो वे इस सम्बन्ध में किसी असंक्रमणीय शुद्धिकरण में विश्वास करते हों, मानों प्रेत आत्मा पर निगाह न रखे हुये हो, मानों यह आत्मकरण की चौखट से आत्मा के ऊपर छाया न हो, मानों स्वयं उस आवृत्ति ने आदर्श के आदर्शीकरण और आत्मकरण को अनुकूलित करती हैं, इन दोनों अवधारणाओं के बीच पहचान की किसी आलोची पहचान को पोंछ न दिया हो। लेकिन मार्क्स पहचानने की हठ करते हैं क्रिटीक के संकट की यह कीमत होती है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. सिगमण्ड फ्रायड, *कम्प्लीट वर्क्स (स्टैंडर्ड संस्करण : जर्मन, खण्ड 17/41)*
2. *कैपिटल* का यह प्रारम्भिक दृश्य है जिसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।
3. अ कंट्रब्यूशन टु अ क्रिटीक ऑफ पॉलिटिकल इकॉनॉमी 1859 (अनु. एस. डब्ल्यू. र्याजांसकाया, सं. मॉरिस डॉब. न्यूयॉर्क इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1970), पृ. 107
4. सभी प्रकार के “संशोधनवादी” की विकृत तर्क-पद्धति जो इस (बीसवीं) शताब्दी के अन्तिम वर्षों का लक्षण और जो इक्कीसवीं शताब्दी में भी जारी रहेगी। वास्तव में निकृष्टतम संशोधनवादों/समझौतावादी के विरोध में संघर्ष में कमी नहीं आनी चाहिए; इनके रूप और स्वार्थ अब पर्याप्त स्पष्ट हो चुके हैं। भले ही उनको अलग-अलग तरीके से दुहराने की प्रवृत्ति में वृद्धि अवश्य हुई है और नये रंग-रोगन में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी। इस प्रकार इस प्रवृत्ति का विरोध हमेशा अनिवार्य बना रहेगा और इस विरोध में कभी-कभी नहीं होनी चाहिए। वहाँ-वहाँ इस प्रकार की विकृतियों के लक्षण प्रायः दिखायी देते रहते हैं जो किसी भी प्रकार कम खतरनाक नहीं हैं अज्ञान अथवा कठमुल्लापन से आच्छादित कमी भी न डगमगाने वाले शुभ अन्तःकरण कम खतरनाक नहीं हैं। अज्ञान अथवा कठमुल्लापन से आच्छादित कभी न डगमगाने वाले शुभ अंतःकरण से युक्त और जन संचार की ओर से आने वाली सभी प्रकार की चुनौतियों से स्वतन्त्र ऐसे तमाम लोग हैं जो हमारी शताब्दी पर छाये हुए प्रेतों से लाभ उठाने भर से सन्तुष्ट नहीं है। (दृष्टव्य : मिथकों काकूतनी, “ह्वेन मेमोरी एण्ड हिस्ट्री आर कैजुअल्टीज : होलोकॉस्ट डिनायल”, न्यूयॉर्क टाइम्स, 30 अप्रैल, 1999)। ऐसे लोग बहुत आराम के साथ और बहुत प्राधिकारपूर्वक

“संशोधनवाद” शब्द से खेलते रहते हैं। इतिहास, इसके विषय में चिन्तन और लेखन तथा इसकी स्थापनाओं के विषय में, सत्य की वास्तविक स्थिति तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं के विषय में आलोचनात्मक, प्रणालीगत, ज्ञानात्मक और दार्शनिक सवाल उठाने वाले किसी भी व्यक्ति के ऊपर आरोप लगाने के लिये भी संशोधनवाद को एक हथियार की तरह इस्तेमाल करने में इन लोगों को कतई संकोच नहीं होता। इतिहास के अनुशीलन में सावधानी का आग्रह करने वाला, धर्मशास्त्रीय विधि से रूढ़ हो चुके वर्गीकरणों से थोड़ा-सा भी छेड़छाड़ करने वाला, ऐतिहासिक सत्य के उत्पादों, प्रक्रियाओं और अवधारणाओं पर अथवा इतिहास लेखन की आकल्पनाओं पर पुनर्विचार की माँग करने वाला कोई भी व्यक्ति संशोधनवादी घोषित कर दिया जाता है। यह आरोप मार्क्सवादी विमर्श में नया कदम रखने वाले किसी भी ऐसे व्यक्ति द्वारा इस्तेमाल करने के लिये सदैव सहज उपलब्ध रहता है जिसे आलोचनात्मक विवेक के बारे में कुछ भी अता-पता नहीं होता, जो इससे कन्नी काटने की जुगाड़ के बोर में सदैव चौकन्ना रहता है और जो अपनी संस्कृति अथवा इसके अभाव, अपने विश्वासों और निश्चितताओं को आलोचनात्मक विवेक अथवा आलोचनात्मक परीक्षण से हमेशा अछूता बनाये रखना चाहता है। यह एक दुखद ऐतिहासिक स्थिति है जो हमारे वर्तमान अस्तित्व को प्रीवादित करने वाले किसी भी ऐतिहासिक शोध अथवा ऐतिहासिक चिन्तन पर पहले से ही प्रतिबन्ध लगाने की ताक में रहती है। यहाँ इस बात का संकेत करना आवश्यक है योरोप में और योरोप के बाहर भी इतिहास का और विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी के इतिहास का एक पूरा पाखण्ड अभी भी प्रश्नांकित और प्रकाशित किया जाता है; बिना ‘संशोधनवादी’ हुए कुछेक सवाल पूछे और सूत्रबद्ध किये जाने हैं।

5. ‘दि एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट, मार्क्स और एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-11 (न्यूयॉर्क : इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, 1979), पृ. 103-104
6. जाहिर है कि यहाँ हम मिशेल एनरी (मार्क्स, खण्ड दो पेरिस पेरिमार्द 1976) के लेखन पर विचार कर रहे हैं जो दि एटीन्थ ब्रूमेअर और कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणापत्र को ‘राजनैतिक’ अथवा ‘राजनैतिक-ऐतिहासिक’ के पाठों के रूप में वर्गीकृत करते हैं उनके अनुसार ये दोनों पाठ यदि वे सचमुच ‘दार्शनिक’ हैं तो अपेक्षाकृत कम दार्शनिक हैं क्योंकि ये बोधगम्यता के अपने सिद्धान्तों को अपने भीतर नहीं रखते (खण्ड 1. पृ. 10) (बोधगम्यता के अपने सिद्धान्तों को अपने भीतर नहीं रखते) शीर्षक के अन्तर्गत एनरी के इस वर्गीकरण की परम्परा पर विस्तार से विचार किया है क्या कभी ऐसा उदाहरण मिलता है? यह इस पर विस्तार से विचार करने का अवकाश नहीं है यद्यपि बोधगम्यता की सर्वव्यापकता में यह विचित्र किन्तु दृढ़ विश्वास जीवन की उस अवधारणा के लिये अपरिचित नहीं उससे पूरी पुस्तक का आधार है। एनरी के अनुसार कमजोर दार्शनिक अथवा दार्शनिकता से शून्य यह ‘ऐतिहासिक-राजनैतिक’ पक्ष एक अमरीकी अखबार के लिये लिखे **x;s**दि एटीन्थ ब्रूमेअर ऑफ लुई बोनापार्ट’ में विशेष रूप से जाहिर होगा (खण्ड 1, पृ. 11)। यह मानते हुए कि कोई इस प्रकार के समस्याग्रस्त अन्तर को और वह भी विशेषकर मार्क्स की किसी कृति में, स्वीकार कर सकता है, यह परवर्ती पुस्तक ‘राजनैतिक’ अथवा ‘राजनैतिक-ऐतिहासिक’ पाठों की परिसमाप्ति से सीमांकित नहीं लगती। स्वयं एनरी के अनुसार मार्क्स के सर्वाधिक ‘दार्शनिक’ और महत्त्वपूर्ण पाठों में उस प्रेतीय विरोधाभास का दर्शन होता है और यह सर्वाधिक मुखर है ‘द जर्मन आइडिऑलोजी’ में। इस प्रेतीयता की जाँच-परख द्वारा हम जीवन दर्शन अथवा “सभी प्रकार की वस्तुनिष्ठता से रहित क्रान्तिकारी व्यक्तिनिष्ठता” के दर्शन (एनरी, 1 पृ. 326) का प्रत्यक्ष विरोध नहीं कर रहे हैं, न ही एनरी द्वारा की गयी इसकी व्याख्या का बल्कि एक पूरी तरह से भिन्न नजरिये से उस दृष्टि का विरोध कर रहे हैं जिसके तहत अभी तक उनका अध्ययन किया जाता रहा है। लेकिन एक आमूलचूल विधि से हम इसे और अधिक गहन बनाने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, विशेषकर तब जब किसी अन्दर-बाहर की पर्त का कोई पूरक जीवित को अ-जीवित के सरल विरोध में रखने का निषेध करता है। एनरी की पुस्तक के निष्कर्ष

“मार्क्स का चिन्तन हमें इस भयावह सवाल के सामने खड़ा कर देता है (जीवन क्या है?) से सहमत होने वालों को इस पड़ताल को संदर्भित करना पड़ेगा अर्थात् इस पुस्तक के सभी पूर्व वक्तव्यों को पुनर्समस्यांकित करना होगा जो पूरी तरह से *जीवित*, *जीवित व्यक्ति*, *जीवित व्यक्तिनिष्ठता*, इत्यादि से दूसरे शब्दों में, इस अत्यधिक विवादी पुस्तक के आलोचनात्मक शस्त्रागार से सम्बद्ध है। क्योंकि अंततः जीवित के इसी एकार्थक सन्दर्भ के नाम पर ही यह पुस्तक अत्यधिक आग्रह के साथ मार्क्स के लेखन के सभी पूर्व पाठों का और विशेष रूप से इन पाठों के राजनैतिक पक्षों की आलोचना करती है। आश्चर्य इस बात से होता है कि जीवन का प्रश्न पाताल-सदृश्य क्यों होता है। दूसरे शब्दों में, यह प्रश्न ही क्यों? क्या इसके द्वारा ‘जीवन’ ही की अवधारणा की अ-स्व-अस्मिता का संकेत अथवा विज्ञान और दर्शन में जिसे जीवन कहा जाता है, उसकी तात्त्विक रहस्यात्मकता का संकेत नहीं? क्या यह जीवन के दर्शन के विनाश के सिद्धान्त और परिसमाप्ति की आन्तरिक तथा बाह्य सीमा का संकेत नहीं है? और एक बार मूलतः जीवित के रूप में निर्धारित व्यक्तिनिष्ठता की सीमा का संकेत, फिर उसे चाहे जिस प्रकार की अवधारणात्मक सज-धज के साथ प्रस्तुत किया जाय? यदि कोई इस जीवित व्यक्तिनिष्ठता के जीवन के साथ नकारात्मकता अथवा वस्तुनिष्ठता, मृत्यु की परिघटना अथवा अ-परिघटना को जोड़ता है तो फिर इसको जीवित ही क्यों कहा जाता रहे? दूसरी ओर मार्क्स के लेखन में हर कहीं न्यायोचित मानी जाने वाली अस्तित्व अथवा चिद्गुणात्मक (Monadic) व्यक्तिनिष्ठता के प्रकटीकरण के रूप में उद्भव अथवा व्याप्ति की व्याख्या, हमारे मत में, मृत्यु के इसकी दर्शन द्वारा खण्डित नहीं की जानी चाहिये (क्योंकि मार्क्स की कृतियों में अनेक स्थलों पर मृत्यु का दर्शन भी खोजा जा सकता है।) हम इन सबसे हटकर कुछ और करना चाह रहे हैं। इस प्रकार के विकल्प (जीवन और/अथवा मृत्यु) की सम्भावना तलाश करने का प्रयास करने के लिये हम किसी उत्तरजीवित अथवा मृत की वापसी (न जीवन, न मृत्यु) के प्रभावों अथवा प्रार्थनाओं की ओर अपना ध्यान निर्देशित करने का प्रयास कर रहे हैं जिसके आधार पर ही कोई (मृत्यु के विरोध में) जीवित व्यक्तिनिष्ठता की बात कर सकता है : इसकी बात करना लेकिन यह भी समझना कि यह स्वयं बात कर सकती है, अपने जीवन के जीवित वर्तमान से परे अपनी छाप अथवा रिक्त छोड़ सकती है, (स्वयं से) अपने विषय में सवाल पूछ सकती है, संक्षेप में, अपने को, अन्य को, अन्य जीवित व्यक्तियों, अन्य ‘चिद्गुणों’ को सम्बोधित कर सकती है। हमारे पाठन की प्राकृत्यपना ऐसी है कि इन सारे सवालों के लिये प्रेत का कार्य यहाँ दर्पणों से ढकी हुई सर्पाकार भूलभुलैया की छाया में एक महीन किन्तु अपरिहार्य सूत्र बुनता है।

7. *दि एटीन्थ ब्रूमेअर* में ‘लाल प्रेत’ के उल्लेख को मैं खोज पाता उसके पहले ही एतियेन ब्लिवर ने मुझे ‘द रेड स्पेक्टर’ नामक अखबार के बारे में बता दिया था, (48 की क्रान्ति के दौरान, शयद जून के नरसंहारों के पश्चात् अर्थात् मृत सर्वहारा क्रान्तिकारियों के प्रेत) रोम्यू *द रेड स्पेक्टर* में लिखते हैं, “मैं *याक्वेरी* (1385 में फ्रांस में होने वाले किसान विद्रोह को दिया गया नाम। इस विद्रोह को तत्कालीन भूस्वामियों ने बर्बरतापूर्वक दबा दिया था लेकिन इतिहास में यह शब्द सर्वहारा क्रान्तियों, विशेषकर उग्र किसान विद्रोहों के लिये एक स्थायी संज्ञा बन गया। फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाओं में किसी को ‘जैक’ नाम से पुकारने का मतलब होता है उसकी निम्न सामाजिक स्थिति का संकेत करना। इसमें व्यंग्य अथवा उपहास की ध्वनि साफ़ झलकती है। ‘घुरहू-कतवारू’ इसके समानार्थक हो सकते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ 1848 में योरोप में होने वाली क्रान्तियों में बढ-चढ कर भाग लेने वाले गरीब किसान, कारीगरों और मजदूरों से जुड़ा है।) की घोषणा करता हूँ। सर्वहारा तैयार हैं और अपने दिलों में नफरत और जलन भरे हुए सबसे छोटे गाँव में घात लगाकर बैठे हैं।” (ब्रुहात द्वारा उद्धृत, *लेसोशिलियमे फ्राकेस द’ 1848 से 1871 इस्त्वार जनरल दुसोशिलियमे* में (पेरिस 1972-78, खण्ड 1, पृ. 507)। ब्लिवर आगे लिखते हैं, “यदि मैं ठीक से स्मरण कर पा रहा हूँ तो कम्सून के पहले हम विलर्स देलिले-अदम द्वारा लिखित ‘लाल मृत्यु के प्रेत’ को भी ध्यान

में रख सकते हैं भले ही ऐसा लगता हो कि 'लाल मृत्यु' से लाल सिपाहियों की मृत्यु का संकेत न मिलता हो।'

8. "स्टर्नर यह आविष्कार करते हैं कि प्राचीन विश्व के अंत में 'आत्मा' फिर से आंदोलित होने लगी क्योंकि इसके भीतर आत्मायें पैदा हो रही थीं। किन्तु मार्क्स उस 'आश्चर्यजनक क्रीड़ा' का विश्लेषण करने लगते हैं जिसे स्टर्नर ने इस प्रकार वर्णित किया है (*द जर्मन आइडियोलॉजी*, मार्क्स और एंगेल्स, *कलेक्टेड वर्क्स-5*, न्यूयॉर्क इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 1976 पृ. 186-87)। हीगल पहले **181** Gas-geist (गैस-प्रेत अथवा अशरीरी-प्रेतात्मा) सम्बन्ध के प्रति सावधान थे : मृत्यु का कार्य, अपघटन के क्रम में शव में विशेष प्रकृति के दर्शन के प्रेत के दर्शन की ओर संतरण को चिन्हित करते हैं। इस सन्दर्भ में मेरी *ग्लास* (पृ. 51, 91, 235) और *ऑफ स्पिरिट* (पृ. 99) देखें।
9. 'द जर्मन आइडियोलॉजी,' (पृ. 153)। जैसा कि सर्वविदित है, मार्क्स ने स्टर्नर की पुस्तक 'दि इगो एण्ड हिज ऑन' से अनेक लम्बे उद्धरण दिये हैं।
10. स्टर्नर के साथ मार्क्स के विवादपूर्ण सम्बन्ध और इस विवाद के ऐतिहासिक-राजनैतिक निहितार्थों के लिये देखें एनरी अर्वोव, *ओ सर्स लिगिस्तास्लिस्म, मक्स स्तर्नर* (पेरिस, 1954), पृ. 128 और आगे।

सम्पर्क : 27, कोसलेश नगर, सुन्दरपुर, वाराणसी-221005 मो.-09451585423

उन्नीस सौ चौरासी

राजकुमार राकेश

“उसका प्रत्येक अपराध क्षमा कर दिया गया था। उसकी आत्मा हिम की भाँति धवल थी। वह जनता के सामने था। अपने अपराध स्वीकार कर रहा था। हरेक पर आरोप लगा रहा था। उसके बाद उसे ख्याल आया कि वह सफेद पत्थरों के फर्श पर चल रहा है। फर्श चारों ओर कांटोंवाले तारों से घिरा था। उसके पीछे बंदूकधारी सिपाही हैं। जिस गोली के लिए वह तरस रहा था, वह अब उसके मस्तिष्क में पीछे से प्रवेश कर रही थी। उसने पोस्टर पर बनी भयानक शक्ति को देखा। उन काली मूंछों के नीचे कैसी मुस्कुराहट छिपी है, इसे समझने में उसे पूरे चालीस बरस लग गए।”

...जार्ज आर्वेल के उपन्यास '1984' से।

वह अप्रत्याशित घटनाओं का एक साल था, जिसे कागज पर उतरने में तीस बरस का वक्फा लग गया, जबकि तब तक उसे हर कोई भूल चला था और जिन लोगों को इसकी याद थी वे इसे इतिहास के ढेर में दफन कर देने के हिमायती थे। उनके गणित में कुछ ऐसे जख्म होते हैं जिन्हें कुरेदने का कोई अर्थ बाकी नहीं बचा होता। खासकर जो पीढ़ियाँ उसके बाद पैदा हुई थीं और जिन्होंने उसे खुद अपनी आंखों से नहीं देखा या अपने संवेदन में महसूस नहीं किया था, वे उसके होने पर विश्वास तो क्या मानना, उसके असल होने को ही नकारती थीं। बतौर एक समाज, यही हम सबकी इतिहास के प्रति समझ और देन थी।

कनुप्रिया के दिमाग में भी यही सवाल अक्सर उभर-उभर कर आते थे, कि वैसा युद्ध अपने ही लोगों के बीच कैसे हो सकता था। खासकर उन दो लोगों के बीच जो अब उसके माता और पिता थे तथा तमाम आपसी युद्धों की सी स्थिति के बावजूद इस कदर गुंथे थे कि एक दूसरे के बिना रह पाना उनके लिए मुमकिन नहीं था। इन सारे संशयों के बीच उसकी माँ सुरजीत कौर उसे समझाने की कोशिश करती थी, कि युद्ध दो दुश्मनों के बीच ही नहीं

होता, बल्कि परस्पर दुश्मन जैसा दिख सकने वाले दो मित्रों के बीच भी होता है। ऐसे में उसने एक उस घटना से इसकी शुरुआत की थी जो इस युद्ध की व्यापकता का समायोजन करती लगती थी और जिसमें सुरजीत बाहर चलते उस युद्ध के शून्य को महसूस करते हुए भी निजी तौर पर संतुष्टि जैसे किसी भाव में होने का दावा कर सकती थी।

मगर बहुत जल्दी कनुप्रिया को यह महसूस होने लगा था, कि ऐसी हर घटना का मूल्य महज उसके घट आने में नहीं था, बल्कि उस वक्त में था, जिसमें उसने जन्म लिया था। अजीब बात नहीं थी, कि उसे जितनी बार याद किया जाता उससे ज्यादा उसके अलग और नए अर्थ बनते चलते थे। वे एक दूसरे से इतना अलग थे कि कोई कल्पना तक नहीं कर सकता था कि एक ही घटना इतने रूपों में कैसे घट सकती है। यानी ठीक उस वक्त जिससे महज एक घंटा पहले नई दिल्ली में भारत देश की प्रधानमंत्री के शरीर में उनके दो सिख बॉडीगार्डों ने सत्तर गोलियां दाग दी थीं, तथा उनका छलनी हुआ बदन दिल्ली के एक नामी हस्पताल में मृत्यु प्रमाणपत्र पाने के लिए, एक कोण से देखने पर लावारिस-सा पड़ा दिखता था, और किसी भी बंदे-जात की हिम्मत नहीं हो रही थी, कि वह ऐसा कोई प्रमाणपत्र जारी कर सकने का हौसला जुटा पाता। ऐसे में बिल्कुल कहा जा सकता है, कि अक्टूबर माह के उस आखिरी दिन, जब हवा में हौली सी ठंडक आ पसरने को आतुर थी, जालंधर शहर के इस तरफ वाले कोने की इन क्लांत गलियों में, डर, आतंक और मौत के खौफ का वही सन्नाटा पसरा रहने की ही पूरी सम्भावना बन चुकी थी, जो इधर पिछले तीन बरसों से हर आदमी के दिमाग में घर किए पैठा था, बशर्ते उन लमहों में सुरजीत कौर नाम की वह लड़की इस दैनिक अखबार 'क' के दफ्तर के गेट पर आकर हंगामा खड़ा न कर देती। उस गेट पर मौजूद सारे सुरक्षाकर्मी अपने अंदर मौजूद सारी बदतमीजियों के बावजूद, उसे पूरे शाब्दिक सम्मान के साथ, अंदर जाने से इस तर्क पर रोकने की कोशिश कर रहे थे, कि इस अखबार में प्रकाशवीर नाम का कोई व्यक्ति काम नहीं करता। पर लड़की उन पर आरोप लगा रही थी, कि वे जानबूझकर उसे प्रकाशवीर से मिलने देने से रोकना चाहते हैं। उसकी ये हठधर्मी इस कदर भारी पड़ती चल रही थी, जिसके सामने सुरक्षाकर्मियों की हालत पस्त पड़ने जैसी हो रही थी। हालांकि उन सबका मानना होता चल रहा था, और वे आपसी नजरअंदाजी और खुसर-पुसर के बीच यही सोचते चल रहे थे, कि ये लड़की कोई ऐसी सिरफिरी है जिसे किसी मेंटल हस्पताल में इलाज की सख्त जरूरत है। पर असल में ऐसा सोच चुकने के बाद भी किसी के पास ऐसे किसी स्थापत्य को प्रमाणित करने का कोई साधन मौजूद नहीं था। इसलिए भी वे सब शराफत के पुतलों की तरह पेश आने की ही कोशिश कर रहे थे।

इसके आगे क्या हो सकता था, इस पर अनुमान लगाने की जरूरत नहीं है, क्योंकि ठीक इसी वक्त 'क' में काम करने वाला तरलोचन सिंह अपने स्कूटर पर सवार होकर गेट के अंदर आया और इसे एक किनारे पार्क करने के बाद जब दफ्तर के अंदर जाने को था, तभी एक सुरक्षाकर्मी दौड़ता हुआ उसके पास पहुंचा और उससे ये जानने की कोशिश की, कि 'क' में प्रकाशवीर नाम का कोई आदमी काम करता है?

तरलोचन सिंह के अंदर अचानक एक अनाम भय ने जन्म ले लिया। दरअसल पिछले दो-तीन सालों से वह भी, पंजाब के हर व्यक्ति की तरह मृत्यु के बारे में ही ज्यादा सोचने लगा था। किसी भी किस्म की नई घटना की आहट भर सुनाई देती, तो वह यही समझ लेता कि उसे मार डालने को सामने कोई न कोई बंदा ए. के सैंतालीस तानके आ खड़ा हुआ है। सिर्फ पांच महीने पहले 'आपरेशन ब्लूस्टार' में जनरल सिंह भिंडरावाले के मारे जाने के बावजूद

कल्लोगारत का ये सिलसिला थमने का नाम नहीं ले रहा था। बल्कि तरलोचन सिंह को तो लगता था कि उसके बाद जिस कदर ये बढ़ा है, उसके चलते यह तब तक खत्म नहीं होगा जब तक सचमुच में इस धरती पर खालिस्तान देश बन नहीं जाएगा। मानो भिंडरावाले के मारे जाने के बाद इधर असंख्य भिंडरावाले पैदा हो गए हैं। तरलोचन सिंह ने शायद अभी तक प्रधानमंत्री को गोलियां दागे जाने की खबर नहीं सुनी थी, वरना वह कुछ ज्यादा डर जाता। पर अपने सामने मौजूद सुरक्षाकर्मी के मुंह से प्रकाशवीर का नाम सुन लेने के बाद उसकी टांगें अनायास कांपने लगी थीं। हालांकि अब तक प्रकाशवीर अपनी वेशभूषा, बोलीवाणी और चालचलन में प्रकाशवीर नहीं रह गया था, बल्कि पूरी तरह पगड़ी-केश धारी परकाश सिंह हो चुका था फिर भी तरलोचन सिंह को उसकी सुरक्षा की भरपूर फिक्र रहती थी। खासतौर पर इसलिए भी, कि भिंडरावाले से उसकी मुलाकात करवाने में, उसी का अप्रत्यक्ष ही सही, योगदान था, जिसके नतीजे के तौर पर उसने तरलोचन सिंह और 'क' के संपादक की हर मनाही के चलते भी, भिंडरावाले का साक्षात्कार, उसके जीते जी यानी 'आपरेशन ब्लूस्टार' से पहले प्रकाशित कर दिया था और भिंडरावाले के उसके समर्थक आतंकवादियों की एके सैंतालीस के निशाने पर आ गया था। यानी वह आने वाले किसी भी वक्त में मारा जा सकता था। ऐसे में ज्यों ही तरलोचन सिंह ने सुरक्षाकर्मी के मुंह से उसका असली नाम सुना तो वह अचानक डर गया। 'कोई लड़की आई है,' सुरक्षाकर्मी ने कहा। 'कहती है, इधर जो प्रकाशवीर काम करता है मुझे उसे मिलना है। वह कहती है वह उसका प्रेमी है। हमने बताया इस नाम का कोई आदमी इधर नहीं है। तब भी ये नहीं मानती। गेट पर हंगामा खड़ा करके रखा है। एकदम सिरफिरी लग रही है।' इसके आगे उसने जैसे कोई फैसला सुना दिया, 'सिंघ साहेब, ये औरत का मामला न होता तो हम अब तक सबक सिखा चुके होते जी।'

तरलोचन सिंह मुड़कर उस लड़की के पास चला आया। 'आप कहां से आई हैं?' उसने पूछा।

'मेरा नाम सुरजीत कौर है,' उसने बताया। 'हंसराज महिला महाविद्यालय में पढ़ाती हूँ।' इसके बाद उसने जोड़ा, 'अंग्रेजी!'

तरलोचन सिंह उसे अपने साथ एक किनारे ले गया, 'क्या आप सचमुच प्रकाशवीर को जानती हैं?' इस सवाल के तत्काल बाद उसे लगा कि उसने अपने सवाल के लिए शब्दों का सही चयन नहीं किया है। वह मन ही मन सोचने लगा कि उसे दरअसल पूछना चाहिए था: 'आप प्रकाशवीर को कैसे जानती हैं?' पर अब तक उसे इत्मीनान हो गया था कि इस लड़की के इधर होने और प्रकाशवीर के बारे में पूछने में कोई गड़बड़ नहीं है। बल्कि अब उसे प्रकाशवीर पर गुस्सा आने लगा था, कि उसके इतना नजदीक होने के बावजूद उस बंदे ने कभी भूल से भी एक बार को किसी लड़की का जिक्र तक उसके साथ नहीं किया था। पर अब उसने अपने सवाल के शब्दों को ठीक करने की जरूरत नहीं समझी और उसे अपने साथ अंदर चल देने के लिए कहा।

जीना चढ़ते ही पहली मंजिल पर कैंटीन थी। उसने उसे इधर लाकर बिठाया और खुद बाहर निकल गया। तकरीबन पांच-सात मिनट के बाद वह वापस लौटा तो उसके साथ एक दूसरा पगड़ीधारी व्यक्ति था। सुरजीत के पास आकर उसने कहा, 'मैडमजी! ये रहा आपका गुनाहगार।' फिर वह वापस जाने को मुड़ा पर जैसे उसे कुछ दूसरा कह डालने की याद आ गई थी, 'ओए, मेरे वीरे परकाशस्यों! तूने कभी चमत्कारों पर विश्वास माना है?' और किसी जवाब का इंतजार किए बिना चल दिया था। उसके रुखसत हो जाने के बाद सुरजीत ने देखा

उसके सामने जो सिख जवान खड़ा था, उसकी आंखें एकदम प्रकाशवीर की तरह दिख रही थीं। जब उसने सुरजीत का नाम उच्चारित तो उसे यकीन हो गया कि ये प्रकाशवीर ही है। 'तुम कब से सिख हो गए हो?'

प्रकाशवीर ने सुरजीत का हाथ पकड़ा और कैटीन के एक कोने की बैंच पर ले जाकर उसे बिठाया और खुद उसके सामने आ बैठा।

अचानक बाहर एक लंबा सायरन बजा। 'लो कर्फ्यू आयत हो गया!' प्रकाशवीर ने कहा। 'तुम्हें मालूम है, इंदिरा गांधी को किसी ने घंटा भर पहले गोली मार दी है।' फिर वह जैसे असल बात पर आ गया, 'और तुम्हें आज ही इधर मेरी पगड़ी उतार देने को आना था।'

'तुम्हें पता है, अपना मुंह छिपाए तुम्हें पूरे दस महीने हो गए हैं,' सुरजीत ने कहा। 'मगर शर्म तुम्हें नहीं आती। पहले बताओ, शिमला से बिना बताए क्यों भागे थे?'

प्रकाशवीर को किसी सवाल का जवाब देने की जैसे जरूरत रही नहीं, क्योंकि एक बार फिर कर्फ्यू का लंबा सायरन बज रहा था। जब तक इसकी आवाज जरा धीमी पड़ती हुई दूर जा रही थी, तब कैटीन का लड़का सामने आ खड़ा हुआ था। 'दो चाय ले आओ,' प्रकाशवीर ने कहा। और सुरजीत से नजरें चुराता सा बोलने लगा, 'इन गुजिश्ता दस महीनों में, बल्कि इनसे भी काफ़ी पहले से, हालांकि ठीक से याद नहीं कब से, हो सकता है तभी से, जब से मुझे सपने देखने की बीमारी लगी थी, मेरे तई सबसे बड़ा मसला यही रहा है, कि मैंने जो भी सपने देखे उन्हें पाने के लिए आखिर कीमत क्या चुकाई है? आज हमें जिन बेहूदा चीजों को मूल्य मान लेने पर मजबूर किया जाता है, वे असल में मेरे लिए एकदम मूल्यों जैसे नहीं थे।' सुरजीत उसे देखती भर रही। और समझने की कोशिश करने लगी कि ये जो आदमी उसके सामने फिजूल जैसा बड़बड़ाता रहा है, वह असल में किन कारणों की तलाश में है, जिनसे वह ये सही सिद्ध कर सके कि इसे दस माह पहले इस तरह मुंह छिपाए भाग खड़े होने को क्यों मजबूर होना पड़ा था।

कैटीन वाला लड़का उनके सामने दो प्याली चाय परोस कर वापस जाने को था, तब सुरजीत ने उससे इस अंदाज में कहा मानो लकड़ी की इस बैंच पर वह एकदम अकेली बैठी हो, 'भैया, कुछ खाने को दे दो। सुबह से नाश्ता नहीं खाया है।'

प्रकाशवीर एकदम कुढ़-सा गया, 'अजीब बात है, बाहर के हालात को देखकर भी तुम्हारी भूख खत्म नहीं हो रही है?'

सुरजीत ने जवाब नहीं दिया। बल्कि तेजी से चाय पीने लगी। जब तक वह लड़का प्रकाशवीर के द्वारा ऑर्डर किया गया खाने का सामान लेकर वापस आता, वह चाय की प्याली खाली कर चुकी थी। प्रकाशवीर ने तो अभी तक पीना शुरू भी नहीं किया था। सायरन की वह बजती हुई आवाज लगातार महीन होती किसी लकीर की तरह दूर से दूर होती चली जा रही थी। 'इतने मुश्किल वक्त में तुम इतना बेफिक्र होकर कैसे चाय पीने में जुटी रह सकती हो!'

जब लड़का खाने के सामान की प्लेट मेज पर रख रहा था तब सुरजीत ने कहा, 'भैया, तुम्हारी चाय तो एकदम ठंडी थी। अगली प्याली गर्मागर्म और कड़क बनवा के ले आओ।'

'आखिर तुम इस शहर में कहां से, कब, कैसे और क्यों चली आई हो?' प्रकाशवीर ने कहा, 'मेरे अंदर इतने सवाल हैं, कि मैं हर सवाल का जवाब जानकर ही आगे कुछ बात-बतिया सकता हूँ।'

'मुझसे सवाल पूछने का तुम्हें क्या हक है?' सुरजीत ने कहा। 'भगौड़े तुम हो कि मैं?'

प्रकाशवीर लाजवाब-सा होकर उसके चेहरे पर नजरें टिकाए रहा। फिर अपनी तमाम बिसरी संवेदनाओं को जोड़ने की घनी कोशिश के बाद बोला, 'उस डाक्टर का क्या हुआ, जिसके साथ तुम्हारे बप्पा ने तुम्हारा ब्याह तै कर दिया था?'

'फिजूल बात है,' सुरजीत ने अनमना-सा जवाब दिया। और आगे जोड़ा, 'मुझे नहीं मालूम।' प्रकाशवीर को अपनी चिढ़ का अंदाज रहा नहीं था। 'तुम्हें कुछ मालूम भी है कि इस वक्त तुम संसार के किस कोने में हो?' उसने कहा। सुरजीत का मुंह भरा हुआ था, पर जैसे उसने जवाब देने में कोताही करना ठीक नहीं समझा, 'क्यों? मेरी यादाश्त इतनी खराब है? तुम्हारे अखबार के इस दफ्तर की इस कैंटीन के इस कोने में पड़ी इस रूखी बेंच पर बैठी खा और गर्मागर्म चाय पी रही हूँ। इसमें पूछने वाली बात क्या है? तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा?'

'और तुम्हें ये कुछ भी मालूम है कि बाहर क्या हो रहा है?' प्रकाशवीर जैसे अपने अंदर से डरा हुआ था। 'और ये भी कि मुझसे मिलने आने को तुमने कितना खराब वक्त चुना है।'

'बाहर?' वह मुस्करा दी। 'बाहर गोलियां चलना शुरू हो गई हैं। वो देखो, सामने धुंआ उठ रहा है। लगता है शहर में आग भड़क उठी है। तुम्हें नहीं दिखाई दे रहा? अरे गौर से सुनो, कर्ण्यू का वह बजता हुआ सायरन वापस इधर लौटता चला आ रहा है।' उसने प्रकाशवीर की प्याली उठाकर एक चुस्की ली और इसे वापस प्लेट में रख चुकने के बाद कहा, 'पर इस सबमें नया क्या है? मैं तुम्हारे इस शहर में पिछले तीन महीनों से हूँ। ये तो यहां रोज होता है। ऐसी आम-फहम चीजों पर बात करके अपना टाइम क्यों खराब किया जाए। पूरे सूबे की यही हालत है। क्या तुम्हें नहीं मालूम। इतना बड़ा तो पत्रकार बने मुंह छिपाए घूमते हो। आपको जनाब क्या लगता था कि खोजी पत्रकार का तमगा गले में लटकाए घूमने के बाद कोई आपको दुनिया जहान के किसी कोने में खोज पाएगा ही नहीं। तुम्हें मेरी तारीफ करनी चाहिए। सिर्फ़ ये जान लेने की कोशिश ही कर लो कि मैंने तुम्हारे इधर छिपे होने का पता लगाने के लिए कितनी जान खपाई की है। मेरे पास एक ऐसी स्टडी हो गई है कि अगर कभी लिख डालने को बैठी तो मर्द होने और औरत होने के फर्क पर एक अच्छा खासा शोध ग्रंथ बन जाएगा।' उसने कहा और वापस मुस्कराने लगी। 'हालांकि फिलहाल ऐसा करने का मेरा कोई इरादा नहीं है।'

'भैडम सुरजीत कौर जी,' प्रकाशवीर ने एक छोटा-सा वक्फा लेकर, दाएं हाथ से चाय की प्याली उठाई और बाएं से अपना कान उमेठते हुए कहा, 'आप जिन हालात का जिक्र कर रही हैं, वे सामान्य हालात थे। और आज यही कोई घंटा भर पहले दिल्ली में इस मुल्क की प्रधानमंत्री को किन्ही सिरफिरो ने गोली मार दी बताते हैं। ऐसे में बरबस आपका इधर आ जाना बहुत हैरान करे तो आप इसका दोष मेरे खोपड़े पर तो नहीं मढ़ सकतीं न।'

'तुम्हारी ऐसी भक्कों को सच मान लेने की मेरी कोई मजबूरी नहीं है,' सुरजीत ने लापरवाह से अंदाज में कहा और खाने में जुटी रही। तब तक उसे अंदाज नहीं था कि इस प्रकाशवीर को तलाश कर चुकने के बाद के आने वाले तेरह दिन उन दोनों की जिंदगी के सबसे खराब दिन साबित होने वाले हैं। एक तरह से ये ऐसी कैद थी जिसे कैद कहने की मनाही थी। और उसमें पीड़ा का जो आलम था उसे शब्दों में लिखा जाना मुमकिन हालत नहीं थी। ये एक ऐसा हिसाब था कि आखिर तेरह दिनों में कितने शब्द बोले जा सकते थे। जबकि तब तक शायद उन दोनों में से कोई ये सोचने की जरूरत नहीं समझ पा रहा था कि आने वाली सदियां इन तेरह दिनों को इतिहास में कैसे पढ़ेंगी। हां, तात्कालिक तौर पर ये दिन इस मुल्क

के इतिहास के सबसे खराब दिन जरूर कहे जा सकते थे। अपनी सांसें रोके इस भवन की एक तहखाने जैसी जगह में जैसे तैसे पड़े रहना एक भयावह अनुभव था। पर वे सिर्फ दो ही वहां नहीं थे। 'क' में काम करने वाले आसपास ऐसे कितने ही लोग जिंदगी को घिसट रहे थे। उन सब की पीड़ा को कम करके आंकना सही नहीं कहा जा सकता था। वे सब भी मेरी तुम्हारी तरह इन्सान थे। जबकि बाहर निकल पाने की मनाही थी, चारों ओर धुआं, तड़ातड़ चलती गोलियों की आवाजें, बम फटने, बार-बार कर्फ्यू के सायरन बजने और मौत के आतंक की इतिहा में लिपटा शहर था, जो असल में अब तक शहर होने की बजाय मुर्दाघाट ज्यादा प्रतीत हो रहा था।

इस मुर्दाघाट की बगल में कहीं, एकदम आसपास, एक ऐसा आतंककारी तथ्य हर हवा में मौजूद था, जिसे प्रकाशवीर दिन में 'क' के काम पर रहते बूझ रहा था, पर इसे सुरजीत के साथ सांझा करने की उसकी हिम्मत नहीं हुई थी। पंजाब के अपने अपवाद के इलावा पहले तीन दिनों तक इस देश के शहर दर शहर पगड़ीधारी सिखों का कल्लेआम होता रहा था। सबसे भयानक तांडव दिल्ली में मचा था। पगड़ी और दाढ़ी दिखते ही बहशी भीड़ उन पर टूट पड़ती और हर जिंदा बदन जलते प्रेत में बदल जाता। कितनी भयानक बिडंबना थी, कि जिस पगड़ी और दाढ़ी ने इधर जालंधर और पूरे पंजाब के इस इलाके में प्रकाशवीर की जिंदगी बचा रखी थी, वे ही संकेतचिन्ह बाकी के भारत में अमानवीय मौत की गारंटी जैसा बन गये थे। जिन आदमियों के बदन पर ये मौजूद दिखते, उन्हें जिंदा जलाया जा रहा था। उनके गले में जलते टायर डाले जा रहे थे। औरतों और बच्चों के सामने उनके अभिभावक जल रहे थे और वे चीखते हुए अंधेरे कोनों की तलाश कर रहे थे। एक पूरी कौम मौत से इस कदर रूबरू थी जो इस देश के विभाजन के बाद उनके साथ पहली बार को हो रहा था। उस मुल्क में, जिसे वे अपना मानते थे और जिसमें वे आजादी की सांसें लेने अपना सब कुछ किसी दूसरे मुल्क में छोड़कर खाली हाथ इधर चले आए थे, उन्हें उनके हमवतनी आदमी जिंदा जला रहे थे।

सुरजीत के बप्पा सरदार अमरिंदर सिंह उन्हीं में से एक थे। वे जब अपने पिता और माँ के साथ नए बने उस पाकिस्तान मुल्क में अपनी पूरी सम्पत्ति, घर, जमीन और बहुत सारी यादें छोड़कर अपनी आजादी की तलाश में इधर आए थे, तब वे महज ग्यारह बरस के थे। मंडी जैसी दूरदराज जगह में आकर उन्होंने अपने पिता के साथ छोले-भटूरे और टिक्की-चाट की रेहड़ी लगाकर अपनी जिंदगी को आधार दिया था। सुरजीत भले ही इस वक्त उसके साथ 'क' के इस कोने में खुद को महफूज महसूस करती पड़ी थी, पर प्रकाशवीर मन ही मन उसके बप्पा और छोटे भाई की सुरक्षा को लकर बेहद फिक्रमंद था। मंडी तो काफ़ी हद तक महफूज मानी जाने वाली जगह थी और अमरिंदर सिंह वहां खासे बड़े कारोबारी थे। वहां के समाज में उनकी अपनी सम्मानजनक जगह थी। ऐसे में उनको सुरक्षित मानकर चला जा सकता था। पर सुरजीत का छोटा भाई कुलविंदर पिछले बरस भोपाल के एक कॉलेज में इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने को गया था। नहीं कहा जा सकता था कि वह किन हालात में वहां होगा। ऐसे में फिक्रमंद होने के अनगिनत कारणों के बीच प्रकाशवीर ने कोई जिक्र तक सुरजीत के साथ नहीं छेड़ा था।

तेरह दिन के बाद जब कर्फ्यू खुला और सुरजीत प्रकाशवीर के साथ अपने कमरे में वापस लौटी तब उसने उस नरसंहार के बारे में सुना था। ऐसे में स्वभाविक रूप से उसे मंडी में अपने बप्पा और भोपाल में छोटे भाई की सुरक्षा ने बेचैन कर दिया था। टेलीफोन की लाइनें अस्त-व्यस्त थीं। जब जरा ठीक हुई भी, तो भी पूरा-पूरा दिन बुक रहने के बाद ट्रंककाल मिलने

की सम्भावना नहीं बनती थीं। ऐसे में प्रकाशवीर के साथ उसका होना ऐसा कोई आश्वासन जरूर बन गया था, जो उसे उसके बप्पा और छोटे भाई की सकुशलताओं के प्रति मिलता प्रतीत होता था। पर असल जो अकुलाहट अंदर मौजूद थी, उसे वह उसके साथ भी ठीक से साझा नहीं कर पा रही थी। पूरे एक हफ्ते के बाद 'क' के दफ्तर से मंडी का ट्रंककॉल जा जुड़ा था। प्रकाशवीर ने कांपती जुबान से सरदार अमरिंदर सिंह की कुशल क्षेम पूछी थी। उन्होंने बताया था कि उस शहर का पूरा सिख समुदाय इंदिरा गांधी की हत्या की संवेदना के लिए निकले जुलूस में शामिल था, और कोई ऐसी घटना इधर नहीं घटी है जिस पर आने वाली पीढ़ियों को अफसोस करना पड़े। उन्होंने बताया कि कुलविंदर भी भोपाल में सलामत है। हालांकि उसके हॉस्टल के कुछ लड़कों ने उसके सिर के बाल और दाढ़ी काटने की कोशिश जरूर की थी, मगर साथ के दूसरे लड़कों ने शरारत करने वाले तत्त्वों पर काबू पा लिया था। इसके बाद प्रकाशवीर ने सुरजीत के सकुशल होने की खबर दी थी। दोनों तरफ राहत की सांसें थीं। और इनके पार कुछ जिज्ञासाएं भी। जिनके लिए एक कहानी में स्पेस खराब करने की जरूरत नहीं है। कुछ दिन बाद सरदार अमरिंदर सिंह जालंधर चले आए थे।

आज पूरे तीस साल बाद यह प्रकाशवीर वही नहीं है जो वह तब रहा होगा। अब वह दो बेटियों का पिता है और सुरजीत उन दोनों की माँ है। उनतीस साल की कामायनी कम्प्यूटर इंजीनियरिंग की पढ़ाई के बाद कनाडा चली गई है, और उससे छोटी सताईस साल की यह कनुप्रिया अपने ही इस शहर जालंधर में अपनी मां के उसी कॉलेज के उसी अंग्रेजी विभाग में पढ़ाने लगी है।

तीस बरस के इस अंतराल में उसने इन यादों को फाइकर इतिहास के कूड़ेदान में क्यों नहीं फेंक दिया होगा। हो सकता है, ये काफ़ी हद तक उसकी उस प्रकृति से खुद को जोड़ लेती हों, जो बहुत सी फिजूल लगने वाली चीजों को यूँ ही पड़े रहने देने में सुरक्षित महसूस करते रहने में विश्वास मानते हैं।

उसी साल उसने जिंदगी में बाकी बहुतेरा दूसरा कुछ करने की शुरुआतों के बीच ये लिखना-विखना भी सीखने की कोशिश की थी। एक प्रकार से वह सुरजीत से उसके खुद चुने गए बिछोह के कारण भी था। उस समय में, वह खुद को इस कदर अकेला पाता था कि अगर उसने यह काम सीखने की कोशिश न की होती तो उसके दिमाग में जरूर ही विस्फोट हो गया होता।

अब तीस साल बाद इसकी वापसी का आगाज गर्मियों की एक चिपचिपी और अजीब बेचैनी से भरी सुबह से हुआ था। सुरजीत किचन में चाय बना रही थी और प्रकाशवीर इधर बैठा अखबार के पन्ने पलटता उसके आने का इंतजार कर रहा था। उसे ठीक से कुछ समझ नहीं आ रहा था कि आज सुरजीत सुबह की चाय बनाने में इतना देर क्यों लगा रही होगी।

अचानक अंदर के कमरे का द्वार खुला और कनुप्रिया हवा के से तेज झोंके-सी चली आई थी। किसी पूर्व भूमिका या अखबार में उसकी तन्मयता की परवाह किए बगैर उसने सामने पड़ते ही कहा, 'पापा, कामायनी का फोन था। कह रही थी, मैं भी कनाडा आ जाऊँ।'

'ठीक है, जो अच्छा लगे करो बेटा!' उसने सरसरी तौर पर कहा था और अखबार को एक तरफ सरकाकर और आँखों पर से चश्मा उतारकर उसे नजर भरकर देखा। उसके कंधे पर बैग लटका हुआ था और बाएं हाथ में एप्पल का आई-फोन था। उसके दाहिने हाथ की तर्जनी स्क्रीन पर नाच रही थीं। तभी उधर से सुरजीत हाथों में ट्रे उठाए चली आई थी। इधर कनुप्रिया कह रही थी, 'पापा! मैं कहीं नहीं जाने वाली। इधर मैंने एक काम अपने हाथ में

लिया है। उसमें मुझे आप दोनों की मदद की जरूरत है। 1984 में पंजाब से वितकरे के इतिहास पर पोस्ट-डॉक्टरल रिसर्च करना है।’

इन शब्दों को सुनकर वह चौंक पड़ा था। अचानक कुछ कह पाना नहीं सूझा। बस, उसके चेहरे को देखता भर रहा। और जब अपने भीतर की संवेदना को वापस पाया तो पहला विचार ये आया कि कैसे कुछ शब्द अचानक किसी गुजरे वक्त को जिंदा कर देते हैं। इस बीच सुरजीत ने कहा था, ‘कनु! चौबीसों खाने ये इंटरनेट, चैट, ट्विटर, व्हाटसैप, फेसबुक..कम से कम कहीं आती जाती बार तो इसे बंद रखा कर। सामने नाश्ता रखा है, खा ले।’

कनुप्रिया मेज के पास आकर बैठते हुए बोली, ‘तुम दोनों की लव स्टोरी भी इस रिसर्च में काम जरूर आएगी। आई नो।’ वह खिलखिलाकर हंसने लगी।

प्रकाशवीर और सुरजीत की नजर कुछ पलों के लिए एक जरूर हुई पर उसने इसे उधर से हटाकर चाय की प्याली उठाई और घूंट भरते हुए बोला, ‘कनु, इतिहास हो चुके वक्त के इतने सच होते हैं, जिनमें ये तय करना ही मुश्किल पड़ जाए कि कौन सही और कौन गलत है। बल्कि एक दूसरे के विरोधी लगने वाले वे सारे सच किसी आने वाले वक्त में सब के सब सही लगने लगते हैं।’

कनुप्रिया ने आई-फोन मेज पर रख दिया था पर उससे खेलना बंद नहीं किया था। हां, एक हाथ से टोस्ट उठाकर कुतरने जरूर लगी थी। अनमने ढंग से दो बाइट लेने के बाद उसने इसे प्लेट में वापस रखते हुए कहा, ‘कॉलेज के स्टुडेंट सेंटर में दस रुपए का बर्गर खा लूंगी। कौन सुबह सुबह तुम्हारे इस टोस्ट को खाए भई। जबड़ा दुख गया।’ उसने बिना सिर उठाए कहा। ‘पापा, आई वांट टू क्रिएट हिस्ट्री। बल्कि इस टॉपिक में हिस्ट्री से ज्यादा तो एडवेंचर है। एन यू नो आई लव एडवेंचर।’ अचानक सिर उठाकर उसने हमारी तरफ देखकर कहा, ‘बाई दॅ वे तुम दोनों की लव स्टोरी के कितने ड्राफ्ट हैं जो आप मुझे हिस्ट्री के कई कई सच समझाना चाहते हो।’ वह खिलखिला पड़ी थी।

प्रकाशवीर ने चश्मा वापस आँखों पर चढ़ा लिया। सुरजीत पास बैठी दूसरा अखबार पढ़ने लगी थी। प्रकाशवीर को महसूस हुआ था कि जिन चीजों को हम सब मिलकर इतिहास के कूड़ेदान में फेंक चुकने का भ्रम पाल लिए होते हैं, या जिन तमाम घटनाओं और उनके निहित प्रभावों को अपनी छाती के अंदर दफन किए, न जाने किस अंत के इंतजार में अपनी जिंदगी के दिन गुजार रहे होते हैं, उन्हीं सबकी वापस कोई ऐसी अविश्वसनीय शुरुआत हो जाती है, जिसकी हमने कभी कल्पना भी न की हो।

कामायनी जिस साल पैदा हुई थी, उससे पहले वाला बरस, आज पूरे तीस साल बाद भी उन दोनों के अंदर उतना ही जीवित है जितना वो अपने होने के वक्तों में रहा होगा। कभी तो कनुप्रिया ये सुनकर इस कदर हैरान रह जाती है, कि आखिर उसमें ऐसा क्या था कि वे दोनों उसे भुला ही नहीं पाते। ऐसे में उसमें उसकी रुचि बढ़ जाती थी। एक रोज प्रकाशवीर अपने हाथों से खाना परोस रहा था, तब सुरजीत ने जाने किस याद या हुडक में कनुप्रिया से कहा कि कामायनी के जन्म से एक साल पहले लाँच हुए मैगी नूडल्ज ने तुम्हारे पापा और खुद मेरी जिंदगी बदल डाली थी। वह फटाफट भोजन की शुरुआत थी। इसके बाद का जीवन खासतौर पर उभरते हुए मध्यवर्गीय शहरी परिवारों में वो नहीं रह गया था, जो इससे पहले था। ‘मसलन,’ सुरजीत उसे बता रही थी, ‘जब मेरा मन किचन में जाकर खाना पकाने का नहीं होता था, तो मैं अपनी तबीयत ठीक न होने का बहाना बनाकर चुपचाप सो जाया करती थी और तब तुम्हारे ये पापा पास की मार्केट से मैगी नूडल्ज का पैकट लाते, दो मिनट में उसे

उबालते और अगले पांच सात मिनट में खाकर फारिग हो लेते थे।’

कनुप्रिया को भी ये याद था। सुरजीत सो रही होती, तब प्रकाशवीर तीन पेक्ट लाता और दो मिनट में उबालकर एक एक प्लेट कामायनी और कनु के सामने धर देता और तीसरी अपने हाथ में लेकर सुरजीत को खिजाने की गरज से दिखाने का मंजा हुआ सा अभ्यास करते हुए मजे ले लेकर खाता चलता था। ऐसे में एक रोज सुरजीत अचानक उठ बैठीं और उसके हाथ से प्लेट छीनकर खाने लगीं। कुछ देर तक तो वह उसे हैरान परेशान-सा देखता रहा फिर बोला, ‘सुरजीत, क्या अब अचानक तुम्हारी तबीयत ठीक हो गई है?’ उसने इत्मीनान से जवाब दिया, ‘ये खराब कब थी।’ इसके आगे वह रूआंसी-सी हो आई, ‘और तुम्हारी शैतानी देखो, ऐसे में हमेशा मुझे भूखा मारते थे।’

अब कनुप्रिया अक्सर पूछने लगती है, कि उस बरस जब मध्यवर्गीय घरों में, खास तौर पर उस वक्त के युवा तबके में, खाना पकाने की जगह फटाफट मैगी नूडल्स ने ले ली थी, आखिर उसमें ऐसा क्या था जो तुम दोनों ने इकट्ठे जीने का मन बना लिया होगा।

पहाड़ के कूबड़ के तीन तरफ ढलानों पर अपनी जड़ें जमाए कैल और देवदार के पेड़ एक दूसरे की ऊँचाई से होड़ लेते और अपनी किस्म का एक घना वितान रचते आवारा विचरते बादलों को चीर रहे थे। पूर्वी ढलान पर लड़कियों के हॉस्टलों के तीन भवन थे। पहली बार पहाड़ पर आने वाले किसी भी आदमी को ये हैरानी हो सकती थी कि आखिर ये बनाए कैसे गए होंगे। और इससे भी ज्यादा कि ये इन ढलानों पर ये खड़े कैसे हैं। लुढ़क क्यों नहीं जाते। और ये भी कि इन तक पहुंच पाने को ये जो सड़कें और पगडंडियां बनी हैं, इन्हें किस तरतीब से बनाया गया होगा। प्रकाशवीर जब भी इधर सुरजीत से मिलने को आता तो उसे यही लगता था कि ऐसे हर सवाल से बेखबर, लड़कियों के झुंड चहचहाते और आपस में हँसते, बतियाते, लड़ते, झगड़ते हुए युनिवर्सिटी की तरफ आते और जाते मिलते रहे थे।

वह सुरजीत वाले हॉस्टल के मुख्य द्वार के अंदर आकर रिसेप्शन में पड़ी बेंच पर बैठ गया था। तभी डाकिया आ गया। लड़कियां किसी सप्तम स्वर को सूँघकर, डारों की डार उड़ी चली आई थीं और उस निहत्थे जीव को ऐसे घेर लिया मानो वह कोई ऐसा पैगाम लाया आया हो जो इनमें से हर किसी को पहली बार मिलने वाला हो। किसी की चिट्ठी-पतरी थी, तो किसी का मनीऑर्डर। सुरजीत अभी सामने आई नहीं थी, मगर उसके घर मण्डी से जो डिब्बा डाकिया लाया था, उसकी सनद देने से पहले ही लड़कियों के उस डार ने उसे तोड़फोड़ कर छीन झपट लिया था। और इसके अंदर के सामान को चबर-चबर चबाती व एक दूसरे को ‘मरभूखियां’ करार देते हुए अपने कमरों की तरफ लौट ली थीं। जब सुरजीत आई तब वहां से भीड़ काफ़ी कुछ छंट गई थी। डाकिए ने कहा, ‘सुरजो बेबी, पार्सल पाने की सनद के दसखत कर दो।’

सुरजीत ने उसकी रसीद पर हस्ताक्षर टांक दिए और प्रकाशवीर के पास आकर बोली, ‘चलो।’

वे दोनों उपर की तरफ चढ़ती सड़क पर आकर अगल-बगल चलने लगे थे। अभी सड़क की पहली कैंची ही पार हुई थी जब सुरजीत ने कहा, ‘कल बप्पा आए थे। आज ही लौटे हैं।’

प्रकाशवीर ने एक बार को उसके चेहरे पर नजर डालकर उसकी इस खबर का जायजा लेने की कोशिश की और वापस गर्दन घुमाकर एक ओढ़ी हुई चुप्पी में चलने लगा। मानो वह जताना चाह रहा हो कि इसमें ऐसा नया क्या है। पर सुरजीत को तो आज जैसे खबरें

सुनाने का दौरा आया हुआ था। उसने बताया कि बप्पा उसका ब्याह कर डालने की खबर लेकर आए थे।

प्रकाशवीर के कदम रुक गए। उसने एक नजर उसके चेहरे पर गड़ाई पर ये देखकर हैरान रह गया कि वह खिलखिला रही थी। जब उसकी हँसी थमी तब उसने कहा था, 'मण्डी का ही कोई डाक्टर है।' और इससे आगे ये बताया कि दादी ने हिदायत दी है कि मेरा ब्याह तो किसी केशधारी सिख से ही हो सकता है। 'न सही अमृतधारी, पर केशधारी तो उसे होना ही होगा।' ये वाक्य सुरजीत ने अपनी तरफ से जोड़ा लगता था या बप्पा या दादी की तरफ आया था, इस पर उसने कुछ जानने की कोशिश नहीं की थी। बल्कि कुछ ज्यादा तेज कदमों से चलने लगा।

सड़क की तीसरी कैंची चढ़ आने तक प्रकाशवीर की सांस फूलने लगी थी। उसके मन में एक विचार ये उठ रहा था, कि क्या अब उसे आसपास के इस घने जंगल के बीचोंबीच जाकर कोई विरह भरा फिल्मी गीत गाना चाहिए जो उन दिनों काफ़ी प्रचलन में रहा करते थे। शिमला में पत्रकारिता की इस नौकरी में आकर उससे भले ही फिल्में देखना तकरीबन मुझसे छूट गया हो, पर मण्डी के कॉलेज में पढ़ते उस वक्त में, सुरजीत के बप्पा सरदार अमरिंदर सिंह की दुकान में पार्ट-टाइम नौकरी और उनकी कोठी के एक छिपे से किनारे में बतौर किराएदार रहते हुए इतनी फिल्में देखी थीं, कि अभी तक उनमें नायक-नायिकाओं के बिछुड़ने के तमाम विरह गीत उसे याद थे, जिन्हें सुरजीत की इन खबरों को पा चुकने के बाद अपने उदास एकांत और आसपास पसरे इस जंगल में बखूबी गाया जा सकता था।

पहाड़ के कूबड़ पर बनी लाइब्रेरी की ऊँचाई तक पहुंचते हुए उसकी सांस इस कदर फूल गई थी कि अब वह सुरजीत के साथ आगे चलने से इन्कार करने को तैयार था। और मन वापस लौट जाने का हो रहा था। उसने यही किया भी। बल्कि वापस चल देने से पहले उसने ये तक नहीं पूछा कि तुमने अपनी पीएच.डी. की थीसिस सबमिट कर दी है या नहीं। पता नहीं अचानक क्यों लगा था कि अब उसे ऐसे हर सवाल से बचना चाहिए। वह अचानक इस नतीजे पर जा पहुंचा था कि अब ये शहर उसके रहने काबिल नहीं रहा है। ऐसे में उसे अब इसे छोड़कर किसी दूसरी जगह में चल देना चाहिए।

सुरजीत के साथ चलते हुए ही, कहीं दूर चल देने को उसे अपने अंदर से जिन दो जगहों के नाम सुनाई दिए उनमें पहला मण्डी और दूसरा अपने गांव का था। पर ये दोनों ही इतना पीछे छूट चुके थे कि वहां लौट पाने की सोचना ही फिजूल था। गांव में अब अपना कोई नहीं था। बापू कुछ महीने पहले इंतकाल हो गए थे। और उन्होंने उसके लिए वहां जो विरासत छोड़ी थी, वह कुल मिलाकर फूस की छत वाला एक कमरे का झोंपड़ा, उसके आंगन में दो बिस्वे का एक ऊसर-सी ढलान और अपनी मिस्त्रीगिरी के औजार यथा लोहे का एक घण, तीन जब्बलें, दो हथौड़े और पत्थर तोड़ने की दसेक टंकियां थीं। इन औजारों के बल पर बापू ने उसे अब तक जो जिंदगी दी थी, उसमें इस सारे सामान का कोई रोल नहीं होने वाला था। उसने कलम हाथ थमा दी थी जिसे छोड़कर जाना किसी भी तरीके से सम्भव नहीं थी।

मण्डी के कॉलेज की पढ़ाई के बाद वह शिमला आकर अपने एक मित्र सौरव भारद्वाज की मदद से 'क' नामक अखबार में पत्रकार हो गया था। सौरव भारद्वाज ने उसे अपने ब्यूरो-प्रमुख गणपूराम परदेसी से मिलवाया था और ऐसी बात बन गई थी, जिस पर वह खुद भी मुश्किल से विश्वास मान सका था। यद्यपि उस जमाने में पत्रकार होने में ऐसा कोई गलैमर नहीं था जो उसे नायकत्व जैसी कुछ छवि देता पर एक संतुष्टि का एक भाव जरूर था। उसके लिए

ये कोई छोटी बात नहीं थी, कि जिस युवक ने माँ का मुँह तक न देखा हो और जिसका बाप अपनी पूरी जिंदगी में पत्थर तोड़कर अपना और अपने इस बेटे को जिंदा रखे रहने की कवायदों में जुटा रहा हो, वही शिमले जैसी जगह में आकर एक अखबार का रिपोर्टर बन गया था। ऐसे में वापस मण्डी लौटने का तो खैर अब सवाल ही क्या होता। और फिर सुरजीत से दूर जाने को मण्डी बेहद खराब जगह हो सकती थी। वह डॉक्टर मण्डी का ही था जिसके साथ सुरजीत को अपनी जिंदगी सैटिल करनी थी।

‘सुरजीत,’ उसने कहा। ‘मुझे लौटना होगा’ और जब तक सुरजीत कुछ रिस्पांस देती, वह सचमुच लौट चला था। कुछ दूर स्थित बस-स्टॉप के पास आकर उसने पीछे मुड़कर देखा था। समरहिल की पहाड़ी ऊंट के कूबड़ की तरह खड़ी थी। इस पर बने युनिवर्सिटी की लाइब्रेरी के भवन की नुकीली नालीदार ढलवां छत का सबसे उपर वाला त्रिकोणीय आकार आसमान के नीचे पसरे बादलों के आवारा विचरते टुकड़ों को चीरता हुआ आसमान के किसी खास बिंदु को छूता हुआ-सा लगा था। जब वह बस में बैठा तब ये अचानक उन बादलों की ओट में छुपमछुपाई खेलता हुआ गायब हो गया था। पर जब बस चलने लगी तब उतना ही अचानक प्रकट होकर आसमान में गहरे तक कील की तरह जा गड़ा दिखने लगा था। सुरजीत को वह इसी लाइब्रेरी के उस भवन के पास छोड़कर चला आया था।

सांझ ढल आने की बेला थी। पश्चिम में सूरज पीले रंग के गोल फुटबाल का-सा आकार लिए छिप जाने को एकदम तैयार था। बादलों के कुछेक टुकड़ों के पार लाल होता क्षितिज उसके बहुत जल्दी खो जाने की गवाही देता लग रहा था। पर अक्सर मजेदार लगने वाला यही दृश्य आज उसे बहुत उदास कर रहा था। ऐसा कुछ कि जैसे वह इसे आखिरी बार देख रहा हो! हालांकि उसका ये भी मानना था, कि जिंदगी में आखिरी जैसा कुछ नहीं होता। फिर भी पता नहीं क्यों आज अपनी ही इस मान्यता को न मानने की जिद उसके भीतर उगी चली आ रही थी।

जब झटका खाकर बस बालूगंज के पास आकर रुकी तब उसे उतना ही कुछ झटके से, अपने ब्यूरोचीफ गणूराम परदेसी के उस प्रस्ताव की याद आई जो कुछ दिनों से वह उसे देता रहा था। अपने इसी अखबार के मुख्यालय जालंधर में जाकर काम करने का प्रस्ताव। परदेसी जी अपने अंदर की हर बात कह डालने से पहले एक किस्म की लम्बी भूमिका तैयार करने के आदी थे। बहुधा तो ये सब इतना उबाऊ हो जाता था, कि मन उनके सामने से उठकर चल देने का होता। ऐसे में प्रकाशवीर ने जालंधर जाकर काम करने की उनकी बात को गौर से सुना जरूर था, पर उस पर ज्यादा गम्भीरता से सोचा या विचारा नहीं था। एक तो बात यही थी कि उसे शिमला छोड़कर जाने की जरूरत क्या थी। गणूराम परदेसी इस तथ्य से वाकिफ थोड़े ही थे कि सुरजीत का होना उसके इधर होने का बड़ा कारण बनाता था।

पर परदेसी जी इस प्रस्ताव को इतना बार तो दोहरा ही दिया था जो उसके जहन आ जमता। ‘नये संपादकजी का कहना है,’ गणूराम परदेसी ने अभी परसों ही उसे विस्तार से समझाने की भरसक कोशिश की थी। ‘भाई प्रकाशवीर, आपसे छिपा थोड़े न है कि पिछले दो बरसों में खालिस्तानी आतंकवादियों ने हमारे दो संपादकों को मार दिया है। वे अपने इस उद्देश्य में कामयाब होते चल रहे हैं कि हमारा अखबार बंद हो जाए। अगर पत्रकारों का ऐसा टोटा बनता चला तो समझ लो ये बंद ही बंद है। पर नये संपादकजी का कहना है कि हम इस चुनौती से पार पाना चाहते हैं।’ प्रकाशवीर को लगता मानो ये सब परदेसीजी नहीं, बल्कि जालंधर से खुद संपादकजी बोल रहे हों। ‘और संपादकजी का कहना है कि जिस कदर इधर सूबे में

आतंकवादी गतिविधियाँ उठान पर हैं, रोजबरोज जो ये खूनी घटनाएं हो रही हैं, उन सबके चलते अखबार में काम करने वाले पत्रकार क्या बल्कि दूसरे तमाम लोग, शहर ही नहीं सूबा छोड़कर भागे चले जा रहे हैं। आतंकवादी हर रोज ऐसे फरमान जारी करते हैं जो अगर हम न माने तो समझो कल की सुबह देखना नसीब न हो। इन दिनों का नया फरमान पता क्या आया है? कि उन कातिलों को सारे अखबार अपने पन्नों पर आतंकवादी या उग्रवादी लिखने की बजाए खाड़कू लिखें, वर्ना वे हमारे सिर काटकर ले जाएंगे। ऐसे में पत्रकारों का जो टोटा होता चल रहा है, वो अखबार के निकलते चलने पर सवाल लगा रहा है। हमारे हिंदी संस्करण का दिवाला तो पिट ही गया है। उर्दू और पंजाबी वाले संस्करण तो शायद किसी तरीके से निकलते रहेंगे पर जालंधर जैसे पंजाबी के उस गढ़ में हिंदी के लोकल पत्रकार नाममात्र को भी नहीं बचे हैं। अब बाहर से इधर आने में हर कोई डर रहा है। आतंक का साया इस कदर गहरा गया है कि लोगों के लिए रोजगार से ज्यादा अपनी जिंदगी की फिक्र सताती है। मैंने बोला न लोगों का वश चले तो पत्रकार क्या उधर के सारे के सारे वाशिंदे अपना घरबार और कारोबार छोड़ के कहीं भाग खड़े हों। ऐसे में अगर इस अखबार को चलाना है तो कुछ साहसी पत्रकार उधर जाने चाहिए।'

प्रकाशवीर की निरपेक्ष जैसी मुद्रा की परवाह न करते हुए गणूराम परदेसी ने अपनी इतनी लंबी भूमिका के बाद कहा था, 'प्रकाशवीर जी! आपसे ज्यादा दिलदार आदमी आज तक मैंने तो दूसरा कोई देखा नहीं है। क्या आप जालंधर जाना चाहोगे?'

उसने अभी तक परदेसीजी की किसी बात का जवाब दिया नहीं था। उसे भी पंजाब में मची मार-काट और खून-खराबे के उन हालात से डर लगता था। और ये कोई बहुत दूर की बात नहीं थी। महज सौ मील पर आदमी के खून से सना ये पंजाब था। उसमें जाकर कौन फिजूल अपने आप को मौत के मुंह में धकेल देता। ऐसे में एक महीने के अंतराल में परदेसीजी ने जब चौथी बार यही सवाल उससे पूछा तो उसका जवाब था, 'परदेसी जी, अगर आप भी साथ चल सको तो मुझे चल देने में कोई आपत्ति नहीं है।' उसके इन शब्दों को सुनकर गणूराम परदेसी मानो सकते में आ गए थे। बोले, 'ये आप कैसी बात करते हैं। मैं बाल बच्चेदार आदमी हूँ। जब तक ये लोग अपने पैरों पर न खड़े हो लें मैं मरने के बारे में सोच नहीं सकता,' जैसे अपने कांपते बदन को सम्भालते हुए उन्होंने कहा था। 'आप भी मत जाइए। मैंने तो सिर्फ इसलिए तजबीज रखी थी कि आप ठहरे छड़े-मलंग। पर सवाल आपका गलत थोड़े न है। आप भी इस छोटी-सी उमर में भला क्यों कुत्तों की मौत मरना चाहोगे।' चुप होने से पहले उन्होंने जरा-सा मुस्कुराने की कोशिश की थी।

पंजाब से आने वाली खबरें अंदर तक कंपकंपा देती थीं। ऐसे में जो लोग खून के उस तालाब में जिंदगी बसर करने को मजबूर थे उनके दिल की हालत क्या रही होगी, इसका बहुत सतही अंदाज ही लगाया जा सकता था। पिछले दो-ढाई बरसों में ज्यादा नहीं तो पांच-सात हजार लोगों की सरेआम हत्याएं हो चुकी थीं। आतंकवादी मजे से आते और जिसको मारना चाहते मार कर सुरक्षित वापस लौट लेते। कोई उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता था। और अपने नागरिकों की जिस सुरक्षा के लिए राज्य की स्थापना की गई होती है, वह सिर्फ लड़खड़ा नहीं रहा था बल्कि कुछ इस कदर असफल हो चुका था, कि उसके अंदर रहने वाला नास्तिक से भी ज्यादा नास्तिक आदमी अपने जीवित रह सकने के लिए, अब भगवान से मदद की गुहार लगाने को मजबूर थे। अपने इस अखबार के उन दो संपादकों को सरेआम सड़कों पर पूर्व घोषित तौर पर इसलिए कत्ल किया गया था, क्योंकि वे आतंकवादी गतिविधियों के

असल उद्देश्य यानी अलग देश खालिस्तान बनाए जाने की मुहिम का पुरजोर विरोध कर रहे थे। और जब वे दोनों पिता-पुत्र, एक अंतराल के बीच बारी-बारी से मारे जा चुके, तब उधर से बयान जारी हुए कि बाप-बेटे की ये टब्बरमारी हमारी कौम की अटकी हुई किस्तें थीं, जो वक्त रहते अदा कर दी गई। आगे आने वाले भी सावधान रहें। हमारे खिलाफ जो भी कोई बोलेगा-लिखेगा उसका यही होना है।

हत्याओं के इस सिलसिले का औपचारिक बीज आज से तकरीबन पांच साल पहले बैसाखी वाले रोज पड़ा था। आंतरिक आपातकाल खत्म होने के बाद केंद्र में जनता पार्टी के सत्ता में आने के तकरीबन एक बरस बाद सिखों और निरंकारी समुदाय के कुछ सशस्त्र लोग आपस में भिड़ पड़े थे। इस टकराव में छः सिख हलाक हुए थे। सिख समुदाय निरंकारियों के प्रमुख पर आरोप लगाता था कि वे सिखों के पवित्र ग्रंथ का अपमान करते हैं। सिख समुदाय इस कदर धार्मिक भावनाओं से भरी एक कौम है जिनके लिए उनका धर्म और राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू 'पेरी' और 'मेरी' हैं। बल्कि उनका प्रतिनिधित्व करने वाली राजनैतिक पार्टी अकाली दल के लिए धर्म उनकी राजनीति से भी ऊपर है। इस सिख कौम के लिए अपने धार्मिक मुख्यालय स्वर्णमंदिर और अकालतख्त का अपमान सहन करने से ज्यादा मर जाना बेहतर लगता है। अगर अकालतख्त किसी व्यक्ति द्वारा अपने धर्म के प्रति किसी छोटी से छोटी कोताही के लिए अगर 'तनखाहिया' का हुकमनामा जारी कर दे तो पूरी कौम उस व्यक्ति से रोटी और बेटी का नाता तोड़ने में पल भर के लिए भी गुरेज नहीं करती। ऐसे में हुक्का पानी बंद होना तो मामूली-सी बात है। निरंकारी समुदाय के लोग भी भले ही खुद को सिख मनवाने का दावा करते हों पर उन्हें सिख धर्म के उसूलों को तोड़ने के आरोपों के चलते सिख कौम की मुख्यधारा सिख नहीं मानती। इनकी हालत इधर तकरीबन ऐसी ही है जो मुस्लिम धर्म में अहमदिया समुदाय की है। तो निरंकारियों के साथ हुए उस खूनी संघर्ष के बाद पहले ही से जारी वह विरोध एक स्थाई दुश्मनी के भाव में जा बदला था। बाद की अनेकोंनेक घटनाएं इसकी तायद करती हैं। उनमें एक प्रमुख ये है कि आगे आने वाले वक्त में सिखों ने निरंकारी प्रमुख का कत्ल कर बैसाखी वाले उस रोज की घटना का हिसाब चुकता कर दिया था। इस बीच, कहा बताते हैं, इस देश के केंद्र में सत्ता से बाहर का रास्ता देख चुकी कुछ राजनैतिक ताकतें पंजाब में आई नई अकाली सत्ता से भिड़ने के लिए किसी संत किस्म के व्यक्ति की तलाश कर रही थीं। उन्होंने एक अनजान से ऐसे संत को खोज निकाला जिसे तब तक शायद ही कोई जानता हो। उसका नाम जरनैल सिंह भिंडरावाला था। वह पंजाब के ग्रामीण इलाके में स्थित चौकमेहता के गुरुद्वारा गुरुदर्शनप्रकाश साहिब में एक अज्ञात से सिख संगठन दमदमी टकसाल का मुखिया था। कहा जाता है, अपने धर्म के प्रति वह बेहद उग्र विचार रखता था। उसे राजनैतिक तौर पर आगे बढ़ाने के प्रयत्नों का नतीजा निकला कि जिस सिख होमलैंड की छिटपुट बातें कभी विदेशी धरती कोई एकाध तत्त्व करता रहा होगा, वे इधर खालिस्तान नामक अलग देश की मांग बनने लगीं।

जब यह भिंडरावाला खालिस्तान के विचार को लेकर उग्र तरीकों से सामने आ खड़ा हुआ तो हमारे इस 'क' अखबार समूह के बुजुर्ग मालिक और तत्कालीन प्रमुख संपादक ने खालिस्तान के इस उगते विचार का उग्र विरोध दर्ज करना शुरू कर दिया। उनका हर संपादकीय देश की अखंडता के प्रति इस उभरते खतरे के खिलाफ जनमत बनाने और सरकार को सचेत करने की कोशिश में लिखा जाने लगा। बस फिर क्या था। कुछ ही दिन के अंतराल में लुधियाना के पास सड़क पर दिनदहाड़े उनकी हत्या कर दी गई। इससे पांचेक रोज पहले अकाली दल

ने केंद्र सरकार के पंजाब से वितकरे के विरोध में मोर्चे यानी जेल भरो आंदोलन का ऐलान किया था। अपनी कौम के खिलाफ वितकरे को लेकर खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले सिख किसानों का भाव हमेशा इस कदर उग्र रहता है कि वे मोर्चों में गिरफ्तारी देने को अपना सम्मान समझते हैं। एक प्रकार से होड़ लग जाती है। ऐसे में हत्या का ये वक्त इतना संवेदनशील था कि केंद्र की सरकार भी सकते में आ गई मगर इतना निष्क्रिय दिखी मानो भारत की धरती पर से राज्य का लोप हो गया हो।

यह आने वाले दस साला खूनी आतंकवाद की घोषित शुरुआत थी। यानी जो काम अब तक लुके-छिपे तरीके से चल रहा था वह प्रकट तौर पर चलने लगा और आम इन्सान की जिंदगी की महज ये कदर रह गई कि कहीं भी किसी यात्री बस को रोककर बगैर दाढ़ी-पगड़ी वाले लोगों को नीचे उतारकर ए.के. सैंतालीस से भून दिया जाने लगा। और इन हत्याओं को अंजाम देने वाले लोग सुरक्षित यात्रा के बाद स्वर्ण मंदिर में पहुंचकर पनाह ले लेते। अब तक भिंडरावाला भी स्वर्ण मंदिर परिसर के बाहर की तरफ स्थित गुरु नानक निवास में आकर जम गया था और उसके नेतृत्व में पूरे सूबे में ये तमाम आतंकवादी गतिविधियां अंजाम दी जा रही थीं।

‘क’ के वरिष्ठतम संपादक की हत्या के बाद, उनके बड़े पुत्र ने यह दायित्व संभाला। और खालिस्तान के विरोध में पहले से भी ज्यादा संगठित और वैचारिक तरीके से उग्र नीति अपनाई। नतीजन महज डेढ़ साल के अंतराल में जालंधर शहर की एक व्यस्ततम सड़क पर दिनदहाड़े उनकी कार रोककर उन्हें भी गोलियों से भून डाला गया। उस रोज आमजन ही नहीं बल्कि कानून व्यवस्था बनाए रखने के लिए जिम्मेदार तंत्र और राज्य नामक पूरी व्यवस्था के अंदर आतंक फैलने की इतिहा का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उनकी लाश तकरीबन तीन घंटे तक घटनास्थल पर ही पड़ी रही थी। उनके साथ एक अंगरक्षक भी था जिसके हाथों को बेकार करने के लिए गोलियां दागी गई थीं। वह पूरे तीन घंटे तक वहीं पड़ा कराहता रहा था। ये आतंक इस कदर घनीभूत था कि जब जालंधर शहर के कुछ मोहतबर लोग संपादकजी की लाश को उठाने आए तो तत्काल कफरू आयत कर दिया गया। शमशान तक शवयात्रा निकालने की भी अनुमति नहीं दी गई। उनके परिवार के सदस्यों को उनका दाह संस्कार अपने घर के आंगन में ही करना पड़ा था। ऐसे में पत्रकारों का अखबार छोड़कर प्रांत से बाहर चला जाना कोई असाधारण स्थिति नहीं थी।

जिस बस में प्रकाशवीर इस वक्त सवार इन हालात को मन ही मन याद करता चल रहा था, वह अब तक बालूगंज से काफ़ी आगे निकल गई थी। अचानक उसे लगा कि वह कितना कायर है। धरती के जिस हिस्से में एक करोड़ से ज्यादा लोग अपनी जिंदगी से जूझ रहे हों, वहां कोई अगर उसे भी मार देगा तो क्या फर्क पड़ने वाला है। और ये मानकर भी क्यों चला जाए कि वह मारा ही जाएगा। युद्ध के मोर्चे पर जब सैनिक जाते हैं तो वे जीतने का जब्बा लेकर जाते होंगे न कि मरने का खौफ भीतर भरकर। हालांकि सच बात ये भी है कि वह जिंदा रहना चाहता था। इस सुंदर संसार को छोड़कर जाने से निश्चय ही उसे डर लगता था। इससे आगे जिंदगी और मौत की दार्शनिक स्थितियों बगैरा पर कुछ सोचे बिना वह अपने ब्यूरो में आ पहुँचा तो गणूराम परदेसी बेचैनी से जैसे उसी के आने का इंतजार कर रहे थे। उसे देखते ही बोले, ‘सुना तुमने? खबर है कि भिंडरावाला आज गुरुनानक निवास छोड़कर अकालतख्त में कब्जा जमाने को चला गया है।’

अकालतख्त उसके तई महफूज जगह थी। ये स्वर्ण मंदिर परिसर में सिख धर्म का उच्चतम

धार्मिक और सर्वाधिक पवित्र स्थल है। उसे मालूम था किसी भी कानूनी राज्य की पुलिस यहां प्रवेश कर पाने की सोच भी नहीं सकती थी। ऐसे में उसे यकीन था, कि भारतीय राज्य के लिए उसका कुछ बिगाड़ पाना मुमकिन नहीं होने वाला है। वह जानता था कि सिख कौम अपने इस पवित्र स्थल की रक्षा में यूं आ खड़ी होगी, जिसके सामने खालिस्तान का बनना अपने आप यथार्थ में बदल जाएगा। और वह उस नए बनने वाले देश का प्रपिता होगा। भिंडरावाले की सोच का कवच यही था। 'परदेसी जी,' प्रकाशवीर ने बैठते हुए कहा। 'आप संपादकजी को ट्रंककॉल बुक करके बता दीजिए कि प्रकाशवीर नाम का पत्रकार 'क' के मुख्यालय में आ रहा है।'

गणूराम परदेसी के हाथ में कलम थी। इस बात के पूरा होने के साथ ही वह उनके सामने की मेज पर जा गिरी। प्रकाशवीर को ठीक से ये मालूम नहीं हो सका कि परदेसीजी ने उस कलम को जानबूझकर गिर जाने दिया था या उनका हाथ कुछ इस कदर कांपा कि कलम पर उनकी पकड़ ढीली पड़ गई थी। वे अपलक उसे निहारते रहे। जैसे उनकी आंखों की पुतलियां जम गई हों। ऐसा कुछ महसूस हुआ कि सामने कोई डरावना दृश्य आ प्रकट हुआ है और अगर इससे तत्काल निजात नहीं पाई गई तो ये परदेसीजी को ही नहीं खुद प्रकाशवीर को भी राख कर डालेगा। 'परदेसी जी,' उसने कहा। 'आप कहां खो गए?'

गणूराम परदेसी के होश सचमुच वापस आ गए थे, 'अभी आपने मुझसे क्या कहा था?'

प्रकाशवीर ने अपने कथन को दोहरा दिया। वापस इसे सुनकर वे एक बार फिर उसी हालत में जाने वाले से लगे मगर जैसे उन्होंने खुद को जबरदस्ती सम्भाले रखने की कोशिश की। बोले, 'आप फिलहाल सही मानसिक हालत में नहीं हैं।' इसके आगे जरा-सी खामोशी थी। ये जब टूटी तो वे बोले, 'ऐसा करते हैं चलो घर चलते हैं। आज का काम पूरा हो ही गया है। बाकी जो बचा है वो भारद्वाज जी देख लेंगे। मैं इनसे कहे देता हूँ। आप चलो मेरे साथ।'

गणूराम परदेसी ने सौरव भारद्वाज को बुलाया और उसे आज की शाम किया जाने वाला बाकी का काम समझा दिया। जब वे उठ खड़े होने को तैयार थे तो बोले, 'भारद्वाज जी, तुम अकेले में डरोगे तो नहीं न?' पर आगे किसी जवाब का इंतजार किए बगैर बोले, 'दरअसल नया साल शुरू होने में अब सिर्फ पंद्रह दिन बाकी हैं और भिंडरावाले ने अकाल तख्त पर आज ही कब्जा जमाया है। इस अखबार का क्या होगा किसी को कुछ नहीं पता!'

आधी रात के पार तक माल रोड पर नये साल के आगमन का शोर मचा रहा था। और इधर जाखू के अपने इस कमरे में प्रकाशवीर करवटें बदल रहा था। नींद एकदम उड़ी हुई थी। सुबह होने पर उसे चल देना था। पर सुबह तो तब होती अगर थोड़ा बहुत कुछ नींद से समागम हो आता। बिस्तर पर पसर आने से पहले उसने जाने की तैयारी कर ली थी। सामान तो ज्यादा कुछ था नहीं। एक पाइप की चारपाई और बिस्तर था। वह सब उसने पड़ोस में रहने वाले कॉलेज के एक लड़के को उठा ले जाने के लिए कह दिया था। पहनने के कपड़े और बाकी रोजमर्रा का छोटामोटा सामान बैग में धर लिया था। जाखू का ये इलाका कुछ ऐसा है कि अगर माल रोड पर हल्का शोर भी उठे तो ऐसा लगता है मानो आपके घर के किवाड़ बज रहे हों। फिर नये साल के पहले आने वाले दिन की इस रात में बाहर से आए सैलानी आधी रात के पार तक न तो खुद सोते हैं और न इधर जाखू की इस आबादी को सोने देते हैं। शिमला में आने वाले हर साल के स्वागत का यही तरीका है।

मगर इस बार ये उसके लिए एकदम असहज हालत की तरह था। सुबह पांच बजे की

पहली बस पकड़कर उसे जालंधर को रवाना होना था और शहर बर्फ की चादर के नीचे दबा पड़ा था। मालूम चला था, कि बसें बस-स्टैंड तक नहीं आ पा रही हैं। कोई पांचेक मील पहले तारादेवी के पास रुक रही हैं और वहीं जाकर पकड़नी होगी। एक उस फिफ्ट में, दूसरे शिमला छोड़ जालंधर जाने की हुलसाहट में और तीसरे नये साल के आगमन के उस हो-हल्ले में नींद कहीं आसपास फटक नहीं पा रही थी। शिमला में उसने पूरे चार साल काम किया था। और अपनी नजर में अच्छा ही किया था। यानी एक खास किस्म की आत्मसंतुष्टि के इलावा अपने इस काम के प्रति एक आत्मविश्वास भी पैदा हुआ था, जिसे वह साथ लेकर जा रहा था। एक बार जब जाने का फैसला कर लिया तो पंजाब में फैले आंतकवाद के हालात ने डराना बंद कर दिया था। अजीब बात थी कि जिन गणूराम परदेसी ने उसे वहां जाकर काम करने की तजबीज रखी थी वही वहां न जा देने के लिए पंद्रह दिन तक मनाता भी रहा था।

उस रोज जब उसने उन्हें बताया कि मैंने जालंधर जाने का मन बना लिया है तो सहसा परदेसी जी अवाक रह गए थे। उन्हें विश्वास नहीं हुआ था। बल्कि उनके भीतर एक ऐसे आतंक के साये आ जमे थे, जिनसे मुक्त होने में उन्हें बहुत लंबा वक्त लगने वाला था। वे दफ्तर से उठाकर उसे अपने घर ले आये थे। आते ही अपनी पत्नी से बोले कि तुम इस आदमी को समझा सकती हो समझाओ, ये आत्महत्या करने पर उतारू है। हालांकि उस महिला ने उनकी बात को ज्यादा गम्भीरता लिया हो, ऐसा प्रकाशवीर को लगा नहीं था, पर गणूराम परदेसी लगातार तीन घंटे तक रम चुस्कते हुए, उसे समझाते रहे थे, कि आदमी को जिंदा रहने के लिए दो रोटी की जरूरत भर होती है। प्राण रहें तो वह कहीं भी इसका जुगाड़ कर लेता है। काहे उधर जाकर पंगा लेना। पर जब उसने देखा कि वह टस से मस नहीं हो रहा है, तो खाना खाती बार उसने पूछा, 'खाह तुमने जार्ज आर्वेल का उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' पढ़ा है?'

प्रकाशवीर ने जरा गौर करने वाली नजर से उसे देखकर कहा, 'आप शायद भूल रहे हैं कि उन्नीस सौ चौरासी शुरू होने में अभी पंद्रह दिन बाकी हैं।'

'हां,' गणूराम परदेसी ने जवाब दिया। 'तो? आप क्या मुझे बेवकूफ समझते हो? या शराबी बूझते हो। खूब समझो। कोई किसी को कुछ समझने बूझने से रोक थोड़े न सकता है। पर मैं उतना बेवकूफ नहीं हूँ जितना आप समझना चाहते हो। ये सचमुच की एक किताब है। और जार्ज आर्वेल साहेब ने तो इसे 1949 में ही प्रकाशित कर दिया था। अब भी आप मुझे बेवकूफ समझना चाहते हो तो समझो जरूर।'

आगे ये हुआ कि खाना खा चुकने के बाद उन्होंने अपनी अलमारी से एक पुरानी बदरंग-सी किताब निकाल कर उसे थमा दी। यह जार्ज आर्वेल का उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' था। उसने अपने कमरे में आकर उसी रात इसे पढ़ना शुरू कर दिया था और आने वाले इन पंद्रह दिनों तक पढ़ता रहा था। बीच में दफ्तर जाकर वह गणूराम परदेसी को लगातार बताता भी चलता रहा था कि ज्यों-ज्यों वह इस किताब के अंदर पन्ना दर पन्ना सफर करता चल रहा है, उतनी ही मजबूती से उसका इरादा जालंधर चले जाने का पक्का होता चल रहा है। ये गणूराम परदेसी की उस उम्मीद से ठीक उलट था जिसके चलते उन्होंने ये किताब उसे पढ़ने को दी थी। उन्हें यकीन था कि इसे पढ़ चुकने के बाद प्रकाशवीर उधर जाने का अपना इरादा त्याग देगा। पर आज की ये शाम आते आते तक उसका वही इरादा इस कदर पक्का हो गया था कि आने वाली सुबह यहां से रुखसत होने की तैयारी में बिस्तर पर पसरा था, जहां नींद के सिवाय बाकी सब कुछ था।

सुबह तीन बजे तक शहर में मरणासन्न किस्म का सन्नाटा छा गया था। सर्दियों में

ऐसा तभी होता है जब बर्फबारी हो रही हो। उसने उठकर खिड़की से बाहर वातावरण का जायजा लेने की कोशिश की। फिर द्वार खोलकर बालकनी में आ खड़ा हुआ। रूई के हलके सफेद फाहे अपनी तय गति में गिरते चल रहे थे। देवदारुओं की टहनियों पर जमते तोड़े हौले हौले कभी जमीन पर आ गिरते तो एक हौली-सी 'ठप' की आवाज होती और पूरा वातावरण आगे आने वाली ऐसी ही आवाज के इंतजार में वापस एकदम सुनसान-सा लगने लगता।

काफ़ी देर तक इसे देखते रहने के बाद जब बदन में कंपकंपी छूटने लगी तो वह अंदर आकर वापस रजाई में लिपट गया। मगर फिक्र हुई कि अब जाना कैसे होगा। चार बजे वह उठ खड़ा हुआ। अलगनी पर पड़े कपड़े उतारे और एक एक कर पहनने लगा। चलती बार यही उसके बदन की अंदरूनी गर्मी को बचाए रह सकते थे। जूते डाट चुकने के बाद जब उसने खुद को चल देने के लिए तैयार पाया तब सिर के नंगा रह जाने का अहसास हुआ। बापू के इंतकाल के बाद बतौर उनकी याद वह घर से उनका एक पुराना लाल चौखाने वाला गमछा ले आया था। इसे निकालकर उसने पग के आकार में सिर पर बांधा। उनके अंतिम संस्कार के मौके पर उसने इसे कुछ इसी तरह अपने सिर पर लपेटा था। और आगे सिर्फ़ ये कि चेहरे पर उगी दाढ़ी पर हथेली फेरकर उसने खुद को बाहर निकल जाने को एकदम तैयार कर लिया।

सामने पिट्टू पड़ा था। उसने इसे कंधों पर लटकाकर पीठ पर टिकाया और शिमले की चार साल की अपनी यादों को सलाम कर बाहर निकल गया। बर्फ़ का गिरना जरा थमता प्रतीत हो रहा था, मगर पेड़ों से गिरने वाले तोड़े बदस्तूर जारी थे। शहर की जमीन पूरी तरह बर्फ़ की चादर के नीचे दबी पड़ी थी। क्योंकि ताजा गिरी परतों ने पुरानी जमी बर्फ़ को ढक लिया था इसलिए इस कच्ची बर्फ़ पर चलने से फिसलन का ज्यादा खतरा पैदा होने वाला नहीं था। जो फिसलन पुरानी बर्फ़ पर होती है वह नई गिरती पर नहीं होती, हालाँकि पैर इसमें ज्यादा धंसते हैं। नतीजन यह कदमों को रोकती और चाल को धीमा करती है। शहर अपने आराम में पूरी तरह दुबका पड़ा था। उसे लगा शायद आज वही अकेला ऐसा जीवधारी है, जो इधर इस बर्फ़ को रौंदता चल रहा था। यहां तक कि जिन बंदरों को सुबह का उजाला होने पर इस बर्फ़बारी के बीच धमाचौकड़ी मचानी थी, फिलहाल उनके होने के संकेत भी कहीं महसूस नहीं हो रहे थे। पूरे तीन घंटे के सफर के बाद वह तारा देवी में था। साढ़े सात बज रहे थे। वहां इक्का दुक्का लोग जरूर थे पर वे सब जैसे कसी असमंजस का शिकार दिख रहे थे। सड़क के एक किनारे एक बस जरूर अपनी मुर्दा खामोशी में खड़ी थी। उसने मौजूद लोगों से दरयाफ्त की तो पता चला कि शायद ही बस यहां से चले। कालका चंडीगढ़ की तरफ से आने वाली सारी बसें कल से ही शोधी में रुक जाती बताई जा रही हैं।

आठ बजे के आसपास सड़क के एक किनारे वाले चाय के खोखे में जरा हलचल हुई। थोड़ी देर बाद एक आदमी पिट्टू में लिपटा कोयला जलाने लगा था। उसने इस तथ्य की पुष्टि की, कि शोधी जाकर ही बस मिलेगी। उसके पास चाय पीने के बाद वहां मौजूद सब लोग जब चल निकले तो प्रकाशवीर भी उनके साथ हो लिया। दूसरे लोगों के साथ होने का हौसला इतना गजब होता है ये जैसे उसने पहली बार जाना था।

शोधी पहुंचने तक ग्यारह बज आने को थे। वहां अमृतसर को जाने वाली आखिरी बस चल देने को तैयार थी। इसके अंदर एक खाली सीट पर बैठकर उसने गर्दन घुमाकर अपने पीछे छूटे शहर के बर्फ़ से ढके दिख सकने वाले सफेद हिस्सों पर नजर दौड़ाई और अपने भीतर की तमाम भावुकताओं से मुक्त होने की कोशिश में खुद को समझाने लगा कि आज

के बाद उसे किसी फिल्म के विरह गीत को याद करने की नौबत बिल्कुल नहीं आएगी। अपनी आश्वस्ति के लिए उसने पिट्टू में हाथ डालकर देखा कि गणूराम परदेसी ने जो किताब उसे उपहार में दी थी वह इसमें मौजूद है। वह तमाम किस्म की भावुकताओं के प्रति मानो उसके भीतर एक ऐसा प्रतिरोध पैदा करती थी जो महज पंद्रह दिन पहले तक उसके किसी स्वप्न संसार का हिस्सा भी नहीं हो सकता था।

थोड़ी देर बाद बस चल दी थी। इसके चल देने के साथ ही उसे जबरदस्त राहत महसूस हुई थी। धीरे-धीरे ऊंच हावी होने लगी और कुछ देर बाद वह सचमुच सो गया था। पर जब कहीं सवारियां उतारने या चढ़ाने को बस रुकती तो उसकी नींद टूटकर खीज में बदल जाती थी। वह सोया रहना चाहता था। जब यह वापस अपनी गति पकड़ती तो उसे खासा चैन मिलता और आराम के उस अहसास के बीच वह किसी नई जिंदगी के स्वप्न लेने लगता। ये सिलसिला चलता रहा और इसी के बीच पहाड़ की उतराइयां मैदान की तरफ बढ़ती चलती रहीं। ये कोई ऐसा यादगार सफर भी नहीं था जिसने ऐसा कोई अनुभव दिया हो जो यहां साझा किया जा सके, सिवाय रोपड़ पहुंचने पर। वहां बस अड्डे पर जब बस रुकी तो ड्राइवर ने घोषणा की कि अब आगे बस नहीं जाएगी। पहले तो तमाम मौजूद लोग सकते में आ गए। फिर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी संज्ञाएं वापस जुटाकर बतौर समूह ये जानना चाहा कि जब हम लोगों ने टिकट अमृतसर और जालंधर के खरीद रखे हैं तो आगे न जाने का मतलब क्या हुआ?

‘ओए लोको,’ ड्राइवर ने कहा। ‘जरा देखो टैम क्या हुआ है। पौने छः बज गए हैं कि नई? पंद्रह मिनट बाद न्हेरा हो जाएगा कि नई? आगे किसी भी पल परीणे रोकके ठां ठां एके संताली से भून के रख देंगे कि नई। किस पट्टे को अपनी जान प्यारी नई है ओ लोको।’

जरा सा सन्नाटा पसरा तो कंडक्टर बीच में आकर समझाने लगा, ‘देखो ओ मितरो, जोरजबर तो करो मत। न्हेरा हुआ नई कि संत साहिब जी महाराज भिंडरावाले के वीर-बीबे लोगों का घल्लूधारा सुरू। आज की रात यहीं बिता लो। जे गरचे जिंदा बच बचा लिए तो कल अम्बरसर पहुंच ई जाओगे। पर जे मर-मरा लिए तो कोई लास बी न लेके जाएगा। ऐसे में म्हारी कोई जिमेवारी नई जी।’

बस में चालीस बयालीस लोग होंगे। आठ दस औरतें और कुछ गोद मुंहे बच्चे थे। ऊपर से हाड़ कंपाने वाला जाड़ा। प्रकाशवीर को दोनों पक्षों की बातें ठीक लग रही थीं। आज तक जितनी भी ऐसी घटनाएं इधर हुई हैं, आतंकवादियों द्वारा यात्री-बसें रोककर लोगों को गोलियों से भून डालने की, वे सब की सब दिन ढलने के तत्काल बाद उतर आए अंधेरे में ही हुई हैं। पर चल देने की जिद करने वाले लोगों की बात भी सही लग रही थी। चलती बस में किसी तरह आने वाले अंधेरे का ये वक्त बीत जाता है और अगर ये यहीं रुक गई तब कैसे सुबह आएगी? और कुछ लोगों का ये तर्क भी सही लग रहा था कि अगर मौत को आना ही होगा तो वह इस अड्डे पर खड़े-खड़े भी जरूर आएगी। यानी ज्यादातर लोग इस अध्यात्मवादी विचार के थे कि मरना जीना अपने हाथ में नहीं है। ये तो सब पहले से तै है, कि जो आदमी पैदा हुआ है उसे कब, कैसे और कहां मरना है। इसलिए मौत से डरने की क्या जरूरत है!

कंडक्टर इस विचार के प्रतिरोध में था, ‘देखो जी। जालंधर पहुंचने तक, गरचे पहुंच गए तांही न, रात घणी पड़ जाएगी। ऐसे में अम्बरसर जाने वालों को रुकना ई रुकना पड़ेगा। चाहे तो यई रोपड़ रुक लो जा फेर अपनी जान संतजी महाराज के खाड़कू वीरों के हवाले से बचाके जालंधर जाके रुक लो जी। मरजी त्मारी जी। मैं कुछ नई बोलता।’ वह आगे आया और चालक के पास पहुंचकर बोला, ‘भाजी, रिगस लेना ठीक नई है।’

मगर इन सारी चेतावनियों के बावजूद हंगामा वापस शुरू हो गया। कोई पूछ रहा था, हम जाएं तो जाएं कहां? कोई सवाल कर रहा था कि तुमने अम्बरसर-जालंधर की टिकटें काटी क्यों जी? हम चंडीगढ़ में रुक लेते। अब इस जगह पर रुकें तो कहां? कोई वही अध्यात्मवादी परमज्ञान दे रहा था, कि जब मौत आएगी तो रब्व भी बेली न होगा। मौत से क्या डरना जी? यह हंगामा जरा लंबा चल निकला। स्टीयरिंग पर विराजे ड्राइवर को अचानक ऐसे क्रोध आया कि उसने क्लच पर से अपना दाहिना पैर हटाया, गाड़ी गीयर में डाली और बांया पैर एक्सेलेरेटर पर दे दबाया। बोला, 'चलो मितरो, गरचे मरना ई लिखा है तो चल मरो।'

कंडक्टर ने हौले से एक बार को फिर उसे चेताना चाहा। पर वह कड़क गया, 'ओए फिक्रतौसवीं, बोल दे इन सब रब्व के बंदों को जे आगे सवारी अपनी जान की खुद जिमेवार होगी।' बस तेज गति से सड़क पर दौड़ने लगी तब उसने जैसे वापस चेता दिया, 'ये जालिमों की नगरी है मितरो। बिलाशक तुम लोगों के अंदर मरने का जज्बा है तो चलो मरो। पर साधू सिंह हमदर्द की कोई जिमेवारी नई।'

कंडक्टर अपने गले की कुकड़ी से 'कडुं कडुं' की सी आवाज निकालकर हंसने की कोशिश करने लगा। पर ये एक ऐसी शैली थी, जिसके बारे में एकदम से पता लगाना मुश्किल था कि क्या वह हँस रहा था या रो रहा था। मानो बस की खिड़की के पास कोई कुक्कड़ दाना दुनगा चुगता चल रहा हो। यह जैसे एक क्रिया थी, जो जब करम के रूप में फलीभूत हुई तब वह चालक के पास आकर इंजन पर आ बैठा और अपने अंदर इत्मीनान भरने की कोशिश के बाद बोला, 'चंगी गरमी दे रहा है।'

आगे बिना किसी तर्क कुतर्क के बस छः मील तो निकल गई होगी। उसके होश जैसे वापस आ गए। वह चालक की कही गई बातों की मानो व्याख्या करने लगा। 'एक बात सारे मितर लोग कान धरके सुन लो जी। हर कोई अपनी मौत का खुद जिमेवार होगा जी। मरने के बाद गरचे किसी ने मेरे या अपने इस भाई-बीर ड्रैवर साहिब जी के कंधों पर जिमेवारी डालने की कोसत की तो मितरो मैं ये बात बिल्कुल नई मानने वाला। रब्व की सौं आप की जान की जिमेवारी आप लो। आगे किसी बंदे ने टटर पटर की तो आपको रब्व देखेगा। जो बोले सो निहाल। बोलो मितरो सतश्री अकाल!'

ड्राइवर ने एक्सेलेटर पर ऐसे पांव दबा रखा था मानो अब पीछे मुड़कर देखने का हर मौका खत्म हो गया हो। जैसे वह अब तक भूल चुका हो कि सड़क ऐसी भूखी शेरनी है, जो कहीं खत्म नहीं होती। 'पंजाब रोडवेज अमृतसर' की ये खटारा-सा दिखने वाली बस शोधी से ठलक-ठलक करती चली थी, जैसे उसमें ताकत थी ही नहीं, पर अब रोपड़ से जालंधर जाने वाली इस भूखी सड़क पर इस कदर दौड़ रही थी, ज्यों कोई आदमी अपने पीछे दौड़ते खूंखार कुत्तों से जान बचाने को दौड़ रहा हो।

प्रकाशवीर ने अपने हाथ पतलून की जेब में ठूस लिए और सिमट सिकुड़ कर बैठ गया।

आज पूरे तीस साल बाद, वे तमाम स्थितियां सिर के बल आकर नजरों के सामने आ टंगी हैं। अक्सर जिंदगी के हालात और वक्त के बहुतेरे लमहे हमें ऐसी जगहों पर ला पटकते हैं जहां सिर्फ और सिर्फ अंधेरा हो। अंधकार की उस सुरंग से निकल पाना चाहे जितना भी नामुमकिन बना रहा हो, कहीं न कहीं वह हमें एक ऐसा स्पेस जरूर देता है, कि हम खुद को उससे बाहर निकाल ले जाने में कामयाब हो जाएं। और अगर न भी हो सके, तब भी ऐसा कुछ सोचने पर मजबूर न हों कि यही जिंदगी का आखिरी छोर था। जब भी आज के इस वर्तमान में किसी पुरातन वक्त की खुदाई की जाने वाली हो, जिसकी हर गहराई में अजीबो

गरीब हूबहू रहेगा और विश्वास न किए जा सकने वाले खंडहर हों, ऐसे में भी वापसी को असम्भव नहीं माना जाना चाहिए। अलबता ऐसे वक्तों के लिए कुदरत ने एक वो नियम दिया है कि अगर संयम बना रहेगा तो मुश्किल से भी मुश्किल वक्त गुजर जाएगा, उस पर विश्वास मानते चलने के सिवाय हमारे तुम्हारे पास कोई दूसरा विकल्प नहीं होगा।

प्रकाशवीर जब इस किस्म के शब्दों से कनुप्रिया के अंदर विश्वास भरने की कोशिश कर रहा था तब उसने अचानक उसे टोक दिया था, 'पापा, क्या आप सब लोग उस सफर में मारे गए थे?'

सामने बैठी सुरजीत हंस पड़ी थी। कनुप्रिया ने उसे डांट देने के अंदाज में कहा, 'ममा, इस तरह किसी को बेवकूफ समझने का मतलब क्या है?'

सुरजीत ने जवाब नहीं दिया और इधर प्रकाशवीर था खुद को जवाब देने के वास्ते तैयार करता हुआ। फिलहाल जो शब्द उसके सामने आए थे वे खुद उसे ही एकदम नामाकूल लग रहे थे। मसलन वह कहना चाह रहा था, 'हां, कम से कम मैं उन सब मौतों के बीच एक हजार मौत मरा था, जिनसे कोई भी आदमी कालांतों तक मर सकता है।' पर उसे लगा ये कुछ ज्यादा ही दार्शनिक हो जाएगा। ऐसे में उसने अपने तर्क जो शब्द चयन किया वह इससे एकदम अलग था, 'बस, मारा ही जाने वाला था, पर सिर पर तुम्हारे दादा के उस गमछे ने और मेरे चेहरे पर उगी घनी काली दाढ़ी ने बचा लिया था।' इसके आगे मुझे खुद पर ही हँस देने का मन हुआ। और एक छोटे से वक्फे के बाद उसने ये जोड़ दिया, 'यूँ वो दाढ़ी मैंने तुम्हारी ममा को इम्प्रेस करने को बढ़ा रखी थी।'

कनुप्रिया ने इस तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया, बल्कि बेचैनी से कहा, 'पर ये तो बताओ आप मरे कैसे थे?'

चालक ने बस की गति सीमा को अति दे रखी थी। अंधाधुंध दौड़ाए चला जा रहा था। बिल्कुल ऐसे मानो उसकी नजर किसी ऐसे गंतव्य से पहले न रुक सकने वाली हो जहां उसे एक छिपे हुए आतंक और मौत से पार एक निश्चित सुरक्षा अपने होने का अहसास दे सके। निश्चय ही वह इस सबको बस के अंदर मौजूद लोगों से ज्यादा महसूस करता रहा होगा। जब रोपड़ के अड्डे पर उसके और भीतर सवार लोगों के बीच बहसबाजी हो रही थी, तब उसने आखिरी चेतावनी के तौर पर कहा था, 'तुम लोग तो सिर्फ आज ई जाओगे। हमारा तो ये रोज का काम है। हमको ई पता है अपनी जान कैसे बचाई जाती है।'

अब तक कंडक्टर काफ़ी कुछ धिचपिच बोल चुकने के बाद इंजन पर बैठा आगे आने वाली भूखी सड़क पर एकटक नजरें गड़ाए हुए था। बस में सवार ज्यादातर लोग ऊँघने लगे थे। बीच में कभी किसी बच्चे की किलकारी या किसी बच्चे को औरत द्वारा थपकने की हौली सी कोई आवाज सुनाई दे जाती, तब लगता माहौल अभी उतना निर्जीव नहीं हुआ है, जितना हमारे अंदर कल्पना होती चल रही थी। प्रकाशवीर चालक के एकदम पीछे वाली सीट पर बैठा था। अब उसे नींद नहीं आ रही थी। बल्कि उसके अंदर की सजगता ज्यादा बढ़ गई थी। वहां से बस की हेडलाइटों में सामने सड़क पर काफ़ी कुछ झुटपुटे में एक सोई-सी सड़क दिखती चलती थी। उसकी मरणासन्न खमोशी से अनायास महसूस होने लगता था मानो बाहर का पूरा वातावरण जैसे किसी अनाम मौत के सन्नाटे में डूबा हो। कहीं कोई आदमी या इधर उधर आता जाता कोई वाहन तक नजर नहीं आ रहा था। अंधेरा ढलते ही लोग अपने दड़वों में जा छिपे थे। आज तक तो प्रकाशवीर भी ये सब अखबारों में छपने वाली खबरों के बीच से उठ आते लहू के छींटों में ही महसूस करता रहा था, या जालंधर में अपनी अखबार के

किसी पत्रकार मित्र से ट्रंक टेलीफोन पर होने वाली कभी-कभार की बातचीत में। मगर आज इस सन्नाटे से ज्यों ही सीधा साक्षात्कार हुआ तब मालूम पड़ा असल में आतंक का क्या मतलब ठहरता है। उसको अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों का जुगाड़ कर पाना किसी के तर्ई कभी मुमकिन हो ही नहीं सकता। और ये जो आप पढ़ते चल रहे हैं ये अपने पार के उन असल शब्दों की छाया मात्र है। फिर भी आप यकीन कीजिए ठीक इसी छाया की ही तरह सामने वह सपाट, समतल और सुंदर धरती पर वो सन्नाटा किसी भी आदमी का कलेजा निकालकर बाहर रख सकता था। खासतौर पर जब आपके दिमाग पर भिंडरावाले का कब्जा रहा हो। जैसे हम सब का दिमाग उसकी मिलिक्यत बन चुकी थी। ऐसे में अगर हम सब लोग जिद करके रोपड़ से इस बस को न लाए होते तब इस सड़क पर कितना खौफनाक अंधेरा और जानलेवा खामोशी होती, उसका अंदाज सचमुच शब्दों में छपने वाली किसी भी खबर में समेटा जाना मुमकिन न होता।

ऐसे अवारा किस्म के इन विचारों के बीच प्रकाशवीर को सड़क के बीचोंबीच तीन साये नजर आए थे। उनमें से हरेक ने अपना एक एक हाथ आसमान की तरफ उठा रखा था। बस के जरा नजदीक आ जाने के बाद ज्यों ही उन पर रौशनी की धार जरा ज्यादा पड़ी, तो दिखा वे तीनों अपने बदन पर कंबल लपेटे हुए थे। प्रकाशवीर का दिमाग इस कदर उतावला था, जिसने उसे अपने अंदर के एक ऐसे नकारात्मक विचार के हवाले कर दिया कि लो आ ही गए भिंडरावाले के ए.के. सैंतालीस वाले वे खूनी आतंकवादी, जो रोज रोज इस धरती पर, कभी यहां तो कभी वहां आदमियों को बसों से उतारकर भून डालने का काम इस कदर आसानी से कर जाते थे, मानो बिना भूख आम के पेड़ से फल तोड़ रहे हों। उसके इस नकारात्मक विचार के सच होने की पुष्टि अगले ही पल हो गई जब इंजन पर बैठा कंडक्टर बोला, 'लैह उस्ताद। कर लै गरम घिओ नूं खाली भांडा। वो सामने खड़े नै बड़्डे बीर। कंबलां थल्ले एंके संताली ताण के।'

झटाक से बस के टायर चीखे और अगले झटके में चाल थम गई। जहां वे लोग खड़े थे उनके पीछे पत्थरों की कतार सड़क रोके मुर्दा पड़ी थी। वे अंदर ऐसे लपके मानो उनके पास वक्त की बेहद कमी हो। एक ने अपनी सैंतालीस की नोक चालक की कनपटी पर तान दी और बाकी के दो इधर सवारियों की तरफ आ मुखातिब हुए। उनमें से एक बोला, 'सत् सिरी अकालजी महाराज! खाड़कू महाराज भिंडरावाले जी दी चढ़दी कलां। खालिस्तान जिंदाबाद।'

उसके जरा-सा रुकते ही उन लोगों का तीसरा साथी बोला, 'औरतां ते बच्चे बैठे रहें। सिर पर पग्गां वाले खालसे बीर बी न उठें। बाकी सारे मोन्ने बंदे थल्ले आओ।' आगे उन सबने बारी-बारी से कुछ ऐसे शब्द उच्चरे थे, जिनको अगर प्रकाशवीर यहां लिख डाले, तो ये पूरी कहानी और कुछ हो कि न हो मगर महिला-विरोधी बिल्कुल मान ली जाएगी। कम से कम उनकी ये बेटी कनुप्रिया ही उसे मुआफ नहीं कर सकती थी। और इससे आगे का सच ये भी है कि इसकी मौजूदगी में उन शब्दों को अपने होठों पर लाना ही सम्भव नहीं है। हालांकि सुरजीत को चिढ़ाने के लिए वह यदाकदा उनका इस्तेमाल पिछले तीस सालों में कई बार कर चुका था। पर वह उन दोनों के बीच का मसला था। सचमुच वे ऐसे शब्द थे, जो हमारे अपने होने को ही शर्मिंदा करते थे।

अब आप सिर्फ़ ये सोचें कि अगर उनके कहे गए शब्द इतना डरावने रहे होंगे, तो जो वे करने वाले थे वह कितना भयावह और डरावना रहा होगा। इसकी कल्पना आज आप कर सकते हैं? उस बदनसीब बस में बैठे लोगों की कैसे हवा सरक गई होगी, इसकी कल्पना कर

पाना सम्भव है क्या? अपनी ही सांसों के चलने की आवाजें खुद को सुनाई देने लगी थीं। 'सुना तुम लोगों ने?' वापस आवाज आई थी। जैसे सारे लोग कोई रोबोट बन गए हों। हिंदू धर्म प्रतीकों वाले सारे लोग खुद ब खुद उठे और कुछ इस कदर नीचे की ओर उतर चले मानो कोई ईश्वरीय आदेश आ गया हो। जैसे वे सब के सब काठ की पुतलियां हों। अजीब बात कि न कोई चीखोपुकार मची और न कोई प्रतिरोध हुआ। सब कुछ ऐसे गए ज्यों उनको मालूम रहा हो कि जाना ही तो था। वे यहां नीचे उतर जाने को ही तो लड़झगड़ कर रोपड़ से इस बस को खिंचवा लाए थे।

उन सज्जनों में एक जो मुंडेजाम बना लग रहा था, बस के बीचोंबीच के तंग गलियारे में आकर एक एक आदमी को टटोलते उनके धर्म-प्रतीकों से उनके आगे आने वाले जीवन और मौत का जायजा लेने लगा। बाकी जन तो उतर गए थे, पर एक कच्ची-सी उमर का लड़का बीच में सिर झुकाए दुबक रहा था। सैंतालीस वाले ने उसके सिर के कटे केशों का गुच्छा पकड़कर उपर खींच दिया, 'ओए फलाणी के पूत। ऐसे छिप के बच जाएगा! चूहे..!' वह लड़का बुरी तरह चीख पड़ा। मानो उसके भीतर कोई ऐसा भय था जिसकी अभिव्यक्ति वह इसी तरह चीखकर कर सकता था। वह सैंतालीस के कदमों की तरफ अपनी जान की भीख मांगने को झुका, तो सैंतालीस ने उसे अपने पैर में पड़े बूट की नोक से ठोकर मारकर बस की दीवार के शीशे से जा फोड़ा। फिर वापस खींचकर गलियारे में ला पटक। दूसरे सैंतालीस ने उसने उसके सिर के बालों से घसीटा और द्वार से बाहर धकेल दिया। अब तक उसका चीखना बंद हो गया था। जैसे उसने अपनी आने वाली मौत को अपनी नियति की तरह स्वीकार कर लिया हो।

प्रकाशवीर अभी तक अपनी सीट में दुबका था। जब सैंतालीस ठीक उसके सामने आ तनी तो जिंदगी के रहने या न रहने के सवालों को अपने दिमाग में लिए वह उन पलों को वापस याद करने लगा जिनमें उसने जालंधर आने का आखिरी फैसला कर लिया था। यद्यपि अभी तक वह अपनी सीट से चिपका बैठा था, पर फिलहाल काठ या रोबोट नहीं हुआ था। जिंदगी की तमाम मुश्किलात के बावजूद और उनसे बहुत आगे सुरजीत को अपनी तरफ से उसके भविष्य के हवाले छोड़कर, बल्कि काफ़ी हद तक उससे या उससे भी ज्यादा खुद से खफा होकर, वह हमेशा के लिए शिमला छोड़कर भले ही चला आया था, पर अभी तक मर जाने का उसका रत्ती भर इरादा नहीं था। वह हर हाल में जीना चाहता था। पर सामने आ खड़ी मौत के वे पल इतने घनीभूत थे, कि उसे अपने कुछ बीते हुए मार्मिक लमहों में ले जाने को सामने आ खड़े हुए थे, जब जब उसका साक्षात्कार मौत से हुआ था।

सबसे पहले उसे वह दिन याद आया, जब बारह साल के एक बच्चे के हाथ में गांव की मसांकड़ी में चिनी गई चिता के सामने एक जलता हुआ अलाव देकर कहा गया, कि इस चिता के उपर पड़े मुर्दे के सिर को आग दो। वह गला फाड़कर चीखने लगा था। वह जानता था उसके सामने चिता नहीं, उसकी मां का शरीर था। कितना निर्मम होकर बापू और वहां मौजूद बाकी सारे लोग उस शरीर को उसी से आग दिलवाकर राख कर डालने को उतावले थे। उसने चीखते-चिल्लाते रहकर उस मरे हुए मुंड को आग दे दी थी। और उसके तेरह बरस बाद अभी कुछ माह पहले ठीक उसी जगह पर एक और चिता चिनी हुई थी। उसे मालूम था इसे भी उसे ही आग के हवाले करना है। उसने बिना किसी चीखो-चिल्लाहट के वही कर दिया था। चुपचाप बापू के उस मरे हुए शरीर को आग के हवाले कर अपने सिर पर बंधे इस गमछे को साथ लिए लौट आया था।

उसके सामने कोई विरासत नहीं बची थी। लोगों के मकानों को बनाने में इस्तेमाल होने वाले पत्थर तोड़कर, उन्हें आकार देने वाले बापू के औजार उसकी विरासत नहीं बनाते थे। बल्कि बापू ने ही उन्हें विरासत बन देने से रोका था। उसने उसे मण्डी भेजकर कॉलेज की पढ़ाई करवाई थी। और इतना कुछ तो बना ही दिया था कि अपनी रोटी कमाने काबिल रुपया कमा सके। 'ओए,' सैंतालीस की नोक अब एकदम उसके सामने आकर झिंझोड़ रही थी। जैसे सचेत कर रही हो कि ये स्मृतियों में लौट जाने का अवसर नहीं है। ये तुम्हारी मौत के पल हैं, जो यादों के साथ जीने की अनुमति नहीं देते। 'कौण ए ओए तू?' मतलब वह उससे पूछ रहा था, 'तेरा धर्म क्या है बच्चे?'

प्रकाशवीर ने सीधे ए. के सैंतालीस की आँखों में ताका। मौत इतना खौफनाक होती है, इसका अंदाज उन दोनों बार आग देते उन पलों में इस कदर नहीं हुआ था। शायद इसलिए कि उन दोनों बार वह अपनी नहीं दूसरी आत्माओं की मौत का गवाह बन रहा था। उसने गौर किया, सामने जो आदमी ए. के सैंतालीस हाथ में थामे खड़ा था, वह बमुश्किल अट्टारह-बीस साल का जवान होता लड़का था। उसके चेहरे पर दाढ़ी फूट आने भर को थी और उसकी मसं शायद ठीक से भीगी भी न थीं। 'ओए, जे तू सच्चा-सुच्चा सिंघ बीर है तां आजा साडे नाल, ये संताली संभाल ले। खाड़कू महाराज भिंडरावालेजी की चढ़दी कलां। खालिस्तान जिंदाबाद।' ये प्रकाशवीर को उसका दूसरा संबोधन था। पर क्या वे उसे सिख समझ रहे थे? ऐसे में अगर वह बयान कर दे कि वह सिख नहीं है, तब आने वाले क्षणभर में उसकी मौत निश्चित है। उसकी जिंदगी का ये आखिरी आत्मबोध उसके सामने नाचने लगा था। मौत और जिंदगी के बीच अब इतने कम पलों का फासला बचा है जो ज्यादा सोचने विचारने का मौका नहीं देगा। ऐसे में सच जैसा कुछ बोलने का मतलब कुछ बचा नहीं था और यह जो झूठ था वही जिंदगी के प्रति उसकी आखिरी इबादत हो सकती थी। उसने तय कर लिया कि अगर आगे जिंदा बचा रहा तो हमेशा सच बोलेगा, सच के सिवाय कुछ नहीं, मगर इन पलों के पार ये जिंदगी आगे सच बोलने के लिए बच तो ले जरा।

'की नां तेरा ओए सिंघा?' उसने वापस पूछा तो एक पल की देरी किए बिना प्रकाशवीर के मुंह से निकला था, 'परकाश सिंह।' और अगले ही पल वह ये भी जान गया कि अगर क्षणभर की देर हो गई होती या उसने अपना असल नाम प्रकाशवीर उच्चर गया होता, तब निश्चय ही उसे मौत खींच लिए गई होती। लगा उस ए के सैंतालीस के मन में शंका की कोई लहर उठी जरूर है। पर वह सम्पूर्ण संदेह की बजाए द्वंद्व जैसा कुछ रहा होगा। ऐसे में उसने हिदायत दी थी, 'ये क्या तूने परना सिर पे बांध रखा है। ठीक-ठाक से पगड़ी बांधना सीख बीरे।' वह उसकी दाढ़ी को सहलाता हुआ बोला और जरा मुड़कर अपनी सैंतालीस की नोक इंजन पर बर्फ हुए कंडक्टर की तरफ मोड़ते हुए बोला, 'ओए तेरा की नां जे भई बीरे?'

बर्फ का वह तोदा एकदम नहीं डरा, 'भाई बीरजी! कलूटास्यों! होर जे आपणे उस्तादजी हेंगे नै मंगलस्यों।'

सैंतालीस वालों ने मानो तसल्ली कर ली कि वे सिख ही हैं। अब चालक की तरफ तनी सैंतालीस ने अपने दोनों साथियों को आदेश दिया, 'बाहर जाके काम छेती निपटाओ ओ भोलेयो।' और खुद निकलने से पहले एक सार्वजनिक हिदायत दे गया कि गरचे खालिस्तान में जिंदा रहना है, तब सिखी वेश में रहना जरूरी है। 'सुन-सुना लो सारे और आगे जाके लोकों को बता देना जी। संत महाराज भिंडरावालेजी दी चढ़दी कलां। खालिस्तान जिंदाबाद।'।

कुछ पलों के बाद बाहर से ठां-ठां की आवाजें चली आने लगी थीं और अगले कुछ

लम्हों में मोटरसाइकिलों के स्टार्ट होने और फुर्र हो जाने की। बस के अंदर की हवा में कुछ देर तक सन्नाटा रहा फिर अचानक एक औरत जोर से चीख पड़ी और इसके बाद ऐसा चिंगपटाका पड़ा कि मालूम करना ही मुश्किल हो गया कि कौन मरा और कौन जिंदा है। बाहर इतना जबरदस्त अंधेरा था जिसमें देख पाने या उसमें कदम धर देने किसी की हिम्मत नहीं हो रही थी।

इंजन पर जमे कंडक्टर की ठंड अब तक पिघलने लगी थी। होश में आने की किसी कोशिश के साथ उसने समाधान सुझाया। 'रोपड़ से जब बस चली थी तब इसमें पूरी बयालीस सवारियां थीं। बच्चों की गिनती फिजूल है जी। अब गिन लो अंदर कुल कितने बचे हैं। बाकीमान लाशें बाहर जाके गिनने की जरूरत क्या जी।'

बचने वाले उनतीस थे। औरतों समेत। यानी कुल तेरह लोग मारे गए थे। और अगर इस प्रकाशवीर के सिर पर उसके बापू का ये लाल चौखाने वाला गमछा न बंधा होता और अगर सुरजीत को इम्प्रेस करने के लिए उसने अपने चेहरे पर ये दाढ़ी न उगा रखी होती, तो उन मरने वालों में निश्चय ही उसे चौदहवाँ होना था।

ये लम्हे उस बड़े भाई के साये तले जीने के थे। वह आपको मार सकता था। वह आपको जिंदगी की सौगात बख्श सकता था। वह इतना शक्तिशाली था कि उसके साये आपको डरा डालने को काफ़ी थे। आज पूरे तीस साल बाद, क्या अब प्रकाशवीर या उसी की तरह के किसी दूसरे आदमी को ये कहने की जरूरत है, कि इस पूरी कहानी का रिश्ता एक ऐसे उस अनायकत्व वाले वक्त से है, जो खुद के बीतते चलने के हर अहसास के पार हमारी यादों में कुछ इस कदर जिंदा रहता है, जो इस मामूली-सी प्रेमकथा को हमेशा के लिए अपने प्रवाह में बहाए लिए चलती हैं। अलबत्ता ये तो मानाजा सकता है कि ऐसे में इसका रिश्ता हर उस उम्मीद के साथ है, जो इसे प्रभावित करती है और खुद उससे प्रभावित होती है। इसी के चलते इसके कलेवर के अंदर और कलेवर के बाहर, जिसे आज की भाषा में 'पाठ' और 'कुपाठ' कहे जाने की रवायतें हैं, उसी का ऐसा अनुपयुक्त घालमेल है, जिस पर लिखी हर सपाटबयानी पढ़े बगैर आगे के सफर पर निकल पाना मुमकिन नहीं हो सकता। तीन दशक की देरी से ही सही, बड़ा भाई वापस आकर हम-आप सब पर नजर गड़ाए है। ऐसे उन समयों में प्रकाशवीर को लगता था 'क' के संपादक का व्यवहार उसके प्रति अतिरिक्त रूप से संवेदनशील हैं।

वे उसे सिर्फ़ परकाश नाम से ही संबोधित करते थे, पर जब उसकी कोई नादानी सामने आ जाती और डांट देने का उनका मन हो आता तो अक्सर डांट भी देते। पर उन्होंने उसे डांटने का एक नायाब तरीका खोज निकाला था। ऐसे में वे उसे 'पहाड़िया' पुकारते हुए कहते, 'कहां आके फस गया पंजाब में तू?'

यही कोई एक महीना और चंद दिन गुजरे थे, और वे कम से कम आठ दस बार इस वाक्य को बोल चुके थे। एक रोज की भरी दुपहरी में जब पिछली रात एक और बस को रोककर खाड़कू वीरों ने तेईस लोगों को मार गिराया था और वे उसे यही कुछ बोलने को तैयार थे, तब उसने उनसे पहले ही कह दिया, 'सर! अब आगे आप मुझे पहाड़िया नहीं बोलोगे। आज की इस दोपहर के बाद मैं पगड़ीधारी सिख बन रहा हूँ।' वे खामोशी से सुनते भर रहे थे। एकदम चुपचाप। कोई प्रतिक्रिया नहीं दिए। जिस काम को बताने के लिए बुलाया था वह भी बयान नहीं किया। आगे अपनी खामोशी को तोड़कर बोले, 'बाद में बुलाता हूँ।'

सलीके से पग बांधना सीखने में ज्यादा मुश्किल पेश नहीं आई। साथी पत्रकार तरलोचन सिंह ने ये काम दस-पंद्रह मिनट में ही सिखा दिया था। बल्कि उसी शाम तरलोचन सिंह ने

गुलाबी, बसंती और हरे रंग की तीन पगों उसे भेंटकर न केवल उसका काम आसान कर दिया था, बल्कि अपनी दोस्ती भी प्रगाढ़ कर ली थी। पग के साथ चेहरे पर दाढ़ी ज्यादा फबने लगी थी। यूं भी दाढ़ी को लेकर वह बेहद भावुक था। ये उसकी सबसे प्यारी स्मृतियों का हिस्सा थी। पर अब तक इतिहास करवट ले चुका था और ऐसे में उसने ये सुरजीत को इम्प्रेस करने के बजाए उसके साथ गुजरी अपनी यादों को समर्पित कर डाली थी। अगली दोपहर को जब संपादकजी दफ्तर पहुंचे तो वह एकदम खामोश उनके सामने जा खड़ा हुआ था। बसंती रंग की पग बांधे। 'हां कहिए,' उन्होंने उसे नहीं पहचाना था। 'सर मैं प्रकाशवीर नहीं रहा। परकाश सिंह हो गया हूँ।' उसने कहा था।

वे उसे देखते भर रहे थे। एकदम खामोश नजरों से। कुछ नहीं बोले। बस देखते रहे थे।

और वहां से बाहर निकलकर जब वह बाहर आया तब उसकी हैसियत पूरी तरह परकाश सिंह की बन गई थी। बल्कि उसने यह तथ्य अपने तर्ई स्थापित कर लिया कि प्रकाशवीर नाम का कोई आदमी इस धरती पर कभी था ही नहीं। वह तो उस बस में सफर करते वक्त मारा जा चुका है, जो उसे इधर जालंधर में इस अखबार में नौकरी करने को ला रही थी। यह कायांतरण एक महीने से थोड़े से ज्यादा वक्त में हुआ था। डेढ़ माह से कुछ कम अंतराल में। और तो और अब तक वह ऐसी पंजाबी जुबान बोलने लगा था जो जालंधर का कोई मूल निवासी बोलता था। बीच-बीच में कोई शब्द अगर उसकी शिवालिक जुबान की टोन लेकर आ भी जाता तो उस पर वह अपने खाली लमहों में ऐसे बलाघात देता चलता कि वो खुद का खुद पंजाबी होने लगता। सिर्फ टोन का ही तो फर्क था। 'एकदम फिटफाट सिख गबरू!' बाहर आते ही सबसे पहले तरलोचन सिंह ने कहा था। फिर अनायास वह हँस पड़ा था, 'अब तू चाहे तो भिंडरावाला भी तुझे इंटरव्यू दे देगा।'

अचानक तो नहीं, मगर धीरे-धीरे तरलोचन सिंह की उस मजाक के लहजे में कही गई वो अनायास बात उसके जहन में घर करने लगी थी। आने वाली कई रातों में ये उसे रह रहकर कचोटती रही थी। एक रात उसने अपना ये इरादा पक्का कर लिया था। और उसी रात की सुबह होने तक, उसने तय कर लिया कि उसे भिंडरावाले से मिलकर उसका इंटरव्यू करना है। वह ये जानना चाहने के लिए व्यग्र हो गया, कि आखिर भिंडरावाला भी हमारी-आपकी तरह इन्सान होकर क्यों इन्सानी खून को इस धरती पर बहाने में जुटा है? यह इरादा आने वाले हर लम्हे में कुछ इस कदर पक्का होता चला गया, मानो अब उसके जीवन का इससे आगे कोई उद्देश्य ही न बचा हो।

सुबह ग्यारह बजे दफ्तर में पहुंचते ही उसने तरलोचन सिंह को कैंटीन में ले जाकर अपना ये इरादा जाहिर कर दिया। पर उस पर कोई सामान्य प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह अजीबोगरीब नजर से उसकी आँखों में देखता भर रह गया। उस मुद्रा में जो किसी भी व्यक्ति को अचानक संज्ञाशून्य बना डाल सकती है। उसके चेहरे का रंग बदलने लगा था। पहले ये एकदम लाल हुआ था। उसके बाद धीरे-धीरे भूरा फिरता हुआ आखिर में पीला पड़ गया। प्रकाशवीर ने उसके हाथ पर अपना हाथ रखते हुए पूछा, 'तरलोचन प्रा, क्या हुआ?'

'कुछ नहीं,' अपने होश वापस पा चुकने के बाद उसने जवाब दिया। 'होने वाला है।'

वह उसे देखता भर रहा था। जब उसके चेहरे का रंग अपने मूल रंग में आ गया तब वह जरा-सा मुस्करा दिया था। उसने चाय की प्याली उठाकर तीन चार घूंट इकट्ठा भर लिए। फिर आहिस्ता आहिस्ता बोलने लगा, 'ओए बीरे! इस खामख्याली को अपने दिमाग से निकाल

बाहर कर दे। कहीं अगर तू उस तक पहुंच भी गया तो समझ ले, या तो परलोक जाएगा या फिर हाथ में ए के सैंतालीस लेकर लौटेगा।’

उसने शायद सोचा होगा, प्रकाशवीर डर जाएगा, हालांकि वह यह सब डराने के लिए भी नहीं कह रहा होगा। ये उसके अंदर की आवाज थी। पर शायद वह बूझ नहीं रहा था कि ये प्रकाशवीर अब तक की अपनी जिंदगी के सारे डर उस रात बस के उस सफर में वहीं छोड़कर आया था, जहां ए. के सैंतालीस की ठां ठां आवाजों ने धरती पर पसरे अंधेरे में तेरह जिंदा आदमियों को चंद पलों में लाशों में बदल डाला था। और खुद अगर वह जिंदा था, तो इन दो प्रतीकों के कारण जो इस वक्त उसके चेहरे और सिर पर थे। जिंदगी में पहली बार सिर पर पगड़ी बांधी थी और उसके लिए बसंती रंग चुना था। यूं भी मौसम में अब तक बसंत उतर रही थी और आगे डेढ़ महीने के बाद बैसाखी का पर्व था। वही बैसाखी जिस पर छः साल पहले निरंकारियों ने छः सिखों को कत्ल कर एक ऐसे पंजाब की नींव धर दी थी, जिसमें अब आकर किसी विधान का राज होने के बजाए एक ऐसे व्यक्ति का शासन था जो निर्दोष लोगों को मरवाने में अपने अलग देश का सपना बुनता देखता था। पर ये बसंती पगड़ी तो उसी देश के एक वाशिंदे की थी। और उसे उसके एक मित्र तरलोचन सिंह ने भेंट में दी थी।

‘तेरे सिर पे मैंने पग बांध दी है, पर आगे तू क्या समझता है कि भिंडरावाला तुझे अकालतख्त पर सिरोपा भेंट करेगा?’ तरलोचन सिंह ने कहा। ‘उठ चल,’ उसने प्रकाशवीर की कलाई पकड़कर कहा। ‘आ काम करते हैं। भूल जा ये सब फिजूल की बातें।’

प्रकाशवीर उसे समझाना चाहता था कि वह कोई फिजूल की बात नहीं कर रहा, पर उसके ऐसा कहने से पहले ही वह बोला, ‘तेरी सोच बड़ी खतरनाक है।’

अगले कुछ दिनों तक प्रकाशवीर अपने दिमाग के अंदर चल रही इस परियोजना पर विचार करता रहा था। एक प्रमुख सवाल उसके सामने ये था कि क्या उसे किसी को बिना बताए सीधे गुरु की नगरी अमृतसर में चलकर भिंडरावाले से मिलने की कोशिश करनी चाहिए? इसका जवाब इस धरती पर फैलती चलती अफवाहों के रूप में जरूर मिलता था। और अजीब बात कि उनसे डर जाने की बजाए उसका इरादा ज्यादा पक्का होता चलता था। वे अफवाहें उसे और-और उद्वेलित करने लगती थीं। मसलन उनमें एक आम-फहम अफवाह ये थी, कि भिंडरावाला अकालतख्त के जिस कमरे में रहता है, वहां मिट्टी का एक खाली घड़ा रखा है। जब भी कोई नया व्यक्ति उस कमरे में ले जाया जाता है, तो भिंडरावाला उसे उस घड़े में हाथ डालकर एक पर्ची निकालने को कहता है। उस पर्ची पर किसी व्यक्ति का नाम और पता लिखा रहता है। भिंडरावाला सामने आए व्यक्ति को आदेश देता है कि पर्ची में जो नाम निकला है, उसे मारकर आ, अगर नहीं मार सकता तो इधर पड़ी एक खाली पर्ची उठाकर अपना नाम पता लिख और उस घड़े में डाल दे। ‘तेरे साथ यही होने वाला है, मेरे परकाश बीरे,’ तरलोचन सिंह ने उसे डराने की कोशिश में कहा था।

प्रकाशवीर ने ‘क’ के अपने संपादक से इस बाबत बात की तो पहले तो वे सन्न से देखते रहे फिर जब उनकी संज्ञाएं वापस लौटीं तब उन्होंने उसे तरलोचन सिंह से भी ज्यादा डराने की कोशिश की थी। यानी ऐसा कुछ सोचना भी मत। ‘उसका’ इंटरव्यू तो ‘रब्व’ भी नहीं ले सकता। किंतु वे यह न समझने की भूल कर रहे थे कि जब कोई आदमी सिर पर कफन बांध ले तब उसके भीतर के सारे डर एकदम खत्म हो चुकते हैं। ऐसे कि उनसे आगे उसे कोई डरावना शब्द तो क्या कोई डरा हुआ व्यक्ति भी डरा नहीं सकता। अपने इस आंतरिक

तथ्य के भान के बाद प्रकाशवीर को अपने अंदर उगे इस एक सवाल का जवाब नहीं मिल पा रहा था कि आतंक फैलाने के लिए लगातार हत्याएं करते चलते भिंडरावाले के वे युवा आखिर अपनी मौत से काहे नहीं डरते हैं। जबकि उन्हें मालूम रहता है कि वे आने वाले वक्त के किसी भी लमहे में मारे जा सकते हैं। वे अपने मर जाने को अपने जीते जी कुछ कदर क्यों ग्लैमराइज कर चुके हैं कि वे अपने उस काल्पनिक मुल्क के लिए अपनी जिंदगी की कुर्बानी दे रहे हैं जो उनकी कौम को हासिल होने वाला है। पर वे शायद ये नहीं समझना चाहते कि उन्होंने अपनी इन हरकतों के नतीजे के तौर पर राज्य की ताकत को ऐसा धिनौना, क्रूर और अमानवीय चेहरा अख्तियार करने का संवैधानिक अधिकार दे दिया है जो किसी को भी एनकाउंटर के नाम पर मार सकता है। आतंक से दूर-दूर तक कोई रिश्ता न रखने वाले नौजवानों को मौत के घाट उतार देने की आजादी उस व्यवस्था को इन्होंने ही हासिल करवाई है। ऐसे में प्रकाशवीर भलीभांति जानता रहा था कि उन हालात में उसके सामने दोहरा खतरा होगा। हालांकि अब तक वह पूरी तरह पगड़ीधारी सिख था, पर अगर भूल से भी भिंडरावाले के किसी तत्त्व को उस पर शक हो गया, तो वह उसे पल भर की देर किए बिना उड़ा देगा और इसके बरक्स अगर राज्य की उस एनकाउंटर वाली ताकत को उसके भिंडरावाले से मिलने की इच्छा की जरा सी भनक लग गई, तब ये राज्य की आतंकवादी गोलियां उसे भून डालेंगी। यानी वह खुद को तलवार की ऐसी सान पर निकाल लिए जा रहा था, जहां सब तरफ सिर्फ मौत ही मौत थी। ऐसा ही कुछ समझा पाने में तरलोचन सिंह ने उसकी खासी मदद की थी।

मगर उसके अंदर एक ऐसा जुनून था जो उसे बेरोकटोक उसी लाइन पर धकेल लिए जा रहा था। मानो इस जीवन का अब तक एक ही उद्देश्य बचा हो। उसे लगता था कि अगर वह अपनी एक अंतिम इच्छा भी पूरी नहीं कर पाया तो फिर ये जीवन बेकार है। पर जब भी तरलोचन सिंह से उसने ऐसा कुछ कहा, तो उसका जवाब एकदम साफ़ होता, 'ये जो आतंक फैलाने वाले लड़के हैं उनकी और तेरी सोच में कोई फर्क नहीं बचा है।' वह हर हाल में उसे अपने लिए तय किए गए इस रास्ते से हटाना चाहता था। पर जब वह कहता कि अगर तुझे मरना ही है तो फिर इस तरीके से मरने की जरूरत क्या है, ऐसे में तो दो चार को मारकर मर ले, तब उसके इन शब्दों में उसे आशा की किरणें दिखने लगती थीं। हैरानी की बात ये कि वही सच होने वाला था और प्रकाशवीर खुद क्या, कोई भी दूसरा तीसरा व्यक्ति ऐसी कल्पना नहीं कर सकता था कि उसके इस काम को पूरा करवाने में कोई अन्य नहीं, बल्कि खुद तरलोचन सिंह मददगार होने वाला था।

इसके आगे बीस दिन और बीत गए। इक्कीसवें दिन तरलोचन सिंह ने प्रकाशवीर से कहा कि अगर तुझे नहीं मानता है तो परसों आने वाले इतवार को मेरे साथ मेरे घर करतारपुर चल दे। वहां मैं तुझे एक खालिस्तानी से मिलवा दूंगा। मेरी नजर में भिंडरावाले से अगर कोई तेरा इंटरव्यू करवा सकता है तो सिर्फ वही और वही एक आदमी करवा सकता है।

प्रकाशवीर को ऐसी उम्मीद नहीं हो सकती थी कि मामला इस कदर आसान है। थोड़ी देर की हैरानी के बाद उसने सवाल किया कि तू उस आदमी को कैसे जानता है?

'वह मेरा सगा चाचा है,' उसने अब बेहिचक जवाब दिया। 'तूने सुखजिंदर सिंह का नाम सुना है?'

जरूर सुना होगा, पर एकदम कहां से याद आ जाता। ऐसे में उसने खुद ही बता दिया, 'ये वही आदमी है जो अकाली सरकार में शिक्षा-मंतरी था।'

याद आ गया। अखबारों में उसके बयान छपते थे। वह खालिस्तान का सरेआम प्रचार

करता था। वह भिंडरावाले के खाड़कू तौर तरीकों की तारीफ करता था। गोलियों से बस यात्रियों को भून डालने वालों को वह खालिस्तान देश का सच्चा बेटा कहा करता था। उसी ने अखबारों के मालिकों को निर्देश दिए थे कि हमारे इन वीर-बालकों को आतंकवादी या उग्रवादी लिखने की बजाए सिर्फ और सिर्फ खाड़कू लिखा जाए। निरपराध आम जनता के युवा तबके में राज्य का आतंक फैलाने वाले सारे बल उसका बाल भी बांका नहीं कर सकते थे। अजीब बात थी, कि वह भिंडरावाले की तरह अकालतख्त जैसी महफूज जगह पर भी नहीं छिपा था। सारे जहान में घूम आने के बाद करतारपुर में आकर अपने घर में रहता था। और वही अपने इस तरलोचन सिंह का सगा चाचा था। यह तरलोचन सिंह का उसके बारे में पहला बयान था, जो उसने बतौर परिचय प्रकाशवीर को दिया था।

‘क्या संपादक जी इस सच से वाकिफ हैं?’ प्रकाशवीर ने पूछा, तो वह हँस पड़ा, ‘संपादक जी? यार बीरे, इस अखबार के दफ्तर में हर कोई जानता है। पर वे ये भी जानते हैं कि मैं खाड़कूओं का हिमायती नहीं हूँ। उनका विरोधी हूँ। और इस सरकारी आतंकवाद का भी विरोधी हूँ। किसी दूसरे के वास्ते नहीं बल्कि अपनी जमीर के चलते भई। तभी तो आठ सौ रुपए की ये नौकरी कर रहा हूँ। तू जानना चाहता है, वे सब मेरे बारे में क्या कुछ कहते हैं?’ कुछ देर की चुप्पी के बाद वह वापस बोला, ‘वे मुझे इन हिंदू महाशों और लालों का चमचा और गुलाम कहते हैं। वे कहते हैं कि मैं इनके दिए टुकड़ों पर पल रहा हूँ। और अपने पंथ से गद्दारी कर रहा हूँ। पर वे मुझे मार नहीं सकते क्योंकि मैं सुखजिंदर सिंह का भतीजा हूँ। यकीन कर अगर ऐसा न होता तो आज तक फौत हो लिया होता।’

उसी रोज शाम होते न होते, प्रकाशवीर ने अपने संपादक के पास जाकर सुखजिंदर सिंह से मिलने की अनुमति मांगी। उन्होंने सिर्फ सिर हिलाया था।

तरलोचन सिंह ने अपने चाचा से उसका परिचय इतना भर करवाया: चाचा! इस बंदे का नाम परकाश सिंह है। अपना यार है। ठाठ सिख है। अलबेला आदमी है। इसके कोई न आगे है और न कोई पीछे। पत्रकार बंदा है। भिंडरावाले से मिलकर उनका इंटरव्यू करना चाहता है।

आगे आने वाले हर सवाल के लिए प्रकाशवीर खुद को तैयार करके आया था। सुखजिंदर सिंह ने शायद अपनी पत्नी को आवाज लगाई। अंदर की तरफ से जो अर्धे उमर की औरत आई, वह जवानी के दिनों में कितना सुंदर रही होगी इसका अंदाज उसके वर्तमान से बखूबी हो रहा था। सरदार सुखजिंदर सिंह ने उसके सामने आते ही कहा, ‘सरदारनिणं, इस बच्चे को कुछ खिला पिला। घणी लस्सी ले आ।’

अगली सुबह तरलोचन वापस अपनी ड्यूटी पर लौट गया था। और प्रकाशवीर इसके अगले तीन दिन तक सुखजिंदर सिंह के घर पर मेहमानवाजी का आनंद लेता पड़ा रहा था। उसे वह एकदम सलीकेदार, पारिवारिक किस्म का घनघोर आस्थावादी और बहुत प्यार-सा इन्सान लगा था। गुरुग्रंथ साहिब के पाठ में वह सुबह का एक घंटा बिताता था। प्रकाशवीर को उसके घर के अंदर इस छोटे से वक्त में यही महसूस होता रहा मानो वह अपने किसी अंतरंग रिश्तेदार के घर आकर ठहरा है। कभी एक बार को भी उसने या उसकी पत्नी ने ये जिज्ञासा प्रकट नहीं की, कि वह कौन है, कहां से आया है और भिंडरावाले का इंटरव्यू करने में उसकी दिलचस्पी क्यों है। एक बार को भी नहीं। और तो और उसने उनके यहां किसी ऐसे व्यक्ति को आते जाते भी नहीं देखा जिस पर संदेह पैदा होता। जबकि सूबे की हवा में ऐसी अफवाहें तैरती चलती थीं, कि उसका ये घर आतंकवादियों की शरणस्थली है। पर प्रकाशवीर को इधर ऐसी

कोई गतिविधि होती नहीं दिखी जो उसके व्यवहार पर रत्तीभर भी शक पैदा करती। गुरुग्रंथ साहिब के पाठ के इलावा उस घर में प्रकाशवीर के लिए दूसरा कुछ नया या अजनबी नहीं था। जैसे बरसों से वह इस घर का सदस्य रहा हो।

सरदार सुखजिंदर सिंह और उनकी पत्नी सुखजिंदर कौर दोनों के निजी स्नेहशील व्यवहार, उनकी संयमित वाणी, गुरुग्रंथ साहिब के प्रति उनकी गहन आस्था और प्रकाशवीर जैसे अजनबी के साथ अपने घर के अंदर किए जाने वाले स्नेह, प्यार, मोह और भावना से भरे उनके व्यवहार के बाद उसे अपने मित्र और इनके सगे भतीजे तरलोचन सिंह की बातों पर बहम होने लगा था। बल्कि उसके भीतर एक ऐसा विश्वास पैदा हुआ कि इस कदर आदमियत से भरे जिस दम्पति के साथ वह रह रहा है, वे मानवता के प्रति कोई अपराध कर सकें, ऐसा एकदम मुमकिन नहीं है। इस विश्वास के बाद उसने सरदार साहिब से सुबह के नाश्ते पर बेहिचक पूछ लिया था, 'क्या आप खालिस्तान के समर्थक हैं?'

सरदार साहिब ने उसके इस सवाल को जिस सहजता से लिया वह हैरानी पैदा करने के लिए अलग से एक प्रस्ताव देता था। वे हल्के से मुस्कराए और अपनी पत्नी की तरफ देखकर बोले, 'सरदारनिणं, तू इसका जवाब देगी या मैं दूँ।'

वे खामोश नजरों से उसकी ओर देखती हुई बोलीं, 'काकाजी, तुमको हमारे घर का ये सफेद मक्खन पसंद नहीं आया? परौंठा क्यों नहीं खा रहे हो?'

इसके बाद सरदार साहिब धीरे-धीरे बोलने लगे, 'वीरे! खालिस्तान का मतलब तू क्या समझता है? 1947 में हिंदुओं को हिंदुस्तान मिल गया। मुसलमानों को पाकिस्तान। पर ये बता जरा सिखों को क्या मिला? किसी ने उनको एकबारगी भी पूछा कि उन्हें क्या चाहिए?' उन्होंने मुंह में रोटी का कौर डालने के बाद उसे अच्छी तरह चबाया और इसे पूरी तरह निगल लेने के बाद बोले, 'हमारा पंथ कैसे दो फाड़ हो गया कभी सोचा किसी ने। ननकाना साहिब और हमारे कई गुरुद्वारे उधर छूट गए। गुरदासपुर जाके सामने देखना कैसे महज सौ गज की दूरी पर करतारपुर साहिब में गुरु का घर दिखता है, और हम उसमें जाके मत्था नहीं टेक सकते, क्योंकि वो पाकिस्तान में है और हम इधर इस सौ गज पर आ गए हैं इस हिंदुस्तान में। हम अनगिनत बार ये गुजारिश कर चुके हैं कि गुरु के इस घर तक इधर से कोई बंद कारीडोर ही बना दो ताकि हम लोग जाकर मत्था टेके और वापस आ जाएं पर किसी ने सुना आज तक। फिर भी बाब्यों, हमने खुद को मना लिया था, कि चलो कोई बात नहीं हिंदुस्तान ही अब हमारा मुल्क है। पर पूरे सैंतीस साल बीत गए। बताओ जरा इस मुल्क की सरकार ने हमारे पंथ के खिलाफ हुरलियां मारने के सिवा किया क्या है? ये हिंदुस्तान की सरकार हमारे पंथ के खिलाफ वितकरा करती है। अगर ये मुल्क हमारा भी है, तो इसके संसाधनों पर हमारा अधिकार होना चाहिए कि नहीं। पर नहीं हमको वे निचले दर्जे का नागरिक बनाके रखना चाहते हैं। ऐसे में मामला सिख कौम के मान का है। हमको हिंदुस्तानी सरकार से कोई भीख नहीं मांगनी है। अपनी आजादी और सम्मान के तई तो हमारी पातशाहियों ने अपने बच्चों तक को अपनी आँखों के सामने जिंदा दीवारों में चिनवाने दिया था। दसवीं पातशाही ने एक एक सिख को सवा लाख से लड़वाया था।' सुखजिंदर सिंह ने ये सारे शब्द एकदम सहज आवाज में कहे थे। कहीं कोई कटुता जैसे थी ही नहीं। सिर्फ एक दृढ़ता थी। एक बेहद शांत नजर आती शैली में अपने गुस्से को कैसे आवाज दी जा सकती थी, ये उसने पहली बार देखा समझा था। एक बार को भी उन्होंने अपनी आवाज को ऊँचा या नीचा नहीं किया था। 'काकाजी, यकीन करो इस कौम के लिए अपने संतजी उसी दसवीं पातशाही का सपना बनकर आए

हैं। अब कोई वितकरा बर्दाशत नहीं होगा। हम अपना मुल्क अपनी मर्जी मुताबिक बनाएंगे।’

‘सरदार साहिब!’ प्रकाशवीर ने कहा। ‘आपको जो भी जायज या नाजायज गुस्सा हिंदुस्तान की सरकार के खिलाफ है उसे आप निर्दोष लोगों को मौत के घाट उतारकर क्यों निकाल रहे हो? मेरी समझ में नहीं आता बसों में सफर करते लोगों को गोलियों से भून डालने का मतलब क्या है। क्या उन निहत्थे लोगों की लाशों पर आप खालिस्तान बनते देखना चाहते हो? मुल्क की सरकार पर दवाब बनाने का दूसरा कोई रास्ता आपको नजर क्यों नहीं आता?’

सरदार साहिब ने खाने से अचानक हाथ रोक लिए और थाली पत्नी की तरफ सरका दी। फिर प्रकाशवीर की तरफ नजर उठाई, ‘काकाजी, तुम संत साहिबजी से मिलना चाहते हो न?’

‘हां!’ उसने जवाब दिया। ‘मैं उनसे यही सवाल पूछना चाहता हूँ।’

‘ठीक है,’ सरदार सुखजिंदर सिंह ने कहा। ‘पूछो। वैसे अपनी तरफ से कह दूँ कि आस्था पर सवाल नहीं पूछे जाते।’

अकालतख्त के अंदर एक छोटे से अस्त-व्यस्त कमरे में बाण के नंगे मंजे पर एक दुबला पतला-सा व्यक्ति अपनी कमर पर तंबा लपेटे बैठा था। उसके सिर पर पीली पग और चेहरे पर बिखरी दाढ़ी थी। आँखों में एक खास किस्म की चमक नजर आ रही थी। प्रकाशवीर ने उसे पहली ही नजर में पहचान लिया। हालांकि अखबारों में उसके जो फोटो छपते थे, उनके मुकाबले साक्षात् देखने पर आदमी एकदम अलग था। पर था वही। पहचानने में कोई भूल होने का सवाल नहीं उठा। ये संत जरनैल सिंह भिंडरावाले बिल्कुल एक साधारण-सा आदमी दिखा था। प्रकाशवीर ने कमरे का हलका सा जायजा लिया। इस मंजे के सिरहाने की तरफ वाली दीवार पर गुरु गोविंद सिंह की आदमकद तस्वीर टंगी थी। बाकी तीनों दीवारें एकदम खाली थीं। कमरे के एक कोने में एक आदमी हाथ में एक सैंतालीस पकड़े खड़ा था। सरदार सुखजिंदर सिंह के साथ प्रकाशवीर जब बाहर से इस कमरे की तरफ आ रहा था, तब उसे इसी आदमी जैसे बहुत सारे लोग दिखे थे, जो युद्ध के मैदान में प्रयोग होने वाली बख्तरबंद गाड़ियों की तरह लग रहे थे। वे सब के सब नंगे पांव थे। लेकिन इधर आने से पहले प्रकाशवीर के दिल में कुछ जो शंकाएं मौजूद थीं, वैसे कुछ इधर उसे साफ़-साफ़ दिखा नहीं। उनमें से किसी ने उसे अविश्वास या संदेह भरी नजर से भी नहीं ताका था। और वे सब किसी असामान्य या अतिरिक्त चौकस हालत में भी महसूस नहीं हुए थे। बल्कि एकदम असावधान मुद्राओं में इधर चहलकदमी करते चल रहे थे। असहज जैसा कहीं कुछ नहीं था। हां, भिंडरावाले को उस अस्त व्यस्त कमरे में उस साधारण सी हालत में बैठे देखकर उसे जरूर हैरानी हुई थी। वह तो ये कल्पना करके गया था कि वह किसी राजा महाराजा की तरह सिंहासन पर बैठा होगा और उसकी एक ताली पर वहां सेवक दौड़े चले आएंगे। ऐसे में पहली नजर में उसे एक अच्छा भला झटका लगा था। इसके पार उसने उस कमरे के हर कोने में अपनी नजर से उस घड़े की तलाश की थी, जिसके बारे में पूरा पंजाब मानता चल रहा था, कि आने वाली हत्याओं की परिचियां उसके अंदर भरी पड़ी हैं। पर उसे वह घड़ा भी कहीं नजर नहीं आया। हां, पानी की एक छोटी-सी सुराही उधर एक किनारे जरूर पड़ी थी। अंदर आकर सुखजिंदर सिंह ने संत के पैर छुए। संत ने उनके कंधे पर हाथ रखा और वे फर्श पर बिछी दरी पर चौकड़ी मार कर आ बैठे। इसके बाद प्रकाशवीर ने भी आगे बढ़कर उनके चरण छुए और एक कदम पीछे आकर खड़ा हो गया।

‘आजा काके,’ भिंडरावाले ने अपने मंजे पर दो बार हाथ मारते हुए उसे अपनी बगल

में आ बैठने का इशारा किया। पर वह नीचे सुखजिंदर सिंह की बगल में थोड़ा-सा हटकर जा बैठा। कुछ पलों के वक्फे के बाद एक आदमी अपने दाएं कंधे पर एके सैंतालीस लटकाए और हाथों में ट्रे लिए सामने आ खड़ा हो गया। उसमें पानी के गिलास थे।

‘काकाजी,’ सुखजिंदर सिंह ने कहा। ‘माझे की पंजाबी द्वाबे से जरा-सी अलग है। पर समझकारी में मुश्किल न आएगी।’

उनके कहने का मतलब वह बखूबी समझ गया था। संत भिंडरावाले को जो पंजाबी बोलनी थी, वह ज्यादा ठेठ होने वाली थी। उस पूरे आंदोलन में भाषा के महत्त्व को वह भली-भांति समझता था। बल्कि पहचान का ये आंदोलन भाषा से ही शुरू होता था। पंजाबी सूबा आंदोलन इसी आधार पर टिककर कामयाब हो चुका था और पिछले दो बरस ‘मोर्चे’ के नाम से चला जो आंदोलन अभी हाल-फिलहाल खत्म हुआ ही था, उसका भी यही आधार था। उस आदमी की काया देखकर वह हैरान था कि इस टटके से लगते आदमी के इर्द-गिर्द, पूरी सिख राजनीति कैसे धर्म आधारित खाड़कू न्याय की मोहताज हुई पड़ी थी। और इसके पार उसे अपने तौर पर पंजाब के जुग्राफिए का इतना ज्ञान तो अब तक उसे हो गया था, कि ब्यास और सतलुज नदियों के बीच का जालंधर-होशियारपुर का इलाका द्वाबा, इसके उत्तर-पश्चिम का अमृतसर की तरफ का यह क्षेत्र माझा और सतलुज के उस पार दक्षिण पूर्व का इलाका मालवा कहलाता था। इन तीनों क्षेत्रों की पंजाबी भाषा सांझा होते हुए भी बोली के स्तर पर काफ़ी कुछ अलग थी। हालांकि ऐसा नहीं था कि वह उसे समझ ही न पाता। सुखजिंदर सिंह की बात पर उसने सिर हिलाया। पर भीतर असहजता का एक भाव जरूर मौजूद रहा था। वह भिंडरावाले से एकदम अकेले में बात करना चाहता था। उसे इस बात की हैरानी हुई कि संत ने उसके इस असमंजस को ताड़ लिया। कुछ पलों के बाद सुखजिंदर सिंह उठकर बाहर चले गए और जो बख्तरबंद आदमी कमरे के उस कोने में मौजूद था, वह भी निकल गया। बल्कि पानी की सुराही को भी उठा ले गया। अब उसके सामने मंजे पर भिंडरावाले था। गुरु गोविंद सिंह की तस्वीर वाली दीवार की तरफ के कोने में एक मैला-कुचैला-सा सिरहाना पड़ा था। संत उसी पर कुहनी टिकाए अधलेटा पड़ा हुआ था। ‘काके! मंजे पर आके बैठ।’

पता नहीं क्यों, प्रकाशवीर को लगा कि ये आदमी अंदर से उतना खूंखार नहीं है जितना इसकी छवि खुद उसके और इस कमरे से बाहर बाकी के संसार में व्याप्त है। वह जरा-सी असहजता और थोड़े से संकोच के साथ उठ खड़ा हुआ और उस आदमी के पैरों की तरफ मंजे पर जा बैठा। जिस व्यक्ति की आदमियत पर उसे गम्भीर संदेह था, अब वह उसके ठीक सामने था। और खुद अपने अविश्वास के पार उसके अंदर पैठे संदेह के कई कोने अनायास दरकते चल रहे थे। ‘क्या जानना चाहते हो?’ संत ने पूछा।

उस रात के बाद, जब प्रकाशवीर ने उन तेरह मौतों की गवाही अपने अंदर दर्ज की थी, और आगे आने वाले महज इन डेढ़ दो महीनों की अपनी जिंदगी में अपने दिमाग के अंदर सवालियों का इतना मलबा इकट्ठा कर लिया था, कि उसे बतलाने में ही जिंदगी के कुछ बरस लग सकते थे। पर अचानक उसे लगा कि मलबे के उस ढूह में वे सारे सवाल इस कदर दब गए हैं मानो उसकी पूरी यादाश्त का कचूर निकल लिया हो। जबकि अभी कुछ ही देर पहले जब वह सरदार सुखजिंदर सिंह के साथ, सिखों द्वारा ही नहीं बल्कि हिंदुओं द्वारा भी अति-पावन माने जाने वाले इस स्वर्ण मंदिर परिसर की दर्शन ड्योढ़ी लांघकर भीतर आ रहा था, तब तक उसके भीतर सवालियों का एक पूरा झंझावात उसे बुरी तरह परेशान किए हुए था। परिसर को लांघते हुए और अकालतख्त के इस कमरे तक आते-आते वह उस झंझावात में ऐसा जा उलझा

रहा था, जिससे निकल आने के बाद इधर अब कुछ भी स्पष्ट नहीं था। वह साक्षात् उस संत की बगल में था, जिससे सवाल पूछने के लिए वह उतावला ही नहीं बल्कि पूरी तरह बावला होकर आया था। और अब वे ही सवाल ऐसे गुम गए थे, जैसे उनका होना कभी कोई संभावना ही न रहा हो। अब तक उसका दिमाग पूरी तरह एक खाली स्लेट की तरह था। इसके अंदर कोई ऐसा सवाल मौजूद ही नहीं रहा था, जो वह इस आदमी से पूछ पाता, जिसके सामने वह बैठा था। मगर वहाँ खामोश बने रहने में उसे किसी ऐसे नामालूम खतरे का आभास जैसा कुछ हो रहा था, जो उसकी जिंदगी का सबसे बड़ा दुश्मन बनकर उभर आता। 'आपने अपने इर्द-गिर्द इतने सारे बख्तरबंद लोग क्यों इकट्ठा कर रखे हैं?' बिना कोई आगा-पीछा सोचे समझे उसने कहा। 'आप संत आदमी हैं, फिर आपको डर किससे है?'

हर शंका के उलट वह प्रकाशवीर की तरफ सीधे देखता हुआ जरा-सा मुस्कराया और उसी मुस्कराहट में, अपनी माझे वाली ठेठ पंजाबी में बहुप्रचलित एक कहावत उच्चर दी, 'काके, दुनिया मानती है जोरों को, लाख लानत है कमजोरों को।' (दुनियां मनदी ए जोरां नूं, लक्ख लाणत ये कमजोरां नूं।)

लगा तो उसे ये कि उसके सवाल को टालने की गरज से इस घड़ी हुई कहावत का सहारा लिया गया है। इस कहावत को सुन लेने के बाद उसे पूरी तरह अहसास हुआ कि इस कमरे की बंद हवा में वह उससे ज्यादा कुछ सवाल कर नहीं पाएगा। अब आकर जब वह सोचता है, तो उसे खुद ही इस बात का जवाब नहीं मिल पाता कि आखिर उस हवा में ऐसा क्या था? मगर एक अच्छी बात वहाँ ये हुई कि उसे आगे ज्यादा कुछ पूछने की जरूरत ही नहीं पड़ी। भिंडरावाला खुद ही ऐसा कुछ बोलता चला गया जो उसके दिमाग के अंदर चल रही बातों का आईना था और असल में जिसे जान पाने के लिए खुद प्रकाशवीर वहाँ गया था। उसे पूरी शिद्दत के साथ ये अहसास हुआ कि अगर वह अपने सवालों के उस आंतरिक झंझावात से मुक्त न हो गया होता तो निश्चय ही वह उस संतनुमा आदमी के दिमाग में चल रही बातों को शायद ही इस गहराई से जान पाता। गजब का दिमाग था उसके पास जिसमें महज एक ही खिड़की थी और वह सिर्फ उस दिशा में खुलती थी, जिसमें वह उसे खोलना चाहता था। बाकी सब दिशाओं में कठोर दीवारें थीं। कहीं से हवा के अंदर आ पाने की कोई गुंजायश थी ही नहीं। उसकी उस कहावत के बाद उसका पहला वाक्य था, 'काके, पंजाब की धरती से जिस रोज हिंदू भाग खड़े होंगे तब समझ लेना खालिस्तान आप से आप बन जाएगा।'

'क्या ये धरती हिन्दुओं की नहीं है?'

'हिन्दुओं को हिन्दुस्तान मिल चुका। मुसलमानों को पाकिस्तान। सिखों को क्या मिला? तू बोल तुझे क्या मिला। तू पगड़ीधारी सिक्ख है। तू ही बता दे। क्या मिला तुझे?' पूछते पूछते वह जरा सा रुका और आगे मानो कोई घनघोर सवाल पूछने को उद्धत हो गया, 'अच्छा चल तू मुझे एक बात बता...हिंदुओं के लिए अलग परसनल लॉ है कि नहीं।'

'मुझे नहीं मालूम।'

'और अब ये बता मुसलमानों के लिए अलग है कि नहीं?'

प्रकाशवीर ने वापस वही शब्द दोहरा दिए, 'मुझे नहीं मालूम।'

'ओए सिंधा, तुझे कुछ मालूम भी है कि नहीं?' उसने अपनी आवाज जरा-सा ऊँचीकर पूछा, 'तू ये जरूर बता दे कि सिखों के लिए क्यों नहीं है? क्या सिख कौम किसी हिन्दु तानाशाह की बांदी है? गुलाम है उसकी? जो फरमान दिल्ली से आ गया उसको सिर झुका के मान लेने को मजबूर है? तू बोल, क्या हमारी कौम खुसरो का अड्डा है जो चाहे दिल्ली से जो

फरमान आ जाए हम उसे गड़प करते जाएं? बोल भला क्यों? उन लोगों ने संविधान नाम की कोई किताब लिख रखी है। मेरे काके मुझे बताते हैं कि उसमें कहीं पर एक छोटा-सा शब्द छिपछिपा के लिख दिया कि सिख हिन्दू-धर्म का हिस्सा हैं। ये बुद्धों और जैनियों को खा चुके। पर यकीन कर ओए सिंघा मैं इनको सिख धर्म को छूने नहीं दूंगा। ऐसा वितकरा आगे नहीं चलने वाला। हम अपने गुरुओं की सीख के मुताबिक जिएंगे। दिल्ली की गुलामी करके नहीं। तू बोल क्या बोलता है?’ फिर जैसे उसे कुछ ऐसा याद आया, जो जैसे बहुत पहले आ जाना चाहिए था, ‘ओए काके, तूने अमृत छका है?’

‘नहीं!’ ये जवाब देते वक्त प्रकाशवीर को ये अहसास था कि अब उसके गुस्से का कोपभाजन जरूर बनना पड़ेगा। बल्कि बातचीत की शुरुआत से ही वह ये मानकर चला था कि असहमति के किसी एक शब्द पर ही या तो वह उसे मरवा देगा या यहां से उठवाकर दूर कहीं फिंक्वा देगा। पर ऐसा किसी एक पल को भी नहीं लगा कि वह ऐसा कुछ करने वाला है। उसके इस ‘नहीं’ के जवाब पर वह दिल खोलकर हंस पड़ा, ‘देख सिंघा, बिना अमृत छके किसी बंदे से मैं नहीं मिलता। असल सिंघ वोई है, जिसने अमृत छका हो। पांच ककारों के बगैर रहने वाला सिख असल सिख नहीं है।’ इससे आगे कुछ पूछने की जरूरत बची नहीं। वह अपने आप से ऐसा कुछ बोलता चला गया जो उसके दिमाग का खुलासा कर देता था। ‘पर जाने दे। अब तू गुरु के घर में है। एक बारगी गुरु के घर में जो नमाणा सिख आ गया उसका हर गुनाह माफ हो जाता है। हर सिख नौजवान को गुरु की ये वाणी समझनी चाहिए जो खालस राज सिर्फ खालसा ही कर सकता है। अब तक खालिस्तान के हालात इतना तो मैं बना ही चुका हूँ, जो सारी सिख संगतें अब मेरे साथ खड़ी हैं। मैं अपने इन काकों से सिर्फ एक ही बात बोलता हूँ। किसी दूसरे की नौकरी गुलामी करके पैसा कमाने और अमीर हो जाने की लालसा छोड़ दो। छोड़ो ये बंगलों गाड़ियों की लालसा। क्या करोगे धन दौलत अगर तुम्हारे पास तुम्हारी आजादी नहीं होगी। ऐसे मैं सिर्फ एक काम करो। एक-एक मोटरसाइकिल और एक-एक ए के संताली खरीद लो। एक एक बंदा जब तक सवा लाख को मार के नहीं आएगा तब तक तुम अपनी आजादी नहीं पा सकते।’ जरा-सा पहलू बदलकर और एक टांग पर दूसरी टिकाने के बाद उस संत ने बोलना जारी रखा, ‘अपने ही कई बंदे मेरे पास आके कहते हैं, हमको चीन और पाकिस्तान की मदद से खालिस्तान बनाने की कोशिश करनी चाहिए। संजुक्त रासटर में जाकर आवाज बुलंद करनी चाहिए। मैं उनको फटकार के भेजता हूँ। लक्ख लाणत है तुम लोगों को। तुम्हारी इस घटिया सोच को। तुम गुरु के सिंघ हो? तुम इतना तक नहीं समझ सकते, जो कोई तुम्हें तुम्हारी आजादी दे नहीं सकता। अपनी आजादी छीननी पड़ती है। बेवकूफो, कोई दूसरा क्यों तुम्हारा घर बनाके तुम्हें देगा। अपने पैदे में हींग पैदा करो। खुद चिनो अपना घर। छीनो अपनी आजादी। दसवीं पातशाही ने गुरु के एक एक बंदे को सवा लाख से यूं ही न लड़ाया होगा।’

‘संतजी,’ प्रकाशवीर ने उसकी आँखों में आँखें डालकर कहा। ‘क्या निहत्थे लोगों को मारने से आजादी मिलती है?’ सवाल यही काफ़ी था पर उसने अनायास तय कर लिया, कि आज के इन पलों के बाद शायद ही इस आदमी के साथ उसकी मुलाकात सम्भव हो पाएगी, ऐसे में खुद को रोक लेने का कोई अर्थ उसके सामने बाकी नहीं था। ‘संतजी महाराज, जिन लोगों को मारने की आप बातें कर रहे हो, वे भी तो इसी धरती के बाशिंदे हैं। सब एक माता-पिता की औलाद हैं। उन्हें मार के कौन-सी आजादी मिल लेगी, ये मेरी समझ में नहीं आता।’

संत ने मुस्कराते हुए एक तय की हुई-सी असावधान मुद्रा में जवाब दिया। ‘देख सिंघा,

जो तू ये कह रहा है, ये हिन्दुस्तान की हिन्दू सरकार की सोच है। पंजाब की इस सिंघ धरती पर बैठे इन खुसरो की इस कौम के लालों-महाशों-कराड़ों की सोच है। ये व्यापार पर, अखबार पर और पूरे राजपाठ पर कब्जा जमा के बैठे हैं। खेतों की सरदी-गरमी में हम खपते हैं। ये लोग सिरफ खाते हैं। हमारे सारे संसाधनों को इन खुसरो ने अपने कब्जे में ले रखा है। जब तक इनको उखाड़ नहीं फेंकोगे तब तक आजादी नहीं मिलने वाली। इनकी शकलें ही हमारी कौम के लिए खतरनाक है। हमें पहले-पहल इनसे खुद को किनारे लगाना होगा।' उसके माथे पर जरा-सी त्वोरियां दिखीं जिन पर काबू कर लेने में उसने ज्यादा देर नहीं लगाई। खुद को एकदम सहज कर लेने के बाद उसने कहा, 'ओए सिंघा, असल में ये हिन्दू एक डरपोक कौम है। जरा सी आँखें खोल के देखो तब साफ़ दिख लेगा ये सिरफ़ पैसे के यार हैं। पर इन डरपोकों की दिल्ली में बैठी डरपोक सरकार और औरंगजेब की सरकार में फर्क क्या है? अगर ये डरे हुए लोग न होते, तब भला इनकी पुलिस हमारे नौजवानों को क्यों निहत्था मार के चली जाती। सामने आके न लड़ती? बेगुनाहों को पकड़-पकड़ के क्यों जेलों में ठूस देती। अंदर ले जा के क्यों टारचर करती। ये इनकी साजिश है। हमारी कौम को खत्म करने में जुटे हैं। ऐसे में तू बोल हम नामर्द बने रहें? हमारा खून पानी नहीं हो गया है। उनको ठोक के जवाब दें तो ही बात बनेगी। मैं तभी तो कहता हूँ, अगर ये तुम्हारे एक काके को मारें तो तुम बाहर निकल के सवा लाख को मार के आओ। मैं दो साल से कह रहा हूँ, हाथ में तमंचा लो और गटागटा मोटर साइकिल पर निकल के ठांठां मारो। दिल्ली की सरकार को सबक सिखाना है। जाओ मारो सवा लाख और फिर इधर आ जाओ गुरु के इस घर में कोई तुम्हारा बाल बांका करके दिखा दे तो फिर तुम्हारा ये संत किस काम का।'

एक बख्तरबंद आदमी दो प्लेटों में भाप छोड़ता और घी चूता हलुआ और पीतल के दो गिलासों में गर्मागर्म दूध लाकर सामने रख गया। 'ले छक ले परसादा ओए सिंघा,' संत ने कहा। 'तेरे को मैं संताली फ्री में दूंगा।'

उसने हलुए की प्लेट उठाई और हौले हौले ठूंगने लगा। 'संतजी,' जरा-सी उभर आई खामोशी के उन पलों में उसने कहा। 'बाहर के जो हालात हैं, उनके मुताबिक पूरा अंदेशा है कि सरकार किसी भी वक्त इधर अपनी फौज भेजकर अकालतख्त पर हमला कर देगी। उस हालत में आप क्या करोगे? फौज की उतनी बड़ी ताकत से आप कैसे मुकाबला कर पाओगे?'

वह कतई विचलित नहीं हुआ। 'सिंघा, हिन्दुस्तान की सरकार जिस रोज गुरु के इस घर पर हमला करेगी, उसी दिन खालिस्तान बन जाएगा। सिख-संगतें ऐसा कुछ बर्दाश्त करने वाली नहीं हैं। लाशों के ढेर लग जाएंगे। खून की नदियां बहेंगी। तू समझ ले मैं घल्लूघारे की बात यूँ ही कोई हवा में नहीं करता। उन्होंने अपनी फौज से मेरे एक सिंघ जरनैल शावेग सिंह को इसीलिए बर्खास्त कर दिया था कि वो सिंघ है। अब वोई सिंघ देखना कैसे हिंदुस्तानी फौज को गुरु के इस घर के अंदर सबक सिखाएगा। इनकी जो पिरधानमंतरी है, न दिल्ली में, उसकी हिम्मत नहीं होगी, इधर फौज भेजने की। बथेरा वितकरा सह लिया सिख-संगतों ने। इसके आगे सहना मुमकिन नहीं है।' उसने जैसे दिलासा दिया, 'जकीन कर!'

इसके आगे कोई सवाल पूछने की प्रकाशवीर को जरूरत नहीं रही। अब वह उठकर चल देना चाहता था। पर संत ने कहा, 'बोल सिंघा, तू मेरे सिंघ जरनैल शावेग सिंह की तैयारियों को देखना चाहता है?'

क्यों नहीं, प्रकाशवीर ने मन ही मन कहा। 'जरूर!' पर संत ने उसके जवाब का इंतजार किए बगैर अपनी आवाज जरा-सा ऊँचा कर किसी को पुकारा और तत्काल एक बख्तरबंद

आदमी सामने आ खड़ा हुआ। 'ओए काके, पता नहीं क्यों इस सिंघ काके से मुझे जरा प्यार हो गया है। अपना बंदा लग रहा है। इसको जरा चक्कर मरवा के ले आ। हिन्दुस्तानी फौज को कैसे हम मच्छरों जैसा मारने वाले हैं, ये अपनी आँख से जरा देख लेगा तो इसकी हिम्मत में इजाफा होगा। फिर बाहर निकल के सवा लाख को मार के आएगा।'

इस पूरे चक्कर के बाद जब प्रकाशवीर अकालतख्त से बाहर निकलकर दर्शन-ड्योढ़ी की तरफ बढ़ रहा था, तब उसे बखूबी भान हो गया था कि आने वाले वक्त के घल्लूघारे का पूरा इंतजाम इधर हुआ पड़ा है। यानी अभी तक जो इस धरती पर हत्याओं का दौरा-दौरा था, उसका ऐसा खतरनाक अंजाम उसे साफ़ दिखाई दे रहा था, जिसकी कल्पना करके कोई भी जिंदा इन्सान बदन थरथर कांप उठ सकता था। उस पूरे धार्मिक परिसर में युद्ध की ऐसी तैयारी थी मानो किसी दुश्मन मुल्क की फौज ने सामने पड़ने वाले हमलावरों के तई कब्रें बना रखी हों। स्वर्ण मंदिर परिसर से बाहर का रुख करते हुए, उसने सरदार सुखजिंदर सिंह से मिल लेने की भी जरूरत नहीं समझी थी। असल में अब तक उसे अपने होने का अहसास पाने के लिए एक घने एकांत की जरूरत थी। इसी के चलते एक अजीब बात वह ये महसूस कर रहा था, कि आज से पहले तक मौत के जो साये उसे डराने को झिपझिपाते हुए अक्सर चले आते थे, इस वक्त बाहर निकलते हुए वह उनसे पूरी तरह मुक्त था। यह 16 मई का दिन था और अभी दिन ढलने में दो घंटे बाकी थे। वह बस अड्डे पर पहुंचा और जालंधर जाने वाली बस में आ चढ़ा। उसमें बैठ पाने को कोई सीट नहीं थी। जब उसके द्वार के पायदान पर उसका एक पैर था तो अंदर से एक आदमी उसे बाहर की तरफ धक्का दे रहा था। 'ओए, बड्डा बाबू बना फिर रहा है,' हाथ में कंडक्टर वाला झोला पकड़े उस आदमी ने गुस्से में कहा। 'बाहर निकल। कोई सीट नहीं है।'

उसने उससे प्रार्थना के स्वर में कहा, 'भाईजी! मेरा जाना जरूरी है। खड़े-खड़े चला जाऊंगा।' उसको शायद तरस आ गया होगा। उसने चढ़ जाने दिया।

यह बस जब जालंधर पहुंची तो अंधेरा घना होने लगा था। बाजारों के शटर जल्दी-जल्दी गिर रहे थे। वह एक साईकिल रिक्शा पकड़कर माई हीरां गेट के अपने कमरे में आया और बिना कुछ खाए पिए सो गया। अगली सुबह उठकर जल्दी दफ्तर के लिए निकल गया था। वहां पहुंचने के बाद टेलीप्रिंटर पर पिछली रात की जो खबरें मिलीं वे भयावह थीं। बीती रात पूरे पंजाब में आतंकवादियों ने आम लोगों के इलावा पुलिस बैरकों पर भी भारी भरकम हमले अंजाम दिए थे। मानो युद्ध की औपचारिक घोषणा कर डाली गई हो। आगे आने वाले दिनों में ये सिलसिला लगातार चलने वाले ऐसे दुःस्वप्न जैसा था, जिसने पिछले सारे रिकार्ड तोड़ डाले थे।

जैसे तैसे मई माह बीत गया। यह कहना भर कितना आसान लग सकता है और आज पूरे तीस साल बाद जैसे किसी रोमांच का मजा दे रहा कि मई माह बीत गया। वह खुद से पूछ रहा था कि ये माह पिछले तीस सालों में तीस बार नहीं बीता है क्या? पर उस साल के उस मई माह के वे पंद्रह दिन कितने आतंककारी बीते थे, उनको आज शब्दों में कहना असल में अपना मजाक उड़वाने जैसा है। अब उसे नहीं मालूम इस ढलती उमर में आकर वह उन खून की नदियों का बखान शब्दों में कैसे मुमकिन कर सकता है। ये तो महात्मा गांधी के बारे में कहे गए आइनस्टाइन के शब्दों सरीखे कुछ शब्द हैं कि आने वाली पीढ़ियां कभी यकीन नहीं कर पाएंगी कि गांधी जैसा आदमी इस धरती पर कभी जिंदा रहा था। ऐसे में तीस बरस बाद उसकी ये सब बातें यकीनन झूठ या ज्यादा से ज्यादा अर्धसत्य की तरह लग सकती हैं। और जिन शब्दों में ये कही जा रही हैं, इनमें ऐसी कोई ताकत नहीं है, कि वे

उन खूनी हालात के सच का कोई एक अंश भी सही-सही कह सकने का सामर्थ्य रख सकें। आदमी के खून के सामने शब्दों की हैसियत महज किसी लाचार जैसी होती है। आज खुद उसे यही लग रहा है।

उसने भिंडरावाले के साथ का अपना वह साक्षात्कार पहली जून की सुबह संपादक को दिया था। आधे घंटे तक अपने एकांत में इसे पढ़ चुकने के बाद उन्होंने उसे बुलाकर बताया कि इसके छप पाने का वक्त खत्म हो चुका है। इसके बाद उन्होंने कुछ ऐसी बातें कहीं जो प्रकाशवीर के तर्ई ज्यादा बोधगम्य नहीं थीं। मसलन: 'आगे आने वाले एक हफ्ता/दस दिन में ये घल्लूघारा इतना ज्यादा बढ़ जाने वाला है कि अगर ऐसा कोई इंटरव्यू छप जाए तो हमला हमारे इस भवन पर हो जाएगा, जिसके अंदर से हम ये अखबार चला रहे हैं। और दूसरी/तीसरी बात ये कि अब तुम बिना देर किए अमृतसर के लिए रवाना हो जाओ। वहां ऐसा कुछ होने वाला हो सकता है जिस पर रिपोर्टिंग तुम्हें करनी है। और हां, क्या होने वाला है, ये मुझसे मत पूछना क्योंकि मैं कुछ नहीं जानता हूँ, जो तुम्हें बता सकूँ। बल्कि तुम वहां जाकर मुझे बताओ कि क्या होने को है? वक्त की कोई पाबंदी नहीं। बस निकल लो। अलबत्ता, अपनी जिंदगी का ख्याल रखना। बचे रहोगे तो बेहतर रिपोर्टिंग कर पाओगे! आमीन!'

सच कहा जाए तो उसे भारी खीज हुई थी। इस बात से नहीं कि उसे वापस अमृतसर जाना था और इस बात से भी नहीं कि किसलिए जाना था, मगर उस इंटरव्यू के हथ्र को लेकर हुई थी। अपनी जान के जोखिम पर की गई उस सीधी बातचीत का यही कुछ होना था? मगर वह जल्दी ही बूझ भी गया था कि वह 'क' में सिर्फ़ एक नौकर था। ऐसा नौकर जो किसी कारीगर की तरह काम करता है। पर ये क्योंकि अखबार है तो इसके यहां काम करने वालों का सम्मानजनक किस्म का नाम ही पत्रकार है। यूँ कारीगर की ही तरह उसे तनखाह पानी है। बाकी का काम इसके इस संपादक-मालिक का है। इस अखबार में क्या छपना है और क्या नहीं, इसका फैसला उसके अपने हाथ में नहीं है। उसका काम है सिर्फ़ आदेश की तामील करना और अगर ये उसे मंजूर नहीं तब विकल्प बहुत सीधा था। इस कारीगरी से रुखसत हो जाने का। अगर उसके अंदर मौत का थोड़ा-सा भी डर बाकी बचा होता तो जरूर ही वह इसे उसी वक्त अलविदा कहकर किसी भी जहन्नुम में चला गया होता, पर वह तो यहां कुछ छोड़ने से ज्यादा कुछ करने को आया था।

ऐसे में उसने अपने दोनों हाथ जोड़कर संपादकजी को नमस्ते कहा और बहर निकल आया।

दोपहर ढलने के कुछ पार तक, वह जालंधर शहर के अमृतसर-अड्डे पर उधर जाने वाली एक बस में बैठा था।

जब वह स्वर्ण मंदिर परिसर के सामने एक छोटे से होटल में कमरा बुक कर रहा था तब वहां टिके लोगों के एक से ज्यादा समूह होटल छोड़कर जा रहे थे। यूँ तो ये ऐसा कोई अजूबा नहीं था, कि उस पर गौर करने की जरूरत महसूस होती। आना-जाना तो होटल में लगा ही रहता होगा, पर उसे इधर अमृतसर की हवा इतना बंद महसूस हुई थी कि सहज ही कोई व्यक्ति अगर इस हफ़ादफ़ड़ी का कारण जान लेने की उत्सुकता दिखा देता, तब भी इसे कोई फालतू की चीज मानकर खारिज नहीं किया जा सकता था। और आप समझिए प्रकाशवीर तो वहां बतौर पत्रकार आया था। इस उत्सुकता के कुल मिलाकर जो नतीजे मिले उनका निचोड़ यही था, कि सेना स्वर्ण मंदिर में किसी भी वक्त घुस सकती है। तैयारी पूरी हो चुकी है। और उधर भिंडरावाले का जरनैल शावेग सिंह हमले को नाकाम करने की योजना बना चुका

है। हो सकता है, जानबूझकर इस सब को आक्रमण या हमला न कहा जा रहा हो, पर एक हद के पार ये हमले से दूसरा कुछ हो नहीं सकता था। प्रकाशवीर तो अपने साक्षात् अनुभव से जानता रहा था कि अगर एक बार फौज ने परिसर के अंदर कदम धर दिया तो भिंडरावाले के उस सहयोगी जरनैल की सेनाई तैयारियों से फौज का जो मुकाबला होगा उसे अगर आक्रमण नहीं भी कहा जाएगा तो भी वह भारी भरकम युद्ध की तरह होगा। अलबत्ता, उसे ये अशंका तो खैर नहीं थी, कि भारतीय सेना हार जाएगी। निश्चय ही उसकी युद्ध की ताकत का मुकाबला शावेग सिंह नहीं कर सकता था, मगर वह उधर जो देखकर आया था, उसमें इतना जबरदस्त प्रतिरोधक क्षमता जरूर थी, जो ऐसा खूनखराबा कर डालेगी, जिसमें पिछले हर घल्लूघारे को लांघ डालने की ताकत है। वे दोनों असल में कोई लड़ाई जीतने की गरज से उधर थे भी नहीं। उन्हें तो घल्लूघारे के ऐसे हालात पैदा करने थे कि उन दोनों के मर जाने के बाद भी खालिस्तान नाम की ये मशाल जलती रहे। इसीलिए वे भारतीय सेना को ललकार रहे थे।

आगे ज्यादा इंतजार भी नहीं करना पड़ा। आठ साढ़े आठ बजे का वक्त रहा होगा कि पूरे शहर में अचानक बिजली गुल हो गई। जून माह के उस तीसरे दिन की इस शाम अमृतसर में चमड़ी चीर डालने वाली गर्मी थी और चारों तरफ घना अंधेरा फैल गया था। कुछ ही देर बाद लाउडस्पीकरों के माध्यम से सूचित किया जाने लगा कि शहर में कर्फ्यू आयत कर दिया गया है। कोई व्यक्ति अगर इसका उल्लंघन करेगा तो सेना उसे देखते ही गोली मार देगी। होटल के गलियारे में एक आदमी हाथ में जलती टार्च पकड़े उस भवन के छत की तरफ चढ़ रहा था। गर्मी से बच पाने और बाहर के कौतूहल से भरे अंधेरे को देखने की गरज से प्रकाशवीर भी उसके पीछे हो लिया। छत पर आदमियों के साये थे। पसीने से तर हुआ बदन लेकर वह उन सबके बीच किसी काले साये की तरह आ खड़ा हुआ था। किसी तरह वह मुंडेर तक आ खिसका और स्वर्ण मंदिर की दिशा में देखता हुआ ये जायजा लेने की कोशिश करने लगा कि आखिर उधर हो क्या रहा है। लेकिन आर पार लगातर चलती गोलियों और बमों के फटने से निकलती क्षणिक रौशनियों के इलावा बाकी कुछ नजर नहीं आ रहा था।

हां, ऐसा कुछ आभास जरूर होने लगा था मानो पूरा शहर घरों की छतों पर आ खड़ा हुआ हो। किसी शहर को इतने भयानक अंधेरे में डूब जाते देखने का ये अधिकांश लोगों का पहला मौका था। आस-पास खड़े एक उमरदराज आदमी का कहना था कि पाकिस्तान के साथ हुए दोनों युद्धों के वक्त वह इसी शहर में था। उन हालात में भी बिजली इस कदर गुल नहीं होती थी। बल्कि नागरिकों को महज यह हिदायत रहती थी कि अपने घरों के खिड़की दरवाजों को रेत के बोरों से ढक लें ताकि अंदर की रौशनी बाहर न निकल जाए। 'किंतु आज जिस तरह बिजली गुल की गई है,' उसने जैसे कोई भयानक स्थापना पेश की थी। 'ये तो भई, किसी बड़े खतरे का संकेत है। आप मानो चाहे तो न मानो। पर मैं आपको बता रहा हूँ।' बाद में पता चला वह इस होटल में पिछले तकरीबन पच्चीस साल से नौकरी कर रहा था।

बम फूटने लगे और मिसाइलें ऐसे चलने लगी थीं कि घड़ी पलों में शहर की छतें धुंए में डूब गईं। और इधर इस छत पर नीचे से उपर आने वाले लोगों की संख्या लगातार बढ़ती चली गई।

'बस, घंटे दो घंटे की बात है,' बढ़ती चल रही उस भीड़ के बीच में किसी काले साये की तरह मौजूद उस उमरदराज व्यक्ति ने उस छत पर मौजूद लोगों के सामने जैसे अपने जीवन के तमाम अनुभवों का निचोड़ पेश करने की कोशिश की थी। 'सेना के आगे भिंडरावाले की क्या औकात है? घंटा दो घंटा से ज्यादा टिक नहीं पाएगा।' अपने ही इस कथन पर मानो उसने राहत

की एक सांस ली हो। 'जकीन करो यारो, पकड़ा जाएगा। पर इतना जरूर है इस सरकार ने कुछ जादे देर कर दी जी।' उसकी बातों से ऐसा कुछ लग रहा था जैसे दूसरे लोगों को वह जो यकीन दिलवाना चाहता था, खुद उसे अपने ही इन कथनों पर ज्यादा यकीन नहीं था।

वह रुका तो बीच में से किसी दूसरे अनुभवी से लगते साये ने अपने अंदर का गुस्सा पटाके की तरह फोड़ दिया, 'इसने पूरे पंजाब की सांस रोक के रखी थी। भुगतना तो पड़ेगा पाहजी। ऐसा घल्लूधारा तो इधर पाकिस्तान खुद आके भी न कर सकता था, जो इस भिंडरावाले ने मचा के रखा था और दिल्ली में बैठी सरकार इसको दूध पिलाती रही। आज याद आई इसको फौज भेजने की। बीस हजार आदमी मरवा लिए तब जी। आठ महीने पहले मरे हुए थे? तब तो इधर आ आके इसके चरणों पर लहालोट न होते थे।'

बीच में से किसी ने निर्णय जैसा कुछ सुना दिया, 'सब के सब मौत के सौदागर हैं जी।' कौन सब ये उसने व्याख्या नहीं की।

ये सब आवाजें बमों के फोड़े जाने और उनसे उभर आते धुंए के बीच न सुनाई दे सकने वाली हदों में सिमटती चल रही थीं। अजीब बात ये थी, जैसे किसी को ये याद तक नहीं रहा था, कि इस दिमाग तोड़ने वाली गर्मी में अगर रात भर यही अंधेरा रहा तो वे सब क्या खाएंगे और कहां सोएंगे। उस सब के बयानात पेश करने की जरूरत शायद है नहीं। उन तमाम हालात का अंदाज खुद ब खुद लग जाएगा। बस, ये बताने के बाद आगे निकल लेते हैं कि उस पूरी रात वह गोलीबारी, बम और मिसाइलें बदस्तूर चलती रही थीं। सुबह जब उजास हुआ तब लगने लगा जैसे युद्धविराम हो गया हो। अगला पूरा दिन ऐसी ही किसी अघोषित किस्म की खामोशी में बीता। कभी-कभार एकाध दो गोलियां चल देने की आवाज आती फिर वापस उसी चुप्पी का आलम पसर जाता। कर्फ्यू पूरी सख्ती से लागू था। होटल के काउंटर पर मौजूद आदमी ने बताया कि आस-पास के गांवों से इधर शहर में दूध पहुंचाने आने वाले दोधी आ ही नहीं पाएंगे तो यहां रुके लोगों को चाय क्यों और कहां से मिलेगी, एक बात, और दूसरी ये कि होटल के अंदर साक-सब्जी का कोई जखीरा तो भरा पड़ा है नहीं। हम रोज के रोज खाने का सामान खरीद के लाते हैं और पका के यहां रुकने वालों को उनकी मांग के मुताबिक खिलाते हैं। एक दो रोज अगर यही हालात बने रहे तो समझ लो पाहजी, इधर दाल-रोटी मिलने की गुंजायश भी खत्म। चाय की बात तो जितना जल्दी भूल लो उतना ही आपकी सेहत के लिए अच्छा जी। कहते हैं न कोई शहर के अंदर आ सकता है और न कोई बाहर जा सकता है।

बहरहाल, पूरा दिन इस उम्मीद में बीता कि ये जो सामने युद्धविराम के हालात चल रहे हैं, ये ज्यादा खतरे का संकेत नहीं दे रहे हैं। चाहे कर्फ्यू नहीं हटाया जा रहा था। मगर आने वाली दोपहर में, जब गर्मी का प्रकोप बुरी तरह बढ़ चला था और छत पर सूरज आग बरसा रहा था, तब एक बार फिर उस कर्फ्यू के ज्यादा सख्ती से लागू होने की मुनियादी पीट दी गई थी। कितना आसान होता है कहना कि शहर के बाहर से जो कुछ ग्रामीण लोग दूध लेकर अंदर घुसने की कोशिश कर रहे हैं उनके साथ भी वही व्यवहार किया जाएगा जो उन ग्रामीणों के साथ होगा, जो हाथों में दरारें, बरछे, भाले वगैरा पकड़े अपने आस्था के इस स्थल को बचाने की कोशिश में शहर के अंदर घुसने की कोशिश कर रहे थे। उन सबसे फौज का कहना है, कि वे शहर के अंदर घुस पड़ने के अपने इरादों से बाज आएंगे। हर किसी को ये मालूम रहना चाहिए कि भारतीय सेना ने शहर को अपने कब्जे में ले रखा है और 'ऑपरेशन ब्लूस्टार' जारी है। इसके पूरा हो जाने के बाद ही नागरिकों के अधिकार बहाल होने की सम्भावना

बनेगी। तब तक कोई बंदा या बंदे की जात अपनी चारदीवारी से बाहर न निकले। वर्ना..
..वर्ना क्या? देखते ही गोली मार दी जाएगी।

ऑपरेशन ब्लूस्टार! बूझने में ज्यादा देर नहीं लगी कि ये उस हमले का नामकरण है, जो गुजरी रात सेना ने अकालतख्त पर किया है और उधर से मुंहतोड़ जवाब पा रही है। इक्का-दुक्का गोलियों की आवाजें अभी तक आती जाती चल रही थीं। और इधर फौज की इन घोषणाओं के बीच गर्मी आदमी की हर सांस को अंदर से खींचकर बाहर पटकती चल रही थी, ऐसे में ये नामकरण आज की इस दोपहरी में, सुनने में आने के बाद उस खतरे के वापस आने को आकार देने लगा था, जो अभी दिन की इस चुप्पी में लिपटा पड़ा दिख रहा था। बिजली तो वापस लौटी नहीं थी मगर अब होटल वाले बता रहे थे कि इधर पानी की सप्लाई भी नहीं आ रही है। और बीती रात जिन कारणों को हम ज्यादा संजीदगी या डर से नहीं ले रहे थे, वे मानो यम बनकर हमारे सामने आ खड़े होने को तत्पर थे।

फिर एक ज्यादा तेज मुनादी हुई। पत्रकारों को लेकर। आदेश हो रहा था, कि तमाम विदेशी पत्रकार तत्काल शहर छोड़ दें। वे बाहर आकर सेना के सामने अपने दोनों हाथ सिर के उपर उठाकर समर्पण कर दें। सेना उन्हें शहर से बाहर निकल जाने में मदद करेगी। बाकी रहे देसी पत्रकार तो वे जहां रुके पड़े हैं, वहीं बने रहें। सिर बाहर न निकालें। रेल, ट्रांसपोर्ट, संचार और डाक सेवाएं बंद हैं। टेलीफोन लाइनें काट दी गई हैं। ऐसे में कहीं भी खबरें भेजने की कोई तरकीब न होते चलने के कारण कहा जाता है कि अपने मौजूदा ठिकानों से बाहर ताक-झांक करने का कोई फायदा होने वाला नहीं है। सिवाय इसके कि ऐसा करने वाले हर आदमी को देखते ही गोली मार दी जाएगी। इन पत्रकारों को लेकर, सारे होटलों, गेस्ट हाउसों और निजी घरों के मालिकों से कहा जाता है कि वे सेना के इन आदेशों की तामील पूरी जिम्मेवारी के साथ करें और करवाएं। और जो इस काम में कोताही करेगा उसके खिलाफ सेना कार्रवाई करेगी। ऐसे में जिम्मेवारी उसकी होगी जिसके खिलाफ कार्रवाई अमल में लाए जाने के लिए सेना को मजबूर होना पड़ेगा।

इस होटल में जहां इतने सारे लोग एक बीती डरावनी अंधेरी रात में अनगिनत हताशाओं के बीच आगे आ सकने वाली किसी अज्ञात आशा के बल पर जिंदा थे, और इस वक्त होटल के डॉयनिंग हॉल में, आने वाले वक्त के आम की तरह हो जाने के इंतजार में बैठे, चहलकदमी कर रहे या बेचैनी से घूम रहे थे, वह पूरी स्थितप्रज्ञता जैसे अचानक टूट गई। रात के घुंए से लवरेज उस रुकी हुई हवा में अफरातफरी फैल गई। अपनी अब तक जी हुई इस छोटी-सी जिंदगी में, खुद प्रकाशवीर पहली बार को जान सका कि मार्शल लॉ का मतलब क्या होता है। इस होटल में जहां वह बतौर पत्रकार रुका हुआ था, होटल के मैनेजरों ने सबसे पहले बी.बी.सी. के एक पत्रकार को निकाल बाहर करने की कार्रवाई अंजाम दी थी। जब उसे सेना के हवाले किया जा रहा था तब प्रकाशवीर के भीतर एक अज्ञात किस्म की आशंका जन्म ले चुकी थी। होटल वालों ने अपने रजिस्टर में से जो दूसरा नाम पुकारा था, वह उसी का था। और देखते ही देखते वे पूरी तरह से उसके द्वाले हो चले थे। उनका सुझाव था कि वह खुद को सेना के हवाले कर दे वर्ना ये काम वे कर देने वाले हैं या ऐसा सिद्ध करे कि वह विदेशी न होकर देसी है।

‘मैं एकदम देसी हूँ,’ उसने उन्हें समझाने की कोशिश की थी, पर उनके भीतर आतंक के जो साये मौजूद थे, वे इस कदर गहरा गए थे, जिनके बीच उन्हें उसकी कोई बात सुन पाने की फुर्सत ही मानो न बची थी। ‘पाहजी, हम कोई रिगस क्यों लें?’ उस होटल के मैनेजरनुमा

आदमी ने अपने दोनों हाथों को जोड़कर कहा। 'आप चलती रहो। हमारी जान बख़्शो।'

उसने किसी भी आ सकने वाली स्थिति के लिए खुद को मानसिक रूप से तैयार करते हुए बाहरी तौर पर सख्ती दिखलाई, 'आप ऐसा नहीं कर सकते।'

आगे आने वाले आधे घंटे में खामोशी रही। ऐसे में जब यकीन हो गया कि ये लोग उसे बाहर नहीं निकाल सकने वाले हैं तब अचानक फौजी वर्दी में तीन आदमी सामने आ खड़े हुए। ये वही लोग थे जो उस विदेशी पत्रकार को यहां से लेकर गए थे। 'कौन-सा पत्रकार अब तक यहां छिपा बैठा है?' उनमें से एक ने सामने पड़ते ही पूछा।

बहुत सारी बकबक के बाद प्रकाशवीर को ये अहसास हुआ कि ये लोग भी हमारी ही तरह के सर्वसाधारण मनुष्य मात्र हैं। अगर भिंडरावाले की ए. के सैंतालीस उसके आदेशों पर चलती है, तो इन लोगों का मार्शल लॉ चलाने वाले उधर दिल्ली में मौजूद हैं। खुद इनके हाथ पांव सब उनके पास गिरवी हैं। आखिर में, बतौर निचोड़ उसे आदेश हुआ कि वह इस होटल की चारदीवारी से बाहर कदम रखने की जुरत न करे। जो भी लिखना-विखना हो, वह आपरेशन ब्लूस्टार के खात्मे के बाद लिखते विखते रहना। वहां मौजूद तमाम लोगों ने राहत की सांस ली। पर ये सांस शायद इस बात पर ज्यादा थी, कि कितना अच्छा हुआ उनमें से खुद कोई पत्रकार नहीं है।

पूरा दिन बिना पानी और बिजली के निकल लिया। खाने को होटल वालों ने दिन में तो कुछ दे दिया था पर शाम ढलते ही कोटे की व्यवस्था लागू होने लगी। और अंधेरा ढल आने के बाद उधर स्वर्ण मंदिर परिसर में वापस जोरदार गोलीबारी होने लगी। बमों के फूटने का जिक्र तो अब जैसे एकदम फिजूल था। उधर तो पैटन टैंकों से हमला हो गया था। यह युद्ध पूरे तीन दिन और तीन रातों तक चलता रहा था। और गुरु की नगरी के बाशिंदे इतने वक्त तक अपने घरों में रखे गए कुछ किलो आलू, प्याज और आटे पर जिंदा रहे थे। बिना पानी और बिजली के कोई शहर कैसे जीवित रह सकता है, इसे साकार करके उन नागरिकों ने खुद को एक ऐसे इतिहास में दर्ज कर लिया था, जिसे कम से कम उनमें से कोई याद नहीं करना चाहेगा।

प्रकाशवीर की बेटी कनुप्रिया भी बामुश्किल एक ही सवाल पूछ पाई थी, 'पापा, बिना पानी के कैसे रहा जा सकता है? क्या आपने वाशरूम जाना बंद कर दिया था?'

प्रकाशवीर ने सुरजीत से कहा, 'तुम इसे समझा सकती हो कि तुम इंदिराजी की हत्या वाले रोज कैसे मुझे तलाश करती 'क' के दफ्तर तक आ पहुंची थी? और इससे आगे ये भी कि कैसे तुम पूरे तेरह दिन तक मेरे साथ उस भवन के तहखाने में रही थी? बिना रोटी और पानी के?'

सुरजीत ने एकदम दार्शनिक-सा जवाब दिया था, 'इतिहास को समझाया नहीं जा सकता।'

बहरहाल, वे तब तक इस सारी बहस में उलझे रहेंगे जब तक उनकी जिंदगी है। इसलिए इसे फिलहाल यहीं छोड़कर आपको यह बता देते हैं, कि जब ऑपरेशन ब्लूस्टार पूरा हो गया और स्वर्ण मंदिर परिसर में पूरी तरह से मरघट की खामोशी छा गई तो जिन कुछ पत्रकारों को उस परिसर में जाने की अनुमति मिली, उनमें प्रकाशवीर भी एक था। पर उधर जो दृश्य उसने देखा था, उसका आज आकर वह खुद भी वर्णन नहीं कर सकता। अकालतख्त के उस भवन पर सेना ने पैटन टैंकों से हमला कर उस भवन को लगभग ध्वस्त कर डाला था। आदमियों की लाशों के ढेर तो सपैलिटी के ट्रक उठाकर ले गए थे, पर युद्ध के बाद आदमियत की जो तबाही होती है वह वहां के हर जर् में मौजूद दिख रही थी। उस तबाही को लांघकर जब

सब एक अंधेरे कमरे में ले जाए गए तो वहां आरपार के दो तख्तों पर बर्फ की आदमकद सिल्लियों पर दो लाशें पड़ी दिख रही थीं। प्रकाशवीर ने बहुत पास जाकर देखा। बाईं तरफ शावेग सिंह और दाईं ओर भिंडरावाले के शव पड़े थे। फोटो खींचने की मनाही के बीच वह भिंडरावाले के शव के एकदम नजदीक गया था। अचानक उसे कुछ ऐसा महसूस हुआ कि वह मरा नहीं, जिंदा है। और अपनी सहज आदत के मुताबिक मुस्कराता चल रहा है। वह उसी वेश में था जिसमें प्रकाशवीर उससे तब मिला था। उसके चेहरे पर जो शब्द उसे लिखे दिखे थे, वे भी वही थे, जो उसने तब कितनी सहजता से कहे थे, 'सिख संगतें ऐसे किसी हमले का बदला जरूर लेंगी।'

प्रकाशवीर के बदन में अनायास एक कंपकंपी छूट आई थी, हालांकि तब भला वह क्या जानता था कि यह बदला महज आगे आने वाले पांच महीने में चुकता हो जाएगा और उसी रोज सुरजीत उसे पगलेटों की-सी हालत में तलाश करती 'क' के दफ्तर में आ पहुंचेगी।

कुछ शब्दों के अर्थ और टिप्पणी :

खालिस्तान : इस शब्द के मूल में खालसा का अर्थ है। खालसा मतलब शुद्ध। 'राज करेगा खालसा' का मतलब ये नहीं लिया जा सकता कि राज्य की सत्ता पर सिर्फ सिख ही काबिज रहेंगे, बल्कि इसका व्यापक अर्थ ये है कि जो भी राजसत्ता पर पीठासीन होगा वह अपने आचार-विचार-व्यवहार में खालिस यानी शुद्ध होगा। हर कुविचार और नापाक आचार से मुक्त होगा। वह जनता का सच्चा सेवक होगा और जनता के सामने उच्च आदर्श स्थापित करेगा। मगर जब भिंडरावाले ने प्रकाशवीर के साथ उस रोज कहा था, 'ओदी धौण ते गोडा रखके खालिस्तान लवांगे,' यानी 'उसकी गर्दन पर अपना घुटना रखकर खालिस्तान लेंगे' तो वास्तव में वह उस पूरी बातचीत के दौरान पहली और आखिरी बार को कंपकंपा गया था। उसका ये वाक्य इस देश की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को संबोधित था और उन शब्दों की कड़वाहट इतना प्रखर थी कि सामने मौजूद कोई भी आदमी आतंकित हो सकता था। खासकर उन शब्दों के उच्चारण से जो आवाज पैदा हुई थी वह बेहद खौफनाक थी। उसमें 'खालसा' का वह अर्थ रह गया बिल्कुल प्रतीत न होता था जो इसका असल अर्थ है। जैसे तब यह भिंडरावाले का पर्यायवाची हो गया लगता था।

वितकरा : भारतीय संविधान में केन्द्र-राज्य संबंधों में भेदभाव को ज्यादा से ज्यादा आर्थिक अर्थों में ही समझा या समझाया जाना मुमकिन होगा। मगर जिस अर्थ में वितकरा शब्द का प्रयोग 'अकाली दल' राजनीतिक पार्टी ने केंद्र के खिलाफ 'मोर्चा' लगाने के वक्त प्रयोग किया था, वह बड़ी हद तक अपने खिलाफ एक व्यापक आर्थिक-सामाजिक-मानवीय भेदभाव का आरोप था। पंजाबी सूबा आंदोलन के दौरान भी इस शब्द प्रयोग के साथ ही भाषाई आंदोलन आरम्भ हुआ था। ऐसे में इसके प्रयोग में बेहद व्यापक और गूढ़ अर्थ निहित हैं। इसमें धर्म, जाति, वेशभूषा, खानपान, भाषा और मानवीय प्रतीक-चिन्हों तक के प्रति भेदभाव के आरोप थे। एक नजरिए से यह आरोप एक आजाद मुल्क में उनकी पूरी कौम को दूसरे दर्जे का नागरिक जैसा मानने तक जाते थे। खासतौर पर इस किस्म के आरोपों को तब ज्यादा बल मिला था, जब इंदिरा गांधी की हत्या और उसके तत्काल बाद हुए सिख नरसंहार के बाद सिख वेशधारियों को उग्रवादी/आतंकवादी/खाड़कू समझने की आंतरिक भूल विकसित होने लगी थी। हालांकि सौभाग्य से वह कुछ बरसों से ज्यादा नहीं चल पाई थी।

तनखाहिया : सिख धर्म अपने अस्तित्व, अपने संस्कार, रीति-नीति, अपनी गुरुवाणी और अपने गुरुओं के सम्मान के प्रति इस कदर संवेदनशील है कि किसी व्यक्ति द्वारा कहा या उचरा गया कोई एक प्रतिकूल शब्द वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। मसलन गुरुग्रंथ साहिब में लिखे गए किसी एक शब्द को जाने अनजाने अगर सिखपंथ का कोई सदस्य तोड़-मरोड़ देता है, तो अकालतख्त के जत्थेदार उसे सजायाफ्ता तनखाहिया करार देते हैं। पूरा सिख पंथ उस व्यक्ति के साथ रोटी-बेटी समेत हर नाता तोड़ लेता है। ऐसे में जिस व्यक्ति को एक बार को ये 'तनखाह' मिल गई उसके पास एकदम नमाणे

(अनाथ/असहाय) सिख की तरह अकालतख्त पर जाकर मुआफ़ी मांगने के सिवाय कोई विकल्प नहीं बचता। अपने पंथ के ऐसे नमाणे सदस्य की तनखाह को अकालतख्त पंथ की सेवा की सजा देकर अक्सर मुआफ़ कर देता है। यह सजा प्रायः गुरुद्वारे के बाहर यात्रियों के जूते साफ़ करने से लेकर अंदर लंगर में जूटे बर्तन मांजने तक की हो सकती है। इसका अंतराल भी अकालतख्त तय कर देता है। दो दिन, चार दिन, एक हफ़ता या दस दिन। यह सजा एक आम नागरिक से लेकर किसी उच्च पदस्थ व्यक्ति को हो सकती है। छोटे बड़े का कोई भेद नहीं। अगर तनखाह-याफ़ता कोई व्यक्ति अपनी सजा का भुगतान करने से मनाही कर दे तो वह हमेशा के लिए पंथ से निष्कासित हो जाता है। इसके बाद पंथ का कोई सदस्य उसके साथ किसी किस्म का कोई नाता नहीं रखता।

अमृतधारी : जिस सिख ने अमृत छक लिया हो उसे पांच ककारों (कड़ा, कच्छा, केश, कंधा, कृपाण) के साथ रहना अनिवार्य हो जाता है और जिसने अमृत न छका हो उसे सहजधारी सिख माना जाता है। ऐसे में जो सहजधारी अपने बाल कटवाकर जीना चाहे उसे मोन्ना कहा जाता है। दरअसल हर हिंदू को मोन्ना ही कहा जाता है, जिसका मतलब सिखों के लिए यही है कि हर हिन्दू भी एक प्रकार से उनके पंथ का सहजधारी है। पंजाब के हिन्दू घरों में ये आमफहम परंपरा थी कि हर हिन्दू परिवार अपने सबसे बड़े बेटे को सिखपंथ को अर्पित कर अमृतधारी बना देते हैं। अगले पुत्रों पर कोई ऐसा प्रतिबंध नहीं है। वे अपनी मर्जी के मुताबिक सहजधारी बने रह सकते हैं और अगर चाहें तो सिखी वेश भी धारण कर सकते हैं।

हुरलियां : 'तू जादे हुरलियां न मार! भतेरे हो गए तेरे दमगजे!'

बाब्यो : 'जी बाब्यो, आपके दर्शन पाते ही धरती पर चानण (चांदनी) आ बिखरा है।' बाब्यो पंजाबी बोली में सर्वाधिक प्रिय संबोधन है।

चढ़दी-कलां : चंद्रमा की कलाएं जब उसे बड़ा आकार दे रही होती हैं, उसी तर्ज पर आदमी जब उठान की तरफ जा रहा हो तब उसे चढ़दी-कलां में कहा जाता है। दरअसल ये जिंदगी का घोर आशावादी स्वर है और खुद जिंदगी के उठान को प्रतीक रूप में व्यक्त करता है। हर दुख तक में यही कहा जाएगा तू चढ़दी-कलां में रहे। या अपने बारे में पूछे गए सवाल 'कैसे हो?' के जवाब में यही कहा जाएगा, 'चढ़दी-कलां में हूँ।'

घल्लूधारा : ऐसी भयानक मानवीय मारकाट और खूनखराबा जिसकी कोई पूर्वकल्पना भी न कर सकता हो, जिसके फलस्वरूप धरती पर खून की नदियां बह निकलें।

सिरोपा : सिख धर्म में किसी व्यक्ति को सम्मान-प्रतीक के रूप में दिया जाने वाला सर्वाधिक उच्च सम्मान है। ये पीले रंग का पावन-कपड़ा होता है और जिसके गले में इसे सार्वजनिक मंच पर पहनाया जाए वह व्यक्ति पंथ की तरफ से सम्मानित माना जाता है।

संपर्क : 2544, सेक्टर-27सी, चंडीगढ़-160019, मो.-09780147830

फ्रेम

प्रज्ञा

“आज शाम पाँच बजे आई. एन. ए. ...दिल्ली हाट”

“ओ.के.”

“ठीक पाँच”

“ओ.के.”

रावी और जतिन के बीच दिन भर में न जाने कितने मैसेजेस का आदान-प्रदान होता रहता है। कहने को दोनों एक ही जगह काम करते हैं पर कितनी जोड़ी आँखें और कितने जोड़ी कान उन्हीं की तरफ लगे रहते हैं। जैसे ही दोनों के हाथ फोन पर जाते हैं कितने होंठों पर मुस्कराहट तैरने लगती है। चाहे खट्टी हो या मीठी। एक ही ऑफिस के अलग हिस्सों में बैठे रावी-जतिन जानते हैं कि वो लोगों के मनोरंजन का बेहतरीन साधन हैं। एक लाइव, मजेदार टाइम पास। उनके इर्द-गिर्द घूमते लोग पियून से लेकर वाइस प्रिंसिपल तक सभी को इस किस्से में गहरी दिलचस्पी है। ऊपर से खुद को निस्पृह दिखाने वाले भी आँख-कान खुले रखते हैं। और माल से नाक को पोंछ-पांछ कर उसके सूँघने की क्षमता पर आँच नहीं आने देते। झूठी और गढ़ी हुई कोई भी बात इन दोनों के नाम से खूब चलती है पूरे स्कूल में। नॉन टीचिंग ही नहीं टीचिंग स्टाफ भी उनके चेहरे पढ़कर कहानियाँ रचने का एक्सपर्ट हो रहा है। रावी-जतिन दोनों से ये तमाम हरकतें छिपी नहीं हैं। पर सावधानी हटी दुर्घटना घटी की तर्ज पर दोनों अतिरिक्त रूप से सावधान ही रहते हैं। दोनों के लिए हर पल एक आफत की तरह गुजरता है। बैठने-उठने, बोलने-बतियाने में हर तरफ नजरों का कड़ा पहरा उनको साफ़ दिखाई देता है। जतिन तो बार-बार कहता है—“दो दिल मिल रहे हैं मगर चुपके-चुपके...” और रावी का जवाब हर बार उसे सावधान करते हुए यही होता है—“सबको हो रही है खबर चुपके-चुपके।”

सप्ताह में दो-तीन बार रावी बहाने बनाकर जतिन से मिलने में कामयाब हो ही जाती

है। यों तो रोज़ ही जतिन की आँखों से मिली तारीफ़ पाने के चककर में रावी तैयार होकर आती है पर जिस दिन दोनों के घूमने का प्लान होता है उस दिन तो रावी से नज़र ही नहीं हटती। कपड़े और बालों के अन्दाज़ से ही नहीं उसके बोलने-चालने के अन्दाज़ से ही सबको शक हो जाता है कि आज तो कोई खास बात है। जतिन के साथ समय बिताने की कल्पना से ही वह दिन भर अपने में मगन-सी रहती है। दिमाग में लगातार एक लिस्ट बनाती रहती है जरूरी बातों की जो आज जतिन से हर हाल में करनी ही हैं। वैसे तो मोबाइल से हर तरह की सहूलियत है पर हाथों में हाथ और आमने-सामने की बात का मजा ही और है। उस दिन तो कोई कुछ पूछे पहली बार में रावी को समझ ही नहीं आता फिर चौंककर कहती है “क्या कहा, दोबारा कहिए लोग कोहनी मारकर आँखों में एक-दूसरे से कहते हैं— “हाँ भई दिमाग तो जतिन में लगा रखा है हमारी बातें क्या खाक समझ में आएँगी।” जतिन अपने आप को संयत रखने का ढोंग बखूबी निभा लेता है पर रावी अपना पार्ट निभाने में अक्सर चूक जाती है। कहने को जतिन स्कूल का यूडीसी है और रावी उसके मातहत तीन एलडीसी में से एक। इसलिए मिलने-मिलाने के अवसर कम नहीं हैं पर ये मिलना भी कोई मिलना है? स्कूल से ही अगर घूमने का कार्यक्रम बनता है तो दोनों लोगों की आँखों में धूल झोंकते हुए रोज़ की तरह अपने-अपने रास्ते की ओर निकलते हैं और फिर तय किए प्वाइंट पर रावी जतिन की बाइक पर सवार हो जाती है। रावी हेलमेट लगाना कभी नहीं भूलती। कई बार जतिन से कहती है—

“या तो गाड़ी खरीद लो नहीं तो एक बुर्का।”

और जतिन यही जवाब देता—“गाड़ी तो आ ही जाएगी और कुछ दिन बाद बुर्के वाली घर ही आ जाएगी।”

नये ज़माने की तमाम हवा लगे होने के बावजूद जतिन के ये शब्द अनोखा-सा रोमांच भर देते रावी के भीतर।

आज भी रावी की लिस्ट हमेशा की तरह तैयार थी। वैसे तो वह जतिन के सामने एक धैर्यवान श्रोता की ही तरह बैठती थी पर अपनी बात कहने के बाद। आज की लिस्ट के मुताबिक पहला मसला चन्देल चाचाजी और उनकी जासूसी का था। नाक में दम कर रखा था उन्होंने। “अरे सगे चाचा थोड़े ही न हैं तुम्हारे जो इतना डरती रहती हो उनसे।”

“सगे नहीं हैं पर रोब तो पूरा है उनका। पापा इसी स्कूल से जो रिटायर हुए हैं और फिर मेरी नौकरी लगवाने में भी...”

“उस नाते तो मैं तुम्हारा चाचा हुआ मिस रावी मित्तल। तुम्हारी नौकरी लगवाने में मेरा रोल सबसे ज़्यादा है। तुम्हारे पापा ने इस काम के लिए बड़ी चिरोरी की थी मेरी। उनकी दिली ख्वाहिश थी कि उनके रिटायर होने से पहले तुम यहाँ आ जाओ। कम पापड़ नहीं बेले हैं मैंने।”

“हाँ-हाँ सब मतलब के लिए तो।”

“सच रावी जब तक तुम्हें देखा और जाना नहीं था तुम मेरे लिए मित्तल सर की बेटी ही थी। एक सहकर्मी होने के नाते ही यहाँ तुम्हारी अस्थायी नियुक्ति में मेरी और तुम्हारे चाचाजी चन्देल साहब की भूमिका थी। पर क्या तुम नहीं जानती कि यहाँ स्थाई करवाने के लिए मैंने कितनी भागदौड़ की। वो तो भला हो प्रिंसिपल सर का जो मेरी बात सुन-समझ लेते हैं, नहीं तो इन पब्लिक स्कूलों में नौकरी मिलनी कितनी मुश्किल है?”

“यही तो मतलब था।”

“अब प्यार को मतलब कहोगी तो कैसे चलेगा?”

“पर चाचाजी को पक्का शक है। अपने जासूस छोड़ रखे हैं उन्होंने। उनको अपने घर देखकर जान सूख जाती है मेरी।”

“परेशान न हो रावी वे इतने भी बुरे नहीं हैं।”
 “हाँ, बुरी तो मैं हूँ जो यहाँ तुम्हारे चक्कर में अपना समय गवाँ रही हूँ। तुम कैसे भी इस मुसीबत से मेरा पीछा छुड़वाओ।”
 “कैसे?”
 “पापा से सब कह दो। देर हो जाएगी तो...”
 “ऐसे कैसे देर हो जाएगी? थोड़ा इन्तज़ार करो। और तुम भी न यही सबके लिए मिलने आई थीं यहाँ? चलो कुछ और बात करो।”
 “रहने दो।”
 “अरे कर लूँगा बाबा अब तो कुछ और बात करो न प्लीज़।”
 “अच्छा, जतिन क्या शादी के बाद भी हम यहाँ ऐसे ही आते रहेंगे?”
 “क्यों नहीं? शादी होने से सब कुछ बदल जाएगा क्या?”
 “हाँ सब तो यही कहते हैं। प्रेम-विवाह भी बाद में बाकी विवाहों जैसा ही हो जाता है।”
 “क्या मतलब?”
 “मतलब मैं नौकरी और घर सम्भालूँगी और तुम बाहर रहोगे।”
 “रावी शादी के बाद क्या मुझे घर से निकाल देने का इरादा है तुम्हारा? और तुम ही घर क्यों सम्भालोगी? मेरे घर को मैं भी सम्भालूँगी। और तुम कभी-कभी अकेले आना यहाँ शाम बिताने। कभी घूमने-फिरने अपने दोस्तों के साथ। मैं खाना बनाकर तुम्हारा इन्तज़ार करूँगी।”
 “जाओ-जाओ इन सब कोरी बातों से न फुसलाओ।”

रावी-जतिन की शामें ऐसी ही नॉक-ड्रॉक में निकल जाती। जतिन को कई बार लगता कि रावी जैसे एक अबोध बच्चे की तरह है जिसने अपनी माँ-दादी-नानी को देखकर जीवन के कुछ निष्कर्ष निकाले हुए हैं और समय के साथ उन्हें बदलना नहीं चाहती। इसीलिए जतिन के घर सम्भालने और खाना पकाने जैसी बातों पर उसे विश्वास नहीं होता। जतिन गहरे अफसोस से भर उठता था कभी-कभी। कितनी मेहनत की है जतिन ने अपने पिता जैसा न बनने के लिए, रावी क्या जाने? आज भी अतीत जतिन की आँखों में ज़िन्दा है।

एक बार में सुनती नहीं हो क्या?

“शारदा, कितनी बार समझाना पड़ेगा तुझे? एक बार में सुनता नहीं है क्या? कह दिया दाल-सब्जी में मिर्च नहीं डलेगी, इमली नहीं गिरेगी। क्यों डाला है गरम मसाला? क्या छौंके बिना दाल गले नहीं उतरेगी? बाल-बच्चे वाली हो गयी पर शौक-मौज नई दुल्हन जैसे। चटोरी कहीं की।”

जब तक पिताजी जीवित रहे जतिन को समझ ही नहीं आया कि क्यों पिताजी जबरन माँ को अपने जैसा सादा खाने पर मजबूर करते रहे सिर्फ़ एक तर्क देकर—“सादा खाना खाओ शरीर ठीक रहेगा और चंचलता भी काबू में रहेगी।”

और माँ धीरे-धीरे रंगती गई पिताजी के रंग में, एक बेरंग, बेरौनक रंग में। पिता की कठोर छवि के आगे अपनी फूल-सी इच्छाओं को मसलती माँ। बचपन से ही चटपटे खाने की, घूमने-फिरने, सजने-सँवरने और गप्पे मारने की शौकीन माँ अपनी जवानी में ही वृद्ध-सी नज़र आती। पिताजी ने बड़ी चतुराई से ढाल लिया था उन्हें। कभी-कभी जतिन को माँ पर गुस्सा भी आता। जब भोजन को इतने अरुचिकर ढंग से गटकती माँ को देखता। माँ फेंक क्यों नहीं देती है ये थाली? क्यों अपने सारे गुस्से को बेस्वाद दाल की तरह हलक में उड़ेल लेती है?

पिताजी की चालाकी क्यों नहीं समझती है जो खुद अस्वस्थ रहने के चलते माँ को भी अपने जैसा बनाने पर तुले हैं। जीवन भर तमाम इच्छाओं को मारने वाली माँ जब विधवा हुई तो रिश्तेदारों से भरे घर में एकान्त पाकर जतिन से बोली, “बेटा कहीं से खिचड़ी मिल जाए खूब मटर वाली, ऊपर से घी और ढेर सारा गरम मसाला डालकर ले आ। बड़ा मन हो रहा है। कब से कुछ खाया ही नहीं।” उस दिन से ‘कब से’ शब्द जतिन के मन में अटक गया। उसके बाद जतिन ने खुद से पकाना और माँ की पसन्द का उसे खिलाना शुरू कर दिया। माँ को पकाने से भी अरुचि हो गई थी। कई बार जतिन पूछ-पाछकर या इण्टरनेट और टीवी की मदद से नई चीज़ें बना देता तो कई बार बाहर से चाट-पकौड़े भी आ जाते। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध ही माँ को उसकी पसन्द का खिलाना-घुमाना हो गयी। माँ से कहता भी कि “माँ शादी के बाद तेरी बहू जैसा खाना चाहेगी वैसा ही खाएगी। तेरी तरह इच्छाएँ नहीं मारेगी।” और माँ कहती “कह कर नहीं करके दिखाना तू। और खाने-पीने में ही नहीं घूमने, बोलने-बतियाने, सजने-सँवरने सबका ध्यान रखना होगा तुझे।” इसीलिए रावी के भोले निष्कर्षों पर जतिन मन में ही हँसकर रह जाता है। वह शादी के बाद ज़िन्दगी को उसे ज़िन्दादिल तोहफे के रूप में देना चाहता था।

स्कूल में केवल एक संजीव सर ही थे जिन्हें जतिन एक परिपक्व और संवेदनशील इन्सान समझता था और कई बार रावी से जुड़ी बातों को उनसे साझा भी किया करता था। क्लासेज़ से कभी-कभार फुर्सत मिलने पर वे जतिन के साथ कुछ समय बिताते। जतिन उन्हें रावी से जुड़ी बातें बताने को तो आमामदा रहता ही साथ ही अपनी जिज्ञासाओं के हल और अपने संशयों को भी बाँटता। जल्दी ही उसे रावी के घर भी जाना था तो थोड़ा परेशान भी था। अपनी पेशानी लेकर जतिन एक दिन संजीव सर के सामने हाज़िर हो गया।

“सर, रावी के पिता तो मुझे बहुत अच्छी तरह जानते हैं पर मैंने उन्हें जितना जाना है वे जात-बिरादरी और धर्म के बड़े पक्के हैं। क्या वे मुझे स्वीकारेंगे?”

“मेरे हिसाब से तो तुम एक बार उनसे मिल लो बाकी निर्णय तो तुम दोनों का ही है। तीस पार की उम्र है रावी की, शादी के बारे में सोच तो रहे ही होंगे। न भी मानें तो तुम लोग अपना निर्णय जीना। दोनों समझदार हो, आत्मनिर्भर भी हो।”

“पर मुझे लगता है कि रावी के मन को ठेस लगेगी अगर वे नहीं माने तो। उसका सपना है उसके परिवार की सभी शादियों की तरह सब कुछ हँसी-खुशी और पूरे ताम-झाम के साथ हो। देखने से तो समझदार लगती है पर मैं ही जानता हूँ कि अभी उसमें कितना बचपना बाकी है।”

“और तुम क्या सोचते हो जतिन इस बारे में?” संजीव सर ने तार्किक मुद्रा में सवाल किया।

“हँसी-खुशी तो मैं भी चाहता हूँ सर पर ताम-झाम नहीं। मैंने अपनी शादी के बारे में यही सोचा है कि किसी से भी आर्थिक मदद नहीं लूँगा। जो मेरे पास है जैसा है उसी में अच्छा करने की कोशिश रखूँगा। रावी से भी मुझे कोई मदद नहीं चाहिए। पर वो मेरी बातों पर गौर ही नहीं करती। उसे तो लगता है माँ-बाप बेटियों के लिए करते ही हैं सब। अक्सर हम दोनों की इस बात पर तकरार हो जाती है सर।”

“सही सोचा है तुमने...और रावी अभी तक इसे सामान्य विवाह की तरह ही ले रही है। हाँ, पर अब देर करना सही नहीं। एक बार मिल लो मित्तल जी से और तुम दलित-वलित तो हो नहीं जो उनके गले नहीं उतरेगे। मेरी ज़रूरत हो तो बताओ?”

“तो आप क्या सस्ते में छूट जाएँगे सर? पर अभी मैं अकेले जाऊँगा फिर माँ और आप चलिएगा। पिताजी हैं नहीं और बड़े भैया को बिना दहेज वाली शादी में कोई इंटेरेस्ट होगा नहीं।” जतिन ने सोच लिया कि अगले इतवार हिम्मत करके रावी के पिता से साफ़-साफ़ बात कर लेनी है। बीच के कुछ दिन अपने मन को हिम्मत बँधाता रहा। रावी अन्य प्रेमिकाओं की तरह अपने पिता को अच्छी लगने वाली बातें उसे बताने लगी ताकि बात करने में सुविधा हो और बात आसानी से बन जाए। इसी बीच स्कूल का एनुअल डे आ गया। एनुअल डे का मतलब सांस्कृतिक कार्यक्रमों से लेकर पूरे स्कूल के भोजन तक था। कई दिनों की मेहनत के बाद जब भोजन का समय आया तो सभी लॉन में इकट्ठे हो गए। इमारत लगभग खाली थी। रावी और जतिन भी भोजन में शामिल होने जाने वाले थे। पर रावी ने सुबह ही जतिन को बता दिया था कि आज उसकी पसन्द का मूंग दाल हलवा बनाकर लाई है। लोगों के न होने से कुछ निश्चिन्त होकर जतिन और रावी हलवा खा रहे थे। अपनी प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया में जतिन ने रावी के दोनों हाथ अपने हाथों में थाम लिए। रावी के बालों को सहलाने के लिए वह उसके करीब आया ही था कि न जाने कहाँ से चन्देल सर प्रगट हो गए। आज दोनों रंगे हाथ पकड़े गए। जतिन हड़बड़ाहट में कुछ समझ ही नहीं पाया और रावी का हाथ थामे खड़ा रहा। रावी ने जल्दी से हाथ छुड़ाकर नज़रें नीची कर लीं। चन्देल सर ने दोनों में से किसी को कुछ भी नहीं कहा। ज़रा देर ठिठके और चले गए। एक तूफान गुजरा था पर एक बड़े तूफान की आशंका के साथ। रावी उसी समय घर चली गई और जतिन यही सोचता रहा कि किसी भी क्षण मित्तल सर का फोन आता ही होगा।

सारी बात इसी उधेड़बुन में निकल गई कि अब क्या होगा? क्या बीती होगी रावी पर। हालाँकि शाम को रावी से कुछ देर बात करने पर जतिन ने जान लिया था कि घर पर कोई सवाल-जवाब नहीं हुआ पर हाँ, घर की हवा को सामान्य नहीं कहा जा सकता था। माँ को चाहकर भी नहीं बता पाया जतिन कि चिन्ता में अपनी सारी रात काली कर देगी माँ। जतिन को बार-बार रावी के शब्द याद आ रहे थे—“देर हो जाएगी जतिन।” सचमुच देर हो गयी। चन्देल सर ज़रूर गए होंगे मित्तल सर के कान भरने। अब इतवार को अपराधी की तरह जाना पड़ेगा और दूसरी ही तरह बात सम्भालनी होगी। न चाहते हुए भी सारी स्थिति बिगड़ चुकी थी। सुबह स्कूल पहुँचकर देखा तो रावी की कुर्सी खाली है। ज्यों-ज्यों समय गुजरता जतिन का मन घटने लगता। सवालों के अनगिनत जंगल और आशंका के स्याह बादल सामने दिखाई दे रहे थे। हिम्मत करके फोन किया तो देर तक बजता रहा और किसी ने फोन नहीं उठाया। अजीब बात ये भी थी कि चन्देल सर से भेंट हुई तो वो भी पहले की तरह ही मिले। चेहरे और बातों से कल की किसी नाराज़गी का कोई सुराग नहीं मिला। अब किससे पूछे जतिन रावी का हाल। संजीव सर भी आज व्यस्त थे फिर निर्णय तो उसे खुद करना है, इस ख्याल से जतिन दिन भर खुद से ही उलझता रहा।

शाम के घिरते जाने पर आखिरकार उसने सोच ही लिया, “बस अब नहीं। रावी की हालत जाने बिना आज घर जाना गुनाह है।” शाम को बिना इत्तला किए जतिन रावी के घर पहुँच गया। “जी, मैं जतिन हूँ मित्तल सर घर पर हैं क्या?” सामने शायद रावी की मम्मी थीं। बिना किसी उत्सुकता के एकदम शान्त जवाब मिला—“नहीं, घर पर नहीं हैं। कोई काम है?”

“जी मिलना था।”

“ठीक है बता दूँगी। फोन करके आना।” पानी पूछने और बिठाने की औपचारिकता पूरी किए बिना ये संवाद हुआ। इस दौरान जतिन की हर सांस रावी की आहट पाने की कोशिश

करती रही। पर व्यर्थ। लगा जैसे किसी गलत घर का दरवाजा खटखटा दिया है। चाहते हुए भी पूछ नहीं सका—“रावी कहाँ है? कैसी है?”

आज फिर रावी नहीं आई जतिन का सन्देह यकीन में बदल रहा था कि जरूर मारा-पीटा गया होगा। पिटाई के निशान और सूजी हुई आँखें लेकर कैसे आती स्कूल? रावी का फोन आज भी बजता ही रहा। दूसरे नम्बरों से भी कोशिश की पर व्यर्थ। कई प्रयासों के बाद बिना एक पल गँवाए उसने मित्तल सर को फोन लगाया। सामान्य ढंग से हुई बातचीत में उन्होंने कल शाम का समय दिया। उनकी बातों से जतिन को किसी तूफान की भनक नहीं लगी। मन को राहत पहुँची पर रावी से बात न हो पाना और उसका स्कूल न आना बहुत बुरा लग रहा था।

“कैसे हो जतिन? उस दिन तुम आए...कहीं गया हुआ था पर बता देते मुझे तो...ठहर जाता।”

पानी पीते हुए जतिन को लगा एक वाक्य बोलने में इतनी जगह रुकना? पर फिर खुद को संयत किया कि मित्तल सर के लिए भी तो ये सब अजीब होगा। चाय आने तक भी रावी का पता नहीं था। जतिन को लग गया उसे रावी की गैरहाज़िरी में ही बात करनी होगी जबकि रावी घर में ही मौजूद है।

“सर, मैं और रावी चाहते हैं कि हमें आपका आशीर्वाद मिले...शादी के लिए।”

बिना कोई सवाल किए, बिना हड़बड़ाए मित्तल सर ने कहा—“मुझे अपने बड़ों से बात करनी होगी।”

“पर आपको तो कोई एतराज़ नहीं है न सर?” अपनी बेचैनी पर काबू न पाते हुए जतिन के मुँह से निकल ही गया।

मित्तल सर जैसे तैयार थे इस सवाल के लिए—“देखो, जतिन इतनी जल्दी कुछ कह पाना मेरे लिए सम्भव नहीं। बहुत-सी बातें देखनी होंगी अभी।”

“सर...रावी...रावी से...”

“रावी की मौसेरी बहन की शादी है। हाथ बँटाने के लिए उसे बुलाया है। गलती से मोबाइल भी यहीं छोड़ गई है।” आगे के सवाल का अन्देश लगाकर जैसे मित्तल सर ने जवाब दिया। अब बेशर्म होकर मौसी के घर का पता और नम्बर भी तो नहीं माँगा जा सकता। शंका होते हुए भी जतिन का मन कहा रहा था—“पर सही भी तो हो सकता है जो कुछ उन्होंने कहा। मिले तो ढंग से ही। चाय-वाय भी पिलाई और गलत भी क्या कहा परिवार से बात तो करनी ही पड़ती है शादी-ब्याह के मामलों में। और बहन की शादी का जिक्र तो रावी ने भी किया था। “पर स्कूल को बिना इन्फॉर्म किए जाना और बिना मोबाइल के जाना अखर रहा था जतिन को। तमाम हलचलों के बीच बस एक स्कूल था कि आखिरकार अपनी बात कह पाया आज। संजीव सर ने भी हौसला बढ़ाया—“जवान आधा काम तो कर ही आए हिम्मत से तुम। यकीन रखो सब ठीक होगा।” पिछले कुछ दिनों से चेहरे पर चस्पा तनाव की वक्र रेखाएँ आज किसी हद तक स्थिर हुईं। रात को सोचा माँ से कह दे सब पर रोक लिया कि अब अच्छी खबर ही सुनाएगा माँ को। देर तक गप्पबाजी हुई आज माँ के साथ।

“एक बात बताओ माँ, सामने फ्रेम वाली तस्वीर में तुम पिताजी के साथ क्यों नहीं बैठी हो? वे बैठे हैं और तुम खड़ी हो?”

“अरे, अपने बराबर कभी बिठाया ही कहाँ रे उन्होंने।”

“तुम जा बैठतीं...जगह तो खाली थी न उनकी बगल में।”

“बात तो मन में जगह की थी न रे...चल तू बिठा लियो अपनी रावी को बगल में। वही फ्रेम लगा देंगे इसके बगल में, ऊपर बैठे-बैठे भी कुढ़ेंगे मुझसे।” इस बात पर दोनों देर तक हँसते रहे।

जतिन के नसीब में आए राहत के पल रेत की मानिन्द हाथ से फिसल गए। जीवन में एक अजीब अस्थिरता, असुरक्षा और अनिश्चितता ने घर कर लिया। सहज प्रेम की सुन्दर कल्पनाएँ बिखर रही थीं। रावी से कोई मुलाकात नहीं, बातचीत नहीं। कहीं कोई राह नहीं, दिशाएँ सब उलझीं और अनुत्तरित। दिन हल्की-सी उम्मीद से शुरू तो होता पर एक बड़ी नाउम्मीदी पर उसे अकेला छोड़ जाता। दिमाग रावी को इतना याद करता कि अक्सर जतिन को लगता कि वह रावी की सूरत ही भूलता जा रहा है। ऐसे में स्कूल का काम उपेक्षित हो रहा था। किसी से बात करने की इच्छा भी नहीं होती थी। हरदम उसे लगता कि पीठ पीछे ही नहीं अब सामने भी मज़ाक उड़ाने में लोग संकोच नहीं कर रहे हैं। अक्सर उसके कान व्यंग्य बाणों के नुकीले प्रहारों से बिन्धे रहते और मन सोचता कि समाज किस हद तक असंवेदनशील है। इधर चन्देल सर ने तो इस विषय में उससे बात करने से साफ़ मना कर दिया। सब कुछ ठहरा, थमा और रुका हुआ था। और रावी जैसे वो कहीं थी ही नहीं। सपनों में रावी, जतिन को किसी तंग तहखाने में चीखती दिखाई देती। कई शाम दूर से उसके घर पर निगाह भी रखता था जतिन, पर सब व्यर्थ सपनों से भरी एक लड़की इस शहर में गायब कर दी गई थी और कहीं कोई हलचल नहीं थी। सब अपने कामों में पहले की ही तरह व्यस्त थे। किसी को कोई चिन्ता ही नहीं थी। इस बीच जतिन थरा जाता, भाई और पिता द्वारा या रिश्तेदारों द्वारा जाति धर्म की रक्षा में अपने सपनों के आकाश में स्वतन्त्र उड़ने वाली लड़कियों के कत्ल की खबरों से। कई बार लगा कि गुपचुप उसकी शादी तो नहीं कर दी गई है। रावी पर किए अत्याचारों के बारे में सोचकर एक अपराध बोध से रोज भरता जा रहा था जैसे। जतिन के पास सिर्फ़ इन्तज़ार बचा था—एक लम्बा इन्तज़ार।

“कैसे हो जतिन?”

“रावी तुम हो न? कहाँ हो रावी? कैसी हो?” भराए गले से जतिन के बोल फूटे।

“सब भूल जाओ जतिन। मैं अपने परिवार को कोई दुख नहीं पहुँचाना चाहती।”

“नहीं रावी। ये क्या कह रही हो? अच्छा एक बार मिल तो फिर बात करते हैं।”

“नहीं जतिन...अब कभी नहीं”

“नहीं रावी, रुको, सुनो तो...सुन रही हो न...बस एक बार हिम्मत करके आ जाओ मैं सब सम्भाल लूँगा रावी। बस एक बार। क्या इस दिन के लिए देखे थे हमने वो सपने? रावी मैं कह...।” बात पूरी हुए बगैर ही फोन कट गया या काट दिया गया। जतिन के अल्फाज़ कुछ देर साँस के साथ धड़के फिर किसी अँधेरे में गुम होते चले गए। अब क्या होगा? यही सबसे बड़ा सवाल था। रावी के ज़िन्दा होने की सूचना कितना कुछ खत्म होने के साथ मिल रही थी। कितना सपाट था रावी का स्वर। चिन्ताओं और तनाव के दुष्चक्र लगातार जतिन को अपनी गिरफ्त में लेते जा रहे थे। अब क्या होगा?

“रावी को आना ही चाहिए जतिन, चाहे कैसी भी परेशानी हो।” संजीव सर सब जानकर निर्णयात्मक ढंग से बोले। पर जतिन न सिर्फ़ रावी के अबोध मन का जानकार था बल्कि उसके द्वारा जीवन के बनाए गए सुरक्षित फ्रेम की भनक भी थी उसे, जिसमें नानी-दादी और माँ के जीवन-निष्कर्षों की तस्वीर जड़ी थी। ये तस्वीर काफ़ी खुशहाल दिखती थी, जिसमें तीनों औरतें मजबूती से रावी का हाथ थामे हैं। संजीव सर को रावी को लेकर एक सख्त नाराज़गी थी पर जतिन रावी के असमंज और उसकी पीड़ा को भी समझ पा रहा था। क्या रावी उस

फ्रेम में उन तीन महिलाओं से झिटककर खड़ी अपनी दुखी तस्वीर की कल्पना से सिहर नहीं उठती होगी? कैसे उनसे अपना हाथ छुड़ा सकेगी रावी?

“इतनी बच्ची भी नहीं है रावी। पैरों पर खड़ी है। समझदारी से काम ले और क्या प्यार करते समय इन खतरों के बारे में सोचा नहीं होगा उसने?” संजीव सर रौ में बोले चले जा रहे थे। जतिन के बँधे होंठ भाषा की हद से बाहर हो चले थे पर मन ज़ोर-ज़ोर से कह रहा था” आप नहीं समझते सर रावी को। पैरों पर ज़रूर खड़ी है पर खड़ा करवाया है उसके पापा ने। उसकी मर्ज़ी कहाँ थी? भले ही मुझसे प्यार करती है पर औरों के निर्णयों पर जीने की आदत है उसे। खुद को अकेले कैसे निकालेगी उस फ्रेम से? तस्वीर की अहमियत और उसमें रावी की सुरक्षित जगह की कितनी दुहाई दी गई होगी। वो तो मेरे ‘मैं सब ठीक कर दूँगा’ जैसे चमत्कारिक शब्दों में बँधी चल रही थी अब तक। अब जीवन के इस मोड़ पर उसे मेरे शब्दों का जादू भी बेअसर लग रहा होगा।

“जिस समाज में रहती है क्या जानती नहीं कि प्रेम की क्या कीमत चुकानी पड़ती है? शादी से पहले धमकियाँ और हत्याएँ। तरह-तरह के अत्याचार और शादी के बाद धोखे से बुलाकर लड़की को मारकर गाड़ देना और लड़के की लाश को उसके घर के आगे फेंक देना।” संजीव सर रावी की चुप्पी को अपनी तीखी प्रतिक्रिया से भर रहे थे।

“जानती क्यों नहीं है सर। सब जानती है, पर उसका मन? उसका क्या सर? मन नहीं मानना चाहता ये सब। मन तो उसका अपनी बहनों की तरह हँसी-खुशी विवाह करना चाहता है।” जतिन के शब्द जुबान पर आकर भी खामोश थे। वह खामोश और अकेला दोतरफा लड़ाई लड़ रहा था। अपनी और रावी के हिस्से की।

“तुम्हारी चुप्पी को क्या समझूँ जतिन? मित्तल सर भी झॉसा ही दे रहे हैं और क्या?”

“सर, चुप कहाँ हूँ, सब जानता हूँ। पर मुझे रावी के आने का इन्तज़ार है।”

“और वो नहीं आई तो?” संजीव सर के सवाल ने जतिन को निरुत्तर कर दिया। पर रावी से फोन पर हुई बात ने जतिन को थोड़ी-सी आस बँधाई थी कि रावी ज़रूर लौटेगी।

इधर रावी की लम्बी गैरहाज़िरी के चलते एक दिन जतिन के डेस्क पर प्रिंसिपल सर की ओर से भिजवाया गया नोटिस उसके साइन के लिए आया। पत्र में रावी के आने की अन्तिम मियाद तय थी जिसके बाद उसकी सेवाएँ समाप्त समझी जाएँगी। सारे स्कूल में इस नोटिस को लेकर एक हलचल थी। सब लोग तमाशे की अगली कड़ी का बेसब्री से इन्तज़ार करने लगे। नोटिस पर स्टैप लगाकर अपने इनीशियल करते हुए और वापिस प्रिंसिपल सर को भेजते हुए जतिन के मन ने कहा, “अब रावी लौट आएगी। कितनी कोशिशों से लगी नौकरी को कोई क्यों ऐसे ही जाने देगा वो भी नौकरियों के अकाल के इस महाकाल में?” ये नोटिस जैसे जतिन की आशा का एकमात्र आधार बनकर उसके सामने था। उसे माँ के शब्द याद आए, “बेटा अच्छे दिन नहीं रहे तो देखना बुरे दिन भी गुज़र जाएँगे।” इन्तज़ार की घड़ियाँ एक बार फिर से जतिन को रोमांचित करने लगीं। रावी की मेज़ से गुजरते हुए यों ही उसे दुलार से सहलाया जतिन ने। कुर्सी पर मुस्कुराती रावी नज़र आई। अचानक ही जतिन फिर से सब बातों-यादों को सहेजने लगा। फिर से सारे सपने अपनी माँगों को लेकर जतिन के सामने खड़े थे और जतिन एक बार फिर से उन्हें साकार करने के जोश में भर उठा था। वह जानता था कि रावी को तमाम हिदायतें देकर भेजा जाएगा। हो सकता है वो कुछ दिन बोले भी न, उसकी उपेक्षा करे। पर फिर भी जतिन को भरोसा था कि वो सब ठीक कर लेगा। शब्दों का जादू खुद से धूल झाड़कर वापिस लौट रहा था।

स्कूल में आज बड़ी रौनक थी। सारा स्कूल आज बारात में तब्दील होने वाला था। शाम को हिस्ट्री वाले अनिल सर की बारात जानी थी। बहुत से लोग अनिल के घर से सारी रस्मों में शामिल होते हुए शादी की जगह पहुँचने वाले थे। प्रिंसिपल सर और जतिन को खासतौर पर इसके लिए निमन्त्रित किया गया था। अनिल के घर बारात का हुडदंग मचा था पर प्रिंसिपल सर आज हमेशा की तरह हँस नहीं रहे थे। एक खिंची-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर थी। काफ़ी पूछने के बाद उन्होंने जतिन को बताया—“बुरी खबर है जतिन...रावी का लिखित इस्तीफा मिला है आज। किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से वह यह नौकरी छोड़ना चाहती है।”

“सर, आपने बात...” जतिन के अस्फुट से स्वर बाहर आने को फड़फड़ाए।

“मित्तल जी से बात हुई मेरी। संजीव ने भी समझाया पर उन्होंने तो सीधा ही कह दिया—‘यहाँ ही नहीं कहीं भी नहीं करवानी नौकरी इस लड़की से’...जतिन उनका फैसला पक्का है।”

यानी रावी से उसके सपने ही नहीं आत्मनिर्भरता का अधिकार भी छिन गया जतिन के चलते। ये तो जतिन ने कभी नहीं चाहा था। कितना कुछ टूट रहा था उसके भीतर और कितना कुछ तोड़ा जा रहा था भीतर तक फिर भी जतिन की बाहर से सहज बने रहने की कोशिशें जारी थीं। अचानक वह भीड़ में एकदम अकेला महसूस कर रहा था। एक मशीनी तरीके से सेहराबन्दी, घुड़चढ़ी की रस्मों से जुड़े हुए जतिन ने देखा सामने संजीव सर थे। लड़खड़ाते कदमों से उनके करीब गया और गले लगकर रोने लगा। सही जगह और मौका न होते हुए भी संजीव सर आज इस हरकत पर शान्त थे। अपनी बाहों में कसकर जतिन को थामे थे और जतिन ढोल की तेज़ आवाज में अपनी बेसाख्ता रुलाई और दर्द को पूरा मौका दे रहा था। जतिन के रोने में उसके चीखते हुए सवाल शामिल थे—“मित्तल सर, आपकी समस्या जात-बिरादरी है या बेटी के स्वतन्त्र निर्णय?”

नहीं, इसके बाद भी जीवन खत्म नहीं हुआ। जतिन की नौकरी चलती रही पर रावी को ज़िन्दादिल ज़िन्दगी का तोहफा न दे पाने का दोषी खुद को मानते हुए उसने शादी नहीं की। माँ की सारी साध मन में ही रह गई। बहू की मनमर्जी का खिलाना, पहनाना-घुमाना ही नहीं दीवार पर रावी-जतिन की साथ बैठे हुए खिंचने वाली तस्वीर का फ्रेम भी खाली ही रह गया। जतिन अक्सर खुद को सजा देता हुआ देर शाम या कभी अलस्सुबह पैदल लम्बी दूरी तय करके जाता है रावी के घर तक और बिना उसे देखे लौटे आता है। रावी से बिछड़े हुए आज पाँच साल से अधिक बीत चुके हैं। चाहें तो इतना और जोड़ लें कि जतिन आज भी औरों की तरह रावी को उस सबका दोषी नहीं ठहराता। रावी को घर बिठा दिया गया है। कई साल गुज़र गए घरकैद में। उसकी छोटी बहन की शादी हो गई और शादी के लिए रावी की उम्र निकलती जा रही है। जतिन ने सुना, स्कूल में ही कोई कह रहा था कि “रावी भाई के बेटे को ऐसे सम्भाल रही है कि सगी माँ भी क्या सम्भालेगी। बड़ी ही आज्ञाकारी और अच्छी लड़की है...” एक बन्धक आकाश के नीचे दूसरों की दी हुई बैसाखियों पर चलते, अपने टूटे-बिखरे सपनों को खुद से भी छिपाते, हर पल तस्वीर रावी की रक्षा करती वह आज्ञाकारी और अच्छी लड़की नहीं तो और क्या है?

संपर्क : ई-122, आस्था कुंज, सेक्टर-18 रोहिणी, दिल्ली-85, मो. 9811585399

सुरंग

वी. एस. अनिल कुमार
अनु. सुमित पी. वी.

रेलगाड़ी के सुरंग के अंदर घुसते वक्त, ऐसा लगता है कि अंधेरे की एक दीवार बिना किसी आवाज के खड़ी हो रही है और बाद में अपने आप निकल जा रही है। और तो कुछ भी अंदर नहीं आता है। वातुनूकुलन मशीन से डिब्बा बहुत ही अच्छे से ठंडा हो रहा है। गाड़ी में इतनी ठंड के साथ यह पहली बार यात्रा कर रहा हूं।

आगे बैठा युवक शुरु से मेरी ओर तिरछी आंखों से देख कर मुस्कराने, परिचय दिखाने की चेष्टा कर रहा था। उसमें एक तरह की कौतूहल भी दिखाई दे रहा था। अपने युवत्व के कई प्रतीक उसमें दिखाई दे रहे थे। हर दिन शेविंग करने से मूंछ और दाढ़ी की जगह पर हल्का-सा हरा रंग लगा चेहरा, कानों में वॉकमेन, गोद में मोटा-सा उपन्यास और उसका ध्यान हमेशा लैपटॉप-बैग पर ही जा रहा था। बरमुडा, बड़े अक्षरों में आई एम रेडी लिखा हुआ टी-शर्ट, उतार कर नीचे रखे गये अडीडास कंपनी के जूते।

तब उसने ध्यान से अपने कानों के वॉकमेन और गोदी के मोटे उपन्यास को हटाते हुए मेरी ओर बढ़ कर बड़े सुंदर ढंग की अंग्रेजी में पूछा 'माफ कीजिए, आप कहां जा रहे हैं' मैंने उसे जवाब दिया कि मैं दिल्ली में एक राष्ट्रीय सेमिनार में भाग लेकर वापस गांव, केरल के दक्षिणी कोने की ओर जा रहा हूं।

'अरे! सर, आपको देखकर मुझे लगा था कि आप गोवा के हैं। इट इज सो डिसप्टीव' उसने थोड़ी-सी मलयालम जोड़कर इतना कहा तो मुझे भी आश्चर्य हुआ। उसका रूप देख कर मैं भी यह समझ नहीं पाया कि वह एक मलयाली है। उसी कारण से वह भी मुझे पहचान नहीं सका था। रूप की पुरानी मान्यताओं को दूर फेंक न पाने के कारण भी ऐसा हुआ होगा। कुल मिलाकर बराबर हो गया।

'मेरा नाम राजेश पीटर। संकर जाति का हूं।' उसने कहा। 'सर, आपकी मेरे मामाजी यानी मेरे पिता जी के भाई के जैसी ही शक्ल है। उम्र से अधिक पके बाल, बड़ा पेट, बड़ी-बड़ी

आंखें, पहली बार किसी को भी नजदीक न आने देने वाली गंभीरता, इसीलिए, मेरे मामा जी के जैसे लगे और मैं आपसे आगे बढ़ कर बात करना चाह। वह सब कुछ बाहर ही बाहर है। ही इज सो ह्यूमेन। सर, आप क्या कर रहे हैं?’

‘माई डियर यंग मैन। मैं एक यूनिवर्सिटी में नौकरी करता हूँ। उससे बढ़ कर कुछ नहीं।’

‘माय गुडनेस। मेरे मामाजी भी यूनिवर्सिटी प्रोफेसर हैं। क्या आपने जीवाजी यूनिवर्सिटी का नाम सुना है सर?’

‘हां’ मैंने कहा। ‘भारत की सभी यूनिवर्सिटियों के पते से भरी एक ब्लू डायरी मेरे पास है। जो भारतीय विश्वविद्यालय संघ ने बांटा था। जानते हो?’

‘ओके...ओके...सफर के दौरान आप इतना यांत्रिक बनेंगे, ये तो मैंने सोचा भी नहीं सर। माफ कीजिए, मेरे इन कैजुअल पहनाओं को आपने तो बेकार साबित किया। तो सर, बताएं आपकी मैं क्या हूँ? जस्ट गेस।’

मेरे पास उतना ज्यादा सोचने के लिए कुछ नहीं था ‘कम उम्र, शारीरिक हरकतें, किसी बड़े कंपनी में मैनेजमेंट ट्रेनी। नहीं तो अपनी प्रतिभा के मुताबिक किसी प्रबंधक के पद पर...क्यों?’

‘यू आर ग्रेट सर। शरीर की भाषा से इतना सही कहना...लेकिन...आई वॉज...था...अभी नहीं।’ राजेश पीटर तब तक एक दुखी चेहरा बनाकर बैठने लगा। एक पल, राजेश अपने आप में पिघल गया। मुझसे दूर हटा। वॉकमेन कानों में टूँसकर मोटे उपन्यास में जहां तक पढ़ा था उस पन्ने को खोल कर, वह फिर से मेरे लिए अजनबी बन गया।

युवकों के कारण मेरा इस तरह निराश होना यह पहली बार नहीं हुआ था। ऐसा हो सकता है कि यह मेरी ही कमी के कारण हुआ होगा। फिर भी ये युवक इस तरह क्यों होते हैं? वह अपनी और मैं अपनी जगह पर बैठ कर, पैरों को लंबा करते समय या अनजाने में भी आपस में छुए बिना इस यात्रा को पूरा कर सकते थे।

खिड़की के बाहर के शीशों पर पानी की नमी। उसके बाहर दूर-दूर तक फैले पीले रंग के फूलों वाले सरसों के खेत पीछे निकले जा रहे थे। बहुत देर तक उसे देखते रहने के बाद मैंने अपनी आंखों को बंद किया, और डिब्बे के अंदर की जरूरत से ज्यादा ठंड की लपेट में आकर हल्की नींद सोया।

जगने पर भी केवल राजेश पीटर ही साथ था। अन्य बर्थों के हकदार तो सब गाड़ी में चढ़ते समय ही अपनी थैली और सामान सीटे के नीचे और ऊपर व्यवस्थित रख कर गायब हुए थे। एक-दो गिटार और बजाने का वाद्ययंत्र ऊपर दिखाई दे रहा था।

अपने हिस्से की खिड़की के परदे को खींच कर, यात्रा के दौरान कभी भी बाहर न देखने का प्रण लिए, कानों में संगीत और हाथों में मोटी कहानी लिए बैठा है राजेश। उसको अभी मैं दिखाई नहीं दे रहा था। मुझे आलस-सा लगने लगा। खेल के मैदान में अपने और दूसरे पक्ष के खिलाड़ियों के बिना अकेले खड़े फार्वर्ड की तरह मैं।

‘माफ कर दो राजेश’ मैंने पूछा, ‘बातचीत के बीच मैं सो गया था क्या?’

‘अरे, नहीं, नहीं सर’, फिर से कान और हाथ से अपनी दुनिया को हटाते हुए राजेश। ‘शायद, मैंने ही आपको नींद की ओर धकेल दिया था। मेरा जल्दी मूड आउट हो गया था।’

मैं बैठ गया और राजेश को देखा। पुस्तक को वह आधे से ज्यादा पढ़ चुका था। पढ़ने में उसकी गति इन्सान के लिए संभव गति से कई गुना ज्यादा थी। उस तरह पढ़ने से कोई फायदा तो नहीं होगा। मेरी सोच को पकड़ने का प्रयास करते हुए राजेश ने कहा :

‘दास्तावस्की को पूरा पढ़ने के लिए एक समय मैं बहुत बेचैन रहता था सर। फिर बशीर और माधविककुट्टी, वह पुराना समय...’

उसका पुराना समय सुनकर मुझे तो हंसी आ गयी। लगभग तीस वर्षीय उसका पुराना समय! लेकिन, मेरी उस तरह की सोच को भी उसने पकड़ लिया।

‘हां सर। बीस साल मतलब पुराना ही हुआ न? आठ वर्ष की उम्र में मैंने दास्तावस्की का ‘पावंगल’ पढ़ा। ह्यूगो का ‘पावंगल’ नहीं। उस मिरगी की बीमारी के साथ जीने वाले का जो कठिन ठंड के मौसम आने पर एक जोड़ी नये जूते न खरीद पाने की स्थिति में स्वयं अवमानित हो जाता है। वह सब तो पुराने समय में...अब उस तरह पढ़ कर परेशान मैं नहीं हो सकता। आप जानते हैं, आप और जीवाजी यूनिवर्सिटी के मेरे चाचू जितना तनख्वाह पा रहे हैं उससे तीन गुना ज्यादा मैं पा रहा हूं। एंड विथ पेरक्स। यदि अगली श्रेणी में पहुंच गया होता, वाह! सारी सुविधाओं के साथ मकान और नौकर। कार भी कंपनी द्वारा दी जाएगी। कुल मिलाकर कहूं तो ए हेविली पेय्ड हेल! सर आप तो जानते होंगे। बौद्ध-दर्शन में आठ नरकों के बारे कहा गया है। एंड आई डॉन्ट वांट टू लूज इट। ब्रदर कारमोसोव, पात्तुम्मा की बकरी और क्राइम एंड पनिशमेंट आदि पढ़ कर मलयालम की साप्ताहिक पत्रिकाओं को डाक से मंगाकर खुद को अद्यतन कर, संपादकों को चिट्ठी लिख कर, चर्चाओं में भाग लेकर...यह सब कुछ मैं नहीं खो सकता।’

मुझे लगा कि राजेश पीटर थोड़ा-सा हांफा। तब मैंने कहा :

‘राजेश तुम विकारों से उत्तेजित हो रहे हो, सेंटिमेंटल।’

‘सर, आप जानते हैं, हर एक कदम आगे बढ़ने पर पीछे शून्यता में खत्म हो रही है राह...आई शुड फील ब्लैक विहैन्ड। पीछे कुछ होने का अहसास कभी मुझे होना ही नहीं चाहिए। जानते हैं?’

‘फिर कैसे मूड आउट होते हो?’ जिज्ञासा के साथ मैंने पूछा। ‘परेशानी और आकुलताओं से बचकर सुखी जिन्दगी जीने के लिए कितनी पुस्तकें पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाकर और अन्य तरह से तुमने पढ़ा होगा? ‘हाउ टू स्टॉप वरीथिंग एंड स्टार्ट लिविंग’ से? ‘सफलता की ओर तीन राहों से एक सौ एक राहों’ के बारे में बताने वाली किताबें तथा लेखों को मैंने पढ़ा है। वह सब कुछ हम जैसे लोगों के लिए तो नहीं है...’

राजेश पीटर ने जल्दी कोई जवाब नहीं दिया। मुझे लगा कि मैं सवाल पर सवाल कर उसे परेशान कर रहा हूं। यह भी लगा कि मेरे बाद के समय को पूरी तरह सवाल कर नीचा दिखाने की सोच उतनी अच्छी भी नहीं है।

तब पेन्ट्री से कॉफी आयी। ‘अरे सेल्व मुत्तु, इधर दो कॉफी देना।’ मैंने कहा। तुरंत राजेश ने मुझे रोका-‘मुझे नहीं चाहिए सर।’

‘एक कॉफी राजेश, मेरी खुशी के लिए।’

‘नहीं सर। प्लीज, ज्यादा दबाव मत बनाइए। नो कंप्लैन्स। अगली बार जब दूसरा कोई वड़ा लेकर आएगा तो मुझे आपसे पूछना पड़ेगा। सर, आप वड़ा खायेंगे? फिर...’

मैं थोड़ा-सा चौंक गया। सेल्व मुत्तु ने गिलास में कॉफी निकाल कर दिया और साथ ही साथ पूछा कि ‘दोपहर का खाना चाहिए सर?’ यह सब सुन कर राजेश पीटर ने पूछा : ‘इन सबका नाम आपको कैसे पता सर?’

मैंने कहा, ‘ये सब मेरे बेकार अधीनस्थ कर्मचारी तो नहीं हैं राजेश। इन्सान हैं न। तो परिचय और दोस्ती के लिए उतना ही ज्यादा है।’

‘ओके...ओके...आप फिर मेरी कमी की ओर इशारा कर रहे हैं। लाट-पादरी। सत्ता-श्रेणी की...समझ रहा हूं सर।’

मेरे कॉफी पीने के बीच राजेश ने बैग से अपने लैपटॉप को बाहर निकालकर कुछ करना

शुरू किया था। हो सकता है ई-मेल को पढ़ कर उसका उत्तर दे रहा हो। वेबसाइटों पर नयी नौकरी की तलाश कर रहा होगा। सफर के बीच नेटवर्क कनेक्शन स्थिर रहना भी मुश्किल होगा। उसकी ओर घुसपैठ करने की मुझे अनुमति नहीं है।

तब राजेश ने एक बार फिर से लैपटॉप में से अपने ध्यान को बाहर निकाला और कहा 'माफ कीजिए सर। आपको लग रहा होगा मैं एक करियरिस्ट हूँ। उस शब्द का समतुल्य कोई मलयालम शब्द है सर?'

'केवल कार्य के लिए मशहूर कह सकते हैं।' मैंने खुद उस समतुल्य शब्द को खोज कर निकाला था।

'वह एक अच्छा शब्द है न?' राजेश ने पूछा।

मैंने सुनिश्चित करते हुए कहा : 'एक शब्द की अपनी कोई भलाई-बुराई नहीं है। ईएमएस का तुतलाना जैसा है। प्रयोग के समय ही साफ़ दिखेगा।'

राजेश लैपटॉप को एक बच्चे की तरह अपनी गोद में रख कर लाड़-प्यार दिखाता रहा। बंद होती आंखों से वह कुछ न कुछ सोच रहा था। बारिश के मौसम की बिजली के जैसे आकर जाने वाला राजेश पीटर नामक युवक को उस तरह देखते रहने पर मेरी कुतूहलता बढ़ती जा रही थी। मैं मुड़कर सीधा बैठने के बारे में सोच ही रहा था तभी उसने होश में आकर पूछा :

'सन् सतावन का मंत्रिमंडल। वह तो बेहतरीन था। है न सर? मैं तो शायद उसके तीसरी पीढ़ी का उपभोक्ता हूँ। बट वी फील टोटली आउटसाइडेड।'

'उस नाम का एक उपन्यास है...' बिना किसी भावभेद के मैंने कह दिया तो छलांग मारते हुए राजेश पीटर : 'काफ़का का है कि कामु का मुझे याद नहीं है। उनकी मां या दादी मां की मृत्यु हुई थी, वह भी याद नहीं। उनमें से कोई एक अपने द्वारा चलायी कार को पेड़ से टकराने पर मर गयी थी, वह भी याद नहीं। सर, एक तरह की मानसिक बीमारी। लेकिन आपके द्वारा प्यार से कॉफी पिलाने की बात को मैंने क्यों रोका था, आपने नहीं पूछा।'

'ठीक है, पूछ रहा हूँ।'

'आपने फिर से मुझे नीचा दिखाया। ओके। कोई बात नहीं। मैं बताता हूँ। मैं कॉफी नहीं पी सकता सर। क्योंकि उसके पेट में जाने से पूरा मामला गड़बड़ हो जाएगा। दूध है न?' उसने सॉफ्ट ड्रिंक की डेढ़ लीटर की बोतल दिखाकर कहा, 'गाड़ी के ग्वालियर पहुंचने से पहले मैंने अपने एक दोस्त को एसएमएस किया था। रोमिंग है तो उसका और मेरा पैसा बच जाएगा न। उसी ने लाकर दिया था। आपके जाने बिना मिला लिया था। नारंगी रंग में मिला लेंगे तो बाहरी दुनिया को पता ही नहीं चलेगा। यह पूरा का पूरा शराब ही है। पहले होता तो बिल पर हस्ताक्षर कर देने से काम हो जाता। कंपनी देती थी। मेजबानी और नहीं तो मनोरंजन भत्ते। दारू, कामेच्छा सब पूरा कर देगी। कामेच्छा को पूरा करने के लिए एक फर्जी बिल की जरूरत है। उतना ही। हमारे उत्पादों को बेचने में मदद करने वाले किसी को भी हम मनोरंजन सुविधाएं देते हैं। सर आप ऊब तो नहीं रहे हैं? माफ कीजिए, आपको यह मैं नहीं दे पा रहा हूँ।'

'कोई बात नहीं, मैंने कहा। 'मैं वैसे इधर-उधर दारू नहीं पीता हूँ।'

'ओके। आप मेरा मजाक तो नहीं बना रहे हैं। ओके...उधर, इधर और कहीं भी नहीं रहने वाले को कुछ भी हो सकता है न सर। मेरे पैर, माई फूट, अब तक इसे दुनिया पर कहीं भी नहीं रखा है। पैरों के कट जाने जैसे मेरे ये जूते आप नहीं देख रहे हैं?'

'राजेश तुम्हारी इस तरह की बातें सुनने पर, मैं एक बात बताऊँ। व्यापार-प्रबंधन के

क्षेत्र में, यानी पूरी तरह व्यापार क्षेत्र से संबंधित किसी व्यक्ति का इस तरह वैयक्तिक रूप से विकारोत्तेजित होना...सॉरी, मुझे किसी तरह खुश किया जा रहा है।’

‘व्यापार में किसी तरह के मनोविकारों का कोई स्थान नहीं है। ओके। लेकिन मैं आपको चौंका देने वाला एक सवाल करूँ? आपके यूनिवर्सिटी में भ्रष्टाचार है क्या? आई मीन करप्शन। अपने लोगों की तरफदारी, दूसरों की बुराई करना, आर्थिक अनियमितता?’

बिल्कुल चौंकाने वाला सवाल। हां या ना बोलने के बदले मैं पूछ बैठा ‘क्यों?’

‘मैं बताता हूँ। सरकारी तन्ख्याह लेनेवालों के प्रति मेरे मन में नफरत है। सर, एमबीए कोर्स में दाखिला लेने के संबंध में, एक प्रमाण पत्र के लिए यानी आमदनी प्रमाण पत्र के लिए एक महीने लगातार मैं ग्राम-पंचायत कार्यालय का चक्कर काटता रहा। अंत में, ग्राम-विकास अधिकारी, वह पुराने अधिकारी, ‘अधिक बटोरने वाला’ कहते हैं सब, उसके घर के रास्ते में खड़े होकर रात में घर लौट आते समय एक थप्पड़ लगा दिया तो मुझे वह प्रमाण पत्र मिला था सर। अगले ही दिन। आप समझ रहे हैं न सर?’

‘राजेश बताओ न...’

‘मैं बताता हूँ...अगर आप इजाजत देंगे तो मैं बताता हूँ...’

‘इसमें मेरी इजाजत की क्या बात है...?’

‘ओके...आई मीन, यानी पिछले छह सालों से मेरी भी कड़ी मेहनत से बनी कंपनी खत्म हो रही है और एक कोई दूसरी बड़ी कंपनी उसे निगलने वाली है...इन सब बातों पर प्रश्न खड़ा करने पर मुझे बाहर जाने का रास्ता दिखा दिया गया...यही सब कुछ मुझे कहना भी है।’

‘आधे से ज्यादा खाली हुई सॉफ्ट ड्रिंक की बोतल को राजेश ने जब अपनी गोद में रखा तो मुझे लगा वह सामान्य से ज्यादा बड़ी है। उस बोतल के पीछे राजेश छिप कर बैठ पा रहा है। अब राजेश गोद से उठ खड़े हुए लैपटॉप पर अपना ध्यान देने लगा है। अन्दर और बाहर अंधेरा छा जाने से और हमारी जगह पर बत्ती जलाना भूलने के कारण लैपटॉप की नीली रोशनी थोड़ा ज्यादा ही परेशान कर रही थी। मैंने खड़ा होकर बत्तियों को जलाया। चांदनी-सी ट्यूब लाइटें। मैंने जब उसे ‘अरे राजेश’ बुलाया तो उसी क्षण रेल गाड़ी किसी सुरंग में घुसी। इस तरह होने पर हमेशा यह शंका बनी रहती है कि दूसरी तरफ खुला रहेगा या नहीं। उसके बाद इंसान द्वारा बनायी जाने वाली सभी तरह की आवाजें, सुरंग के दीवार पर डिब्बों के टिन से टकराकर बिखरती जाने की ध्वनि सब कुछ अंदर ही दबती चली गयी। प्रसाधन के बाहर से जल्दी से मैं अंदर घुस आया।

बर्थों के हकदार युवक, दाहिने और बाएं से रात के भोजन के बाद सोने के लिए तैयार होकर आ गए। तभी रोशनी खत्म हुआ लैपटॉप और पूरी तरह खत्म हुई सॉफ्ट ड्रिंक की बोतल के छिपाव से राजेश प्रत्यक्ष हुआ था। शरीर पर चढ़े दीमक या कुछ और को उसने हिलाकर निकाल दिया। गिरते-बचते वह उठ कर खड़ा हुआ और एक अलग आवाज के साथ उसने पुकारा ‘सर... आप कहां हैं?’

सोने के लिए तैयार हुए लोग और साथ में मैं भी चौंक गया। अपने उस आघात को थोड़ा संयम कर मैंने उससे कहा ‘राजेश, प्लीज...मैं यहीं पर हूँ।’

अपनी उन लक्ष्यहीन निगाहों से उसने दूँडा और कहा : ‘मैं तो डर गया सर। पेशाब करते समय गाड़ी का सुरंग के अंदर घुसने की भूकंप-सी आवाज मैंने सुनी। आप उसकी शुरुआत में कहीं फंस तो नहीं गए, आगे की यात्रा मुझे अकेले तय करना होगा क्या...रिएली आई वॉज फ्राइटेन्ड एंड ऑफकोर्स फेल्ट डेजेर्टेड...’

‘राजेश’ मैंने कहा, ‘आगे की बात वस्तुनिष्ठ सवाल के उत्तर-सा होना चाहिए। इट्स गेटिंग लेट। बहुत देर हो चुकी है...’

‘सॉरी सर’ थोड़ा सा निस्तेज होकर मुस्कुराते हुए उसने कहा, ‘आज के आखिरी सवाल का जवाब एक पैराग्राफ में देने की अनुमति दीजिए।’

‘सर, आपका बेटा है क्या?’ बगल के बर्थ वाले आदमी ने पूछा। मैंने यह नहीं पूछा कि तुम्हारा बाप तुम्हें सर पुकारता है क्या, बदले में ‘कृपया सोएं’ कहकर उस आदमी को सोने के लिए मजबूर किया।

‘इस कोलाहल के बीच हम कैसे सोएंगे?’ ऊंगली से इशारा करते हुए हंस कर मैंने उनसे कहा। उसके बाद कोई सवाल नहीं आया। पहले की बात का पता तो नहीं था फिर भी राजेश का पैराग्राफ वाला जवाब सुनने के लिए उन लोगों की भी जिज्ञासा थी।

एक बार हांफ कर गोद के लैपटॉप को थोड़ा और पास पकड़ते हुए, किसी को देखे बिना, किसी पर ध्यान दिए बगैर राजेश ने बोलना शुरू किया। ‘ही वॉज ए स्पाई। वह एक जासूस था। हमारा सबसे नया प्रबंध निदेशक। केवल छह सालों में हमारी कंपनी को देश के सबसे बड़ी कंपनी के रूप में बदलवाया था डॉ. पी. के. आर. सिंह ने। जब वह केंद्रीय सरकार का सलाहकार बनकर गया तो इनको दूढ़ निकाला था। ह्यूमन रिसोर्स कन्सल्टन्सी यानी मानव संसाधन सलाहकारों के बारे में आप जानते हैं सर? उसी तरह की एक सलाहकार संस्था से उच्च स्तर की सलाह लेकर डाउनलोड कर लिया था। वह एक बहुत बड़ा नेटवर्क है सर। सरकारी तन्ख्वाह पाने वाले, केवल उधर के भ्रष्टाचारों के बारे में जानने वाले आप को इसकी महत्ता के बारे में अनुमान नहीं होगा। करोड़ों रुपये... हां सर, करोड़ों रुपये। धोखा देने, बर्बाद करने तथा विश्वसनीयता को तोड़ने के लिए ये सलाहकार संस्थाएं करोड़ों रुपये बहा रही हैं।

सोने के लिए लंबा होते समय किसी ने कहा : ‘एक पैराग्राफ हो गया।’

तब मैंने होंठों पर ऊंगली रखकर पूछा : ‘एक और बोलने दें?’

राजेश वह सब नहीं जान रहा था। ‘वह हरामजादा एक माइक्रो वास्कुलर सर्जन था। कितने मरीजों को वह जिन्दगी की ओर वापस ला सकता था! उसी तरह ईश्वर का सबसे प्यारा बन सकता था। बट ही थॉट अदरवाइस। इस तरह होने से नहीं चलेगा सोच कर उसने एमबीए किया था। उसके बाद एक बहुत बड़ी कंपनी का जासूस बना। उनके लिए काम करने लगा...मुझे पता है सर सब कुछ पता है...वह हमारी कंपनी के सबसे उच्च पद पर पहुंचा। उसे पूरा अधिकार दिया गया। अब्सल्यूट पावर। सर, आपने ऑरवेल को भी पढ़ा होगा। छह साल जी जान लगाकर काम करने वाला आदमी बाहर।’

पता नहीं क्यों, उसे सांत्वना देने का मेरा मन नहीं कर रहा था। नहीं तो मैं कैसे उसे सांत्वना देता? बदले में मैंने कहा :

‘अब तुम्हें सोना होगा।’

‘ओके सर। मैं सो जाता हूं...गुड नाइट...हरे रंग का चादर ओढ़े सह्याद्री पर्वत पर सिर रख...टेक कर...’

संपर्क : वी.एस. अनिल कुमार, मरुतम, इडक्केपुरम वडक्क, कण्णपुरम, चेरुकुन्नु पोस्ट, कण्णूर-670301
vsanilkumar58@gmail.com, मो.- 09447229134

संपर्क : सुमित पी.वी., वयलायी, चुण्डा पोस्ट, चेरुषा मार्ग, कण्णूर जिला, केरल- 670 511 sumithpoduval@gmail.com
मो.- 09489823584

तीन कविताएँ

राजेन्द्र उपाध्याय

घड़ियाँ

मुझे अच्छी लगती हैं बरती हुई घड़ियाँ

उनमें समय ठीक किया हुआ होता है
उनमें बार-बार समय नहीं मिलाना पड़ता

वे ऐन वक्त पर धोखा नहीं देतीं
वे रेलवे स्टेशन और हवाई अड्डे पर
सही समय पर पहुँचा देती हैं

उनमें एलार्म ठीक समय पर बजता है
वे बार-बार मेरी नींद में खलल नहीं देतीं
वे रात भर मेरे लिए जागती टिक-टिक करती रहती हैं।

नदी में नहाते वक्त वे किनारे पर मेरा इन्तजार करती हैं
और जब मैं नहा कर आता हूँ
तो वह सही समय बता देती हैं

जब कोई राहगीर मुझसे वक्त पूछता है

वे वक्त से पहले वक्त बता देती हैं

मैं उनसे केवल वक्त नहीं
इतिहास और भविष्यत् के बारे में पूछता हूँ
वे मुझे मेरे पिछले जन्म के बारे में बता देती हैं

पिता से अपने समय के बारे में पूछने की जरूरत नहीं
मैं देख लेता हूँ उनकी घड़ी में
अपना समय

साधारण घड़ियों के साथ बीत गया मेरा जीवन

मैं पुरानी घड़ियों में देखता रहा आज का समय
अभी तक ऐसी कोई घड़ी ईजाद नहीं की गई
जो दिखा सके मेरा समय
आज का एकदम सही समय

भारतीय मानक समय
आज हर घड़ी से हर कैलेंडर से हर पंचांग
की पकड़ से बाहर है

कभी मैं देखता हूँ पोते की घड़ी
और कभी दादा की

कभी भारत में बनी घड़ी में देखता हूँ समय
कभी इटली में बनी घड़ी में
फिर भी समय मेरी पकड़ से बाहर रहता है।

जो किसी को अपनी घड़ी दे देता है
क्या अपना समय भी दे देता है?

बरती हुई चीजें

मुझे अच्छी लगती हैं वे किताबें
जो कई-कई बार पढ़ी जा चुकी होती हैं
उनमें दोस्तों और दुश्मनों की उँगलियों और अंगूठों की अमिट छाप है
उनमें कामकाजी मजदूरों और जरायमपेशा लोगों के अमिट हस्ताक्षर

उनके पसीने और कोयले की गंध से भरी हुई वे किताबें अजर-अमर

उनके जराजीर्ण पन्नों में
उनकी आत्मा बसी रहती हमेशा
हजारों बरस पुराने कुएँ का मीठा पानी दौड़ता मेरे लहू में
मुझे अच्छे लगते हजारों बार बजाए गए नगाड़े
उन पर थाप देने से मैं डरता नहीं
क्या हुआ कि मेरे गुजरे हुए दादा बजाते थे इन्हें गाहे-बगाहे
पिता का बार-बार पहना कोट
उनके मरने के बाद भी मैं रोज-ब-रोज पहनता

हजारों बार नहाई हुई नदी में
मैं फिर लगाता हूँ डुबकी
हजारों बार रौंदी गई पगडंडी पर
हजारों साल पुराने पेड़ों की छाया में
फिर चलता हूँ किसी प्रागैतिहासिक मनुष्य की तरह
हजारों साल पुराने चाँद तारों के नीचे लेता नींद

हजारों बार बरती गई रेलों में
मैं फिर-फिर सफर करता हूँ
हजारों बार बरती गई भाषा में
मैं लिखता हूँ आज की बेहतरीन कविता

मैं खुद एक बरता हुआ आदमी
ऋतुएँ बरत चुकी मुझे हजारों बार
हजारों बार भींगा वारिश में
हजारों बरस बूढ़े सूरज की धूम में लेटी यह मेरी देह
जैसे मेरे पास बरसों से

मैं वह चादर
जो सराय में हर मुसाफिर के काम आती
बार-बार बरती जाकर भी नई होती रोज-ब-रो...

मैं वह कंबल
अस्पताल में जो हर रोगी के काम आता

मैं कोई कोरा कफन नहीं
कि हमेशा मुर्दों पर डालने के काम आऊँ...

मैं एक बरता हुआ आदमी
मेरी औरत बरत चुकी मुझे हजार बार

हजारों बार बरता जाकर भी मैं
अभी पुराना नहीं पड़ा...

पेरिस से आई कवयित्री के लिए

वह पेरिस में रहकर
सीरिया के बच्चों के दुःख लिखती है

वह मेरे देश के देवताओं के नाम नहीं जानती
सिनेमा के हीरो हीरोइनों के नाम जानती है

वह मेरी भाषा पढ़ नहीं पाती
मैं उसकी भाषा पढ़ नहीं पाता
पर दोनों बातें करते हैं कविता में
क्योंकि कविता की कोई भाषा नहीं होती

उसने मुझे अपनी किताब दी
मैंने उसे छुआ उसमें उसकी खुशबू थी
मैंने उसे अपनी किताब दी
उसने उसे अपने माथे से लगाया...

वह ले जाएगी उसे अपने साथ
हजारों मील दूर
हिन्द महासागर प्रशांत महासागर के पार
दो तीन महाद्वीपों के भी पार...

मैंने कहा—यहाँ और भी बहुत सारी सुन्दर चीजें हैं
वे ले जाओ अपने साथ अपने देश
मेरी किताब का क्या करोगी
मैं अपनी भाषा का एक नामालूम कवि
मेरे देश के लोग ही नहीं पढ़ते मेरी किताबें
मैं कोई रवीन्द्रनाथ हूँ?

नहीं, नहीं, ले जाऊँगी किताब तुम्हारी
क्योंकि तुम्हारी किताब से ज्यादा सुन्दर कुछ नहीं

क्योंकि उसमें नाम तुम्हारा
फोटो तुम्हारा
और उन शब्दों में बसती आत्मा तुम्हारी
जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकती

आत्मा-आत्मा से मिलती है इसी तरह
दो देशों के कवियों की आत्मा
जिसे समझने के लिए
किसी दुभाषिये की किसी अनुवाद की
जरूरत नहीं पड़ती

आत्मा की भाषा को समझने के लिए
शब्द नाकाफ़ी हो जाते हैं...

संपर्क : बी-108, पंडारा रोड, नई दिल्ली-11003, मो.-09953320721

पाँच कविताएँ

सुधीर रंजन सिंह

चिड़िया के बहाने

बिजू आम के बराबर चिड़िया
वल्लरी पर बैठी
तिनके जैसी चोंच से कर रही थी
चीं चीं

वल्लरी पेड़ से लिपटी हुई थी
और चिड़िया जैसे जुड़ी हुई थी
वल्लरी से

पेड़ पृथ्वी में गहरा
धँसा हुआ था

चिड़िया की चीं चीं में
वल्लरी पेड़
और पृथ्वी...

पृथ्वी का जो प्राचीनतम अणु बराबर अंश
चिड़िया में बचा हुआ था
अपनी जड़ों से जा चिपका था

चिड़िया के बहाने
ये मेरा अपना अनुभव था।

स्त्री पर अधूरा निबन्ध स्रोत

वह मादा है और उसे स्त्री कहा जाता है
जैसे एक ख़ास पालतू और दुधारू प्राणी को
गाय

अपने देश की जो कथित राष्ट्रभाषा है
उसमें दुनिया की सभी चीज़ें
दो भागों में बँटी हैं
और उनमें से लगभग आधी
स्त्री हैं

समस्या चीज़ों के साथ नहीं
हाड़-माँस वाली उस स्त्री के साथ है
पाई जाती है जो
सभी घर-परिवारों में
परिवार का अर्थ ही
स्त्री का होना है
लेकिन सच्चा अर्थ परिवार का
उसके दब-छुप कर होने में है

जहाँ वह होती है
सचमुच वहाँ नहीं होती
कवियों ने अक्सर उसे भटकते देखा है
बिना जहाज और सड़क वाली जगहों पर

कहीं भी वह होती है
उसकी साँसें सुनाई पड़ती हैं
घर के ही किसी कोने में
रात की दरारों में
झिंगुर देता है जैसे सुनाई
अपनी करवटों में
वह खुद को सुनती है

प्रतिध्वनियों के आवरण में

वह धिरती रहती है निरन्तर

हालाँकि मामला इतना मधुर और
शान्त नहीं है
उसमें मादकता से अधिक
जीवन का ज़हर है
होशियार! जिसने भी रोका
उसका रास्ता
वह उसी के आगे दीवार बन गई

दीवार
जिसमें कोई द्वार नहीं

इस निबन्ध के भी
आगे बढ़ने का रास्ता
बन्द है

मेरी नासमझी समझिए
लिखना चाहा इसे
स्त्रियों की इज़ाजत के बिना
क्षमा करना देवी!

कहीं नहीं बचा था कोई (मेरे पिता और विस्मृति रोग)

सतासी की उम्र में
लौटे जब अपने गाँव
हो चुके थे पूरी तरह
विस्मृति रोग के शिकार

सतरह साल शुरूआती
बीते थे अपने गाँव में
उसी समय की कुछ बातें याद थीं
इसीलिए बेटों ने यहाँ पहुँचाया
(और भूल गए)
और इसीलिए—
ज़िन्दगी जहाँ-जहाँ बीती
उन सब जगहों ने

इन्हें झटक दिया था
अपनी स्मृति से

थे कुछ लोग गाँव में
याद था जिन्हें इनका नाम
लेकिन क्या सोच पाते होंगे वे भी
यह बूढ़ा कभी यहाँ की गलियों में
चड़्डी पहन कर घूमा होगा

काबिल नहीं बचा था आज बेचारा
चड़्डी पहनने और उतारने के
पोतों-परपोतों को चड़्डी पहना रहे लोग
पुराने समय में जाकर कोशिश करते थे
कुछ याद करने की
मुद्रा झलकती थी जिसमें
भूलने की

कहीं नहीं बचा था कोई
विस्मृति रोग से।

मैं होना चाहता हूँ

मैं होना चाहता हूँ
ज़रा बदसूरत ज़रा अड़ियल
ज़रा बदसलूक

इस ज़रा-ज़रा के कारण
ज़रा कामयाब होना चाहता हूँ

वैसे तो मैं पूरा कामयाब हूँ
लेकिन कामयाब होने की ऐंठ के साथ
ज़रा कामयाब होना चाहता हूँ

मैं होना चाहता हूँ
ज़रा-सा लंगड़ा
और पूरा-सा भिखारी

इस ज़रा और पूरा के कारण

ज़रा घृणा और ज़रा दया पाना चाहता हूँ

वैसे तो मैं पूरा भिखारी हूँ
इस अन्नदात्री पृथ्वी का
लेकिन साहेब ज़रा आपकी भी नीयत देखना चाहता हूँ

मैं होना चाहता हूँ
खतरनाक डाकू
बड़ा डॉन

इस डाकू-डॉन के कारण
ज़रा आप लोगों को डराना चाहता हूँ

वैसे होने को तो
मैं किसी देश का राष्ट्रपति हो सकता था
लेकिन इतना अपंग भी नहीं होना चाहता हूँ

मैं होना चाहता हूँ
इस समझदार समय का
एक नासमझ कवि

वैसे तो मैं इतना नासमझ नहीं हूँ
अपनी हिफ़ाजत का ख़्याल किए बग़ैर
कविगण कहें मुझे कवि

बड़े कवि हैं ही जब शहर में
राजेश जोशी कुमार अम्बुज
कवि नहीं कहे जाने का कवि
मैं होना चाहता हूँ

कतई नहीं है ज़रूरी वैसे भी
एक ग़रीब समाज में होने
और अपनी जीवित भाषा में जीने के लिए

मैं होना चाहता हूँ
मुझे होने भर तो दीजिए!

स्वप्न कविता

बन्द पलकों के अँधेरे में
काले पर्दे पर मँडराती हैं
पीली नीली लाल परछाइयाँ...
मैंने उन्हें अपना प्रेत समझा—
कि खुद को न पहचान पाने के
दुखदायी अनुभव के भीतर
नये सिरे से चीजें जन्म लेते दिखाई देने लगीं—
एक क्षण ऐसा कि मैं बाज़ार में कुछ खरीदने लगा
दूसरे क्षण आम के बगीचे में बैठ गया
तो तीसरे क्षण अपने हृदय में सुनाई भर पड़ा
जैसे दुनिया-भर का चक्कर खा कर लौट आया हूँ
और दे रहा हूँ खुद को
उम्र भर के गुनाहों का हिसाब
तभी किसी ने मुझे धकेला और चलने के लिए कहा
पैदल पथ के घिसे हुए पत्थरों पर
आँखों के कोर का थका पानी
ओस की तरह टपकता रहा
एक अनोखी ही ध्वनि सुनाई पड़ रही थी
शायद सन्देश था उसमें
कविता लिखने का
ऐसी ही कोई ज़रूर बात थी
क्योंकि जिनकी यादें मुझे सताया करती हैं
अब वे कई आकृतियों में दिखाई पड़ने लगे थे
कभी एक ईश्वरीय दूत की तरह
तो कभी घोर कपटी मनुष्य की तरह
और जो नाराज रहे मुझसे जीवन भर
मुझे मतांध करारते हुए
उन्हें हँसते देखना अच्छा लग रहा था
नदियाँ जो मर गई थीं स्मृति में
ठोस वासना के गलने से
उनमें स्रोत फट गया था
दो आँखों के रूपक में
दिख रहे थे
सभी नक्षत्र और तारे
एक क्षण के लिए आकाश से बड़ी लगी
यह पृथ्वी
जिसे मैं किसी अतल गहराई से देख रहा था

चौद पर कोई छायाहीन पक्षी बैठा था
शायद उसी में थी
कविता की आत्मा
नहीं समझने का अभिनय हो रहा था जिसे
प्रगतिशील समाज में
मैं चिड़िया की छाया खोजने निकल पड़ा
और पहुँच गया जहाँ सभी वस्तुएँ जीवित थीं
वहाँ एक औरत थी
जो उघाड़कर स्तन
अपने जादू से मुझे मेरे शैशव में ले गई
एक पुराने गाँव की गलियों में
मवेशियों के खूंटों से बचता हुआ
अधनंगे बच्चों के साथ
मैं दौड़ता चला गया
लकड़ी के ऊँचे मचान पर चढ़ा
घुसकर पुआल में
खूब अन्दर तक धँसकर
दूह से सर टकराने जैसा
खेलता रहा
और उछलकर हाथों को लहराते हुए एक बार
बाहर निकला
कि उसी आवेश में सच
मैंने नींद में करवट बदली
और पृथ्वी
जैसे दब गई एक तरफ
आराम से।
सुधीर रंजन सिंह,

छः कविताएँ

हरे प्रकाश उपाध्याय

घर

घर में सबसे पहले
एक दरवाजा है
सबसे पहले
दरवाजे पर किवाड़
किवाड़ पर साँकल
घर में कई-कई दीवारें हैं

दीवारों पर
नाचते रंग हैं
और रेखाएँ बीमार हैं
एक घड़ी है
जिसमें काँटे घूम रहे हैं गोल-गोल
धरती से होड़ लेते

कोनों में घर के
मकड़ी के जाले हैं कई
मकड़ी के जालों के नीचे एक-एक कुआँ है

घर में तीर-तलवार हैं
रक्त से सना

मुसीबतों से लड़ता मौसम है
हवा है कुछ गैलन
कुछ टैंक पानी है

अँधेरा है फैला हुआ
और ऊपर रोशनी भी गिरती हुई
तिरछी
घर में मैं हूँ, तुम हो
औरतें हैं, बच्चे हैं
और वृद्धजन भी
यौवन है ताश की पत्तियाँ
फँटता हुआ

घर में सब रिश्ते-नाते हैं
एक दूसरे से बँधे
एक दूसरे से संतुष्ट

घर में संभावना है
और धान फटकती असंभावना भी

चूल्हे तर बैठी है माँ
ऊष्मा बचाए रखने की जुगत में भिड़ी
घर में कुछ जरूरी चीजें हैं
कुछ दिखाई पड़तीं, कुछ छुपकर रहतीं
यहाँ सुबह से शाम तक जाने की सवारी है
और शाम से सुबह तक लौट आने की भी
एक रास्ता इधर है
घर के बाहर निकल आने का
एक रास्ता इधर है
घर में भटक जाने का

घर में एक छिपकली
रोज दीवार पर चढ़ती है
रोज गिर जाती है
घर में न जाने कितनी मक्खियाँ रोज
बिना सूचना के मर जाती हैं
गरुड़ पुराण का एक पन्ना रोज फट जाता है।

हाल-चाल

कविताएं छपीं तो कुछ दिन
दोस्तों के फोन आए
कुछ अजनबियों की चिट्ठियां
न कविताएं छप रही हैं
न कोई हाल-चाल पूछ रहा है
कितना सन्नाटा है
एक खाली गिलास
एक अधूरी डायरी
कागज भयानक सफेद
इस कोरेपन पर मैं धरूंगा
विकट पहाड़ से दिन
एक तरफ रखूंगा भूनी मूंगफली से सौंघे बीते दिन
सम्हालकर रखूंगा यहां सबका उधार-बाकी
स्मृतियां
पर सोचता हूं मोर पंखों की तरह
कि बेवफा की प्रेम-पातियों की तरह...

मैं एक कलम
इस खालीपन में देर तक हिलाता हूं
भरना चाहता हूं इसमें
दोस्तों की बातें
अजनबियों की मादक चिट्ठियां सम्हालकर
गिलास में भरना चाहता हूं इनका काकटेल
जैसे सांसों की रोशनाई लबालब
और इससे रचना चाहता हूं अपना विदा गीत

बेगाने हो गए हैं सब
मुश्किल है
करूं क्या जाऊं कहां
रास्ता ही क्या है अब...

मायावी यह संसार

अधिकांश चीजें मायावी हैं
मार तमाम संकटों के बीच ही
हँसी की बारिश

मार गुराहटों के बीच
कोयल की विह्वल पुकार
ऐ कोयल तुम पागल हो और
एक दिन तुम पागल बना दोगी समूची दुनिया को
ऐ नदी तुम जरा इधर नहीं आ सकती शहर में
ऐ हवा, तुम अपना मोबाइल नं. दोगी मुझे
सुनो, सुनो, सुनो....
अधिकांश चीजें मायावी हैं...

जिनकी आवाजों के शोर के बजे नगाड़े
उनसे भागे जिया
जिनकी आवाज न आए
उसी आवाज पर पागल पिया..
जहां रहने का ठौर, मन वहां न लागे मितवा
चल, यहां नहीं, यहां नहीं, यहां नहीं...
पता नहीं कहां
चल कहीं चल मितवा...
अधिकांश चीजें मायावी हैं...

जिन चीजों से प्रेम वे अत्यंत अधूरी
इन अधूरी चीजों की भी महिमा गजब

यह जीवन सूखी-दुरूखी एक पहेली...

जी नहीं रहे हम
बस अपनी उम्र के घंटे-पल-छिन गिन रहे बस
और इसी गुणा-भाग में एक लंबी उम्र गुजार कर
जो गए
उनके लिए मर्सिया पढ़ रहे हैं हम...

सपना

नींद आयेगी तो सपने आएंगे
कहा मां ने बच्चे से
पता नहीं मां ने ऐसा क्या सोचकर कहा
पर कहा मां ने ऐसा
तो बच्चे को अच्छा लगा

बच्चा नींद से पहले सपने के बारे में सोचता रहा
सपने में एक गेंद होती
या एक गुलाब ही होता तो कितना अच्छा होता
बच्चे ने सोचा

बच्चे ने गेंद के बारे में सोचते हुए
उस दुःख के बारे में सोचा
जो गेंद न होने की वजह से उसे सहना पड़ता है
बच्चा दुःख के बारे में सोचते हुए
स्कूल चला गया
स्कूल में गुलाब का फूल खिला था
बच्चा गुलाब के बारे में सोचते हुए
मुस्कराया
बच्चे ने गुलाब का फूल तोड़ लिया
और माली से मार खाया

बच्चा मार खाने से नहीं
मार खाने के बारे में सोचने से उदास हो गया
वह उदासी में अवसाद में नींद में समा गया
पता नहीं नींद में उसने क्या सोचा
क्या देखा
सपना देखा कि क्या देखा...।

अभागा

उसके ईश्वर ने उसे कुछ नहीं दिया
सिवाय एक चटाई
एक ओढ़ना
और एक मोमबत्ती के

हालाँकि चटाई के बावजूद
वह थका रहता है
ओढ़ने के बावजूद
सिहरता रहता है, काँपता रहता है

और मोमबत्ती के बावजूद
उसे कुछ दिखाई नहीं देता

वह अँधेरे में जीता है
ठीक मोमबत्ती की जड़ में

रोशनी में
धरती का वैभव फूल बनकर खिलता है
जिस पर भौरे बनकर मँडराते हैं
श्रीमान आप
उसकी चटाई पर
बनियों की दुकानें हैं
और पुजारियों के जूते

उसके ओढ़ने पर
खटमलों और कीटों का कब्जा है
और मोमबत्ती की रोशनी
बदचलन है
जो उसके लिये सिकुड़ जाती है
बाकी सबके लिए फैल जाती है

हालाँकि वह ईश्वर से कोई शिकायत नहीं करता

हरदम अपने को कोसता है
हरदम अपना ही माथा ठोकता है
वह मंदिर के बाहर बैठकर सोचता है
भीतर ईश्वर
फूलों और मिठाइयों से दबा
घंटियों की ताल में अपना सुर मिलाकर रोता है!

वर्तमान परिदृश्य में

यह जो वर्तमान है
ताजमहल की ऐतिहासिकता को चुनौती देता हुआ
इसके परिदृश्य में
कुछ सड़कें हैं काली-कलूटी
एक-दूसरे को रौंदकर पार जाती

बालू से भरी नदी बह रही है
पानी है, मगर मटमैला

कुछ साँप हैं फन काढ़े हुए
कुछ नेवले मरे पड़े हैं
जाने कितना खून बिखरा है
जाने किसका है
एक कुत्ता हड्डी चाट रहा है
कुत्ते की बात से
याद आया वह दृश्य
जिसमें पत्तलों की छीनाझपटी खेलते थे कुत्ते
यह दृश्य इस परिदृश्य में
कहीं नहीं है

इस परिदृश्य में एक पोस्टर है
इसमें एक लगभग बीस साल का लड़का
चालीस साल की औरत की नाभि में वंशी डुबाये हुए है
पोस्टर के सामने करीब दस साल का लड़का मूत रहा है
बगल में गदहा खड़ा है

इसकी आँखों में कीचड़
पैरों में पगहा
और पीठ पर डंडे के दाग हैं
यह आसमान में थूथन उठाये
कुछ खोज रहा है

सफेदपोश एक
भाषण दे रहा है हवा में
हवा में उड़ रही है धूल
वृक्षों से झड़ रही हैं पत्तियाँ
मगर मौसम पतझड़ का नहीं है

परिदृश्य में नमी है
इस परिदृश्य में
मंदिर है मस्जिद है
दशहरा और बकरीद है
आमने-सामने दोनों की मिट्टी पलीद है
प्रभु ईसा हैं क्रॉस पर ठुके हुए
महावीर नंगे बुद्ध उदास
गुरु गोविंद सिंह हैं खड़े
विशाल पहाड़ के पास

यहीं गलत जगह पर उठती दीवार है
एक भीड़ है उन्मादी

इस दंगे का विचार है
सीड़ और दुर्गंध से त्रस्त
साढ़े तीन हाथ जमीन पर पसरा
इसी परिदृश्य में
मैं कविता लिख रहा हूँ।

संपर्क : ए-935/4 इंदिरानगर, लखनऊ-226016 (उत्तर प्रदेश) मो.- 08756219902

जैनुल आबेदिन की तस्वीरें (सुंदरता का अपना घोंसला तलाशती कोयल की पुकार)

आशुतोष कुमार

हमारी आंखें क्या कुछ देख पाती हैं, और क्या नहीं देख पातीं, यह हमेशा हमारे ऊपर निर्भर नहीं करता।

किसी जगमग रेस्तरां में किसी शाम एक साधारण शहरी मध्यवर्गी जितना खर्च कर देता है, उतने में सत्तर फीसद भारतवासियों को पूरा महीना निकालना होता है। यह शहरी मध्यवर्गी इस देश में अल्पसंख्यक है, लेकिन हमें हर तरफ वही दिखाई देता है। बाकी सत्तर फीसदी लोग दिखाई नहीं देते, अपनी भारी बहुसंख्या के बावजूद। शहरों में दमकती हुई अट्टालिकाएं हर तरफ दिखाई देती हैं, हालांकि उनमें बहुत कम लोग रहते हैं। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक दिल्ली की बीस फीसद आबादी झुग्गियों में रहती है, लेकिन वह अक्सर हमारी आंखों से ओझल रहती है। पिछले कुछ सालों से पी. साईनाथ जैसे साहसी पत्रकारों के कारण हम दो लाख से ज्यादा किसानों की आत्महत्या के बारे में जान गए हैं। लेकिन कोई नहीं जानता कि हमारे शहरों में नौजवानों की आत्महत्याओं का प्रतिशत क्या है?

हमारे गाँव, कस्बों और शहरों को इस तरह नियोजित किया जाता है कि चमक-दमक दिखाई पड़े, भूख और गलाजत नहीं। मासमीडिया को इस तरह संचालित किया जाता है कि अय्याशी दिखाई पड़े, अभाव और अन्याय नहीं। विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, नीति-संस्थाओं, पाठ्यक्रमों आदि को इस प्रकार गढ़ा जाता है कि हमें 'मेरा भारत महान दिखाई' पड़े, दुनिया के भुखमरों का अग्रणी कब्रिस्तान नहीं। 'इंटरनेशनल फूड पॉलिसी रिसर्च इंस्टीच्यूट' के आंकड़ों के मुताबिक दुनिया के भूख-सूचकांक के लिहाज से 2013 में भारत 78 देशों में 63 वें नम्बर पर था, जबकि चीन छठे, पाकिस्तान 57वें और बंगलादेश 58वें पर। वही भारत, जिसे हम चीन के बाद दूसरे नम्बर की सब से तेज बढ़ती अर्थव्यवस्था मानने लगे हैं। इसी भारत में चालीस फीसद बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। यही सूरतेहाल गुजरात जैसे 'माडल' राज्य में भी है। जिसके लिए वहाँ के एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री ने फैशनपरस्त लड़कियों की डायटिंग की आदत को जिम्मेदार ठहराया था।

कौन कहता है कि, महा-अकाल सन तैंतालीस में आया था। उस अकाल में बीस-तीस

लाख लोग मारे गए थे, लेकिन इस से ज्यादा लोग और बच्चे अब भी हर साल भूख और कुपोषण से मारे जा रहे हैं। क्या अकाल खत्म हो गया ? क्या भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया ? हमारी आंखें क्या कुछ देख पाती हैं, और क्या नहीं देख पातीं, यह हमेशा हमारे ऊपर निर्भर नहीं करता।

जैनुल आबेदिन के पहले की भारतीय चित्रकला पर भी यही बात लागू होती थी। आधुनिक भारतीय चित्रकला, नवबंगाल कला या नवभारतीय कला के नाम पर चित्रकारों ने देवी-देवताओं, राजा-रानियों, नायक-नायिकाओं के खूब चित्र बनाए अथवा भारत की लोकसंस्कृति का सजावटी चित्रण किया। लेकिन भारत की दारुण गरीबी, अंग्रेजीराज के जुल्मोसितम और हक के लिए लड़ने वाली जनता के आंदोलनों की छाया तक अपने चित्रों पर न पड़ने दी। राजा रवि वर्मा, अवनींद्र नाथ राय, यामिनी राय, नंदलाल बोस जैसे तमाम महान चित्रकारों के चित्र उठाकर देख लीजिये। बेहद बारीकी से, लेकिन उतनी ही मजबूती से सत्ता दृश्य और अदृश्य का विधान करती है। यह विभाजन शहरों-बाजारों से ले कर चित्रकला और साहित्य तक में ज्यों का त्यों उतार दिया जाता है। ताकि हम आप सिर्फ वह देख सकें, जो 'वे' हमें दिखाना चाहते हैं। ताकि हम सिर्फ 'उन्हें' देख सकें, खुद को नहीं।

9 दिसम्बर, 1914 को मैमनसिंह (अब बांग्लादेश) के किशोरगंज गाँव में जन्मे और कलकत्ते के सरकारी कला विद्यालय में प्रशिक्षित जैनुल आबेदिन कलाकारों की उस दूसरी कतार के अग्रणी थे, जिन्होंने दृश्य और अदृश्य के इस विधान को पलट दिया। उनके साथ इस कतार में शामिल कुछ अन्य कलाकार हैं—चित्तो प्रसाद, कमरुल हसन, सादेकैन, सोमनाथ होड़, रामकिंकर बैज। इन सभी ने अपने चित्रों में उस अदृश्य को चित्रित किया, जिसे सत्ता हमें देखने देना नहीं चाहती और जिसे देख कर हम खुद भी नजरें फेर लेना बेहतर समझते हैं। सुन्दरता के झूठे नजारों को उन्होंने अपने चित्र फलक से बाहर निकाल दिया। जैनुल आबेदिन के चित्रों में ब्रह्मपुत्र के किनारे किसानों की जिन्दगी, संधाल लोकजीवन, अकालपीड़ित मनुष्यता, फिलिस्तीन का संघर्ष और बांग्लादेश मुक्तियुद्ध है। मालदार फुरसतिया तबके के मनोरंजन की सामग्री नहीं।

विभाजन के बाद ढाका पहुंचे जैनुल आबेदिन ने वहाँ कला महाविद्यालय की स्थापना की। यह एक ऐसा कदम था, जिसका नवनिर्मित पाकिस्तान के कट्टरपंथियों ने घोर विरोध किया। लेकिन इसी कला महाविद्यालय ने बांग्लादेश मुक्तियुद्ध में अपने नैतिक और सृजनात्मक सहयोग से महत्वपूर्ण योगदान दिया। बांग्लादेश की कृतज्ञ जनता ने जैनुल आबेदिन को शिल्पाचार्य कह कर पुकारा।

भुखमरी और तबाही को चित्रफलक पर उतारना एक नाजुक काम है। चित्रफलक पर आ कर विनाशलीला भी 'लीला' में बदल सकती है। ऊबे-अघाए लोगों के लिए सनसनी और उत्तेजना का सामान बन सकती है। इसीलिये तबाही की तस्वीरों और फोटोग्राफ की बाजार में मांग होती है। जैनुल आबेदिन जैसे कलाकारों की सिद्धि इस बात में है कि उनके चित्र तकलीफ को मनोरंजन का जरिया नहीं बनने देते। उनके चित्रों को देख कर आप गुस्से से पागल हो सकते हैं, आप अनेक मुश्किल सवालों से घिर जा सकते हैं, आपके दिलोदिमाग में सोच-विचार की एक गहरी प्रक्रिया शुरू हो सकती है, आप हालात को समझने और बदलने के लिए बेचैन हो सकते हैं लेकिन दया, करुणा और छल-छल भावुकता से आप कोसो दूर रहेंगे।

जैनुल आबेदिन के अकाल-चित्र अकाल की अमानवीय हकीकत से हमारा सामना कराते हैं, और यह भी दिखा जाते हैं कि यह कोई प्राकृतिक आपदा नहीं, मानव निर्मित 'राजनीतिक' अकाल है। 'अकाल की कला और जैनुल आबेदिन' नामक किताब में अशोक भौमिक ने लिखा

है कि, “किसी ने जैनुल आबेदिन से पूछा, आपने अकाल को चित्रित किया, लेकिन बाढ़ को बिलकुल छोड़ दिया, ऐसा क्यों? आबेदिन ने कहा - इसलिए कि बाढ़ एक प्राकृतिक विपत्ति है, जबकि अकाल मानवनिर्मित है।” उनका मंतव्य स्पष्ट है - कलाकार का असली काम मनुष्य के द्वारा मनुष्य के खिलाफ रचे जा रहे षड्यंत्र को उजागर करना है। यह अलग बात है कि आज हम मनुष्य निर्मित बाढ़ से भी परिचित हैं।

जैनुल आबेदिन के चित्रों में अक्सर एक निचाट खाली, सुनसान, चित्रफलक पर उकेरी हुयी आकृतियाँ दिखाई देती हैं। पृष्ठभूमि का सन्नाटा मौजूद कुरूपता को अनायास उजागर कर देता है। उसे छुपाने और धुंधला करने वाली कोई चीज वहाँ नहीं होती। इन मानव-आकृतियों के चेहरों को निकट से देखने का अवसर आपको नहीं मिलगा। गोया वे अपने चेहरे जाहिर करने से इनकार कर रही हों। गोया वे चित्र के बाहर खड़े दर्शक से कह रही हों, जाओ, अपना रास्ता नापो इधर दया-दृष्टि फेरने की जरूरत नहीं है।

इन चित्रों में आपको वैसी ही भारी स्थिर रेखाएं मिलेंगी, जैसी कि पिकासो की गुएर्निका में आपने देख रखी है। इन रेखाओं में चंचलता और बारीक लहरें नहीं होंगी। इनमें हाहाकार के संगीत की सरलता दिखाई पड़ेगी, शृंगार की रागिनियों की वक्रता नहीं। अशोक भौमिक की किताब में उल्लेख है कि जैनुल आबेदिन ब्रह्मपुत्र और गंगा के किनारे गाये जाने वाले लोकगीतों के बीच के बारीक फर्क को समझाते हुए कहा करते थे कि ब्रह्मपुत्र के किनारे के गीत उसके स्वभाव के अनुरूप स्थिर, भारी और दीर्घ स्वरों में गाये जाते हैं, जबकि गंगा के किनारे के गीत उसकी लहरों के तरह चपल-चंचल होते हैं। आबेदिन के चित्रों की रेखाएं भी ब्रह्मपुत्र की लहरों की तरह स्पष्ट और गहरी हैं। नजर से सीधे दिल में उतर जाने वालीं।

अकाल की राजनीति इन चित्रों में हर जगह मौजूद स्वस्थ-सुडौल कौओं और कहीं कहीं मनुष्य के साथ कचरे से भोजन तलाशते कुत्तों में भी दिखाई देगी। आसमान में उड़ने वाले कौओं की सेहत इंसानी लाशों की बहुतायत पर निर्भर करती है। कुत्ते तो हर जगह इंसान के साथी हैं, उनका जीना मरना इंसान के साथ ही है लेकिन ये मोटे-मोटे गगनविहारी कौए कभी सात समन्दर पार से उड़ आये हुक्मरान व्यापारियों की याद दिलाते हैं, कभी शहर से गाँव तक उड़ते फिरते हिन्दुस्तानी जमाखोरों, सेठों और महाजनों की।

इन चित्रों में ड्राइंग रूम में लटकाने वाली सुन्दरता कहीं नहीं मिलेगी। सहस्त्राब्दियों में जो सभ्यता हमने बनाई, उसकी सारी कुरूपता इन चित्रों से झांकती हुई दिखाई देगी। जैसे पूछते हुए कि सुंदरता कहाँ है, उसे क्यों देशनिकाला दे दिया गया, उसे किन खोहों में जंजीरों से जकड़ कर डाल दिया गया। जैसे ललकारते हुए कि हे दर्शकों ! जाओ, कहीं से भी दूढ़ कर लाओ और हमारी सुंदरता वापिस करो। ठीक उस पगलाए बाप की तरह, जो जैनुल आबेदिन को उनके बचपन में मिलता था, जिसका बेटा खो गया था, और जो हर मिलने वाले से सिर्फ अपने बेटे के बारे में पूछा करता था। अशोक भौमिक की किताब में यह प्रसंग भी दर्ज है। या उस कोयल की तरह, जिसके बारे में जैनुल आबेदिन कहते थे कि वो दरअसल एक तलाश है, एक विकल पुकार उस अपने घर के लिए, जो कोयल के पास कभी रहा ही नहीं। जैनुल आबेदिन खुद को भी उसी कोयल की जगह रखते थे। तो क्यों न कहा जाए कि जैनुल आबेदिन की तस्वीरें सुंदरता का अपना घोंसला तलाशती कोयल की पुकार है, जो कहीं दिखता नहीं, लेकिन है। कहीं न कहीं है।

संपर्क : सी-3/801, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5 वसुंधरा, गाजियाबाद-201012, मो.-09953056075

भूमंडलीय यथार्थ की कहानियाँ

अरुण होता

हिन्दी कथा-जगत की समृद्ध पृष्ठभूमि को विकसित करने में पिछले दसके वर्षों के दरमियान युवा कहानीकारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भालचंद्र जोशी, कैलाश वनवासी, अनुज, सत्यनारायण पटेल, कुणाल सिंह, चंदन पांडेय, मनोज कुमार पाण्डेय, जयश्री राय, प्रत्यक्षा, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ, नीलाक्षी सिंह, कविता, उमाशंकर चौधरी आदि के रचना-संसार ने हिन्दी कथा-साहित्य को विकसित किया है। युवा पीढ़ी के कहानीकारों में प्रत्येक के लगभग दो-तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। किसी भी रचनाकार की दुनिया कैसी है? कहानीकार अपने दूसरे-तीसरे संग्रह तक आते-आते लगभग यह स्पष्ट कर देता है कि वह किस दिशा की ओर प्रवृत्त है। कहने का आशय यह है कि युवा पीढ़ी के कथा-संसार का पूर्वग्रहरहित विश्लेषण करने का उपयुक्त समय आ गया है। युवा पीढ़ी के अधिकांश कहानीकार उपन्यास की ओर शिफ्ट कर रहे हैं। कुछ रचनाकारों के उपन्यास आ चुके हैं तो कुछ कथाकारों के उपन्यास पर काम चल रहे हैं। ड्राफ्ट बन रहे हैं अथवा प्रेस में हैं। अतः बहुत जरूरी है कि कहानी विधा पर, जो पिछले दस-पंद्रह वर्षों में लिखी गई हैं, गंभीरतापूर्वक बात हो। समग्रता और संपूर्णता से विचार विमर्श हो। यह काम कथालोचन का है।

बहरहाल, उमाशंकर चौधरी की पाँच कहानियों के संग्रह 'कट टु दिल्ली और अन्य कहानियाँ' के आधार पर कुछ पाठकीय प्रतिक्रियाएँ दर्ज की जायेंगी। लेकिन, इसके पहले यह बताना जरूरी है कि 'अयोध्या बाबू सनक गये हैं' (2011) से उमाशंकर ने युवा-पीढ़ी के लेखन में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है। कविता, कहानी और आलोचना में समान रूप से सक्रिय उमाशंकर को साहित्य अकादमी का युवा पुरस्कार और भारतीय ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। इस कहानीकार को अपने खास अन्दाज़ के लिए, प्रयोग के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। हिंदी की तमाम महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में जब भी उमाशंकर की कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं वे चर्चित हुई हैं।

यह सच है कि उमाशंकर ने बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं। 2011 में पहला संग्रह प्रकाशित हुआ था और 2013 में दूसरा संग्रह। उनका मितलेखन उनकी विशेषता है और सामर्थ्य भी। 2010 और 2012 के दौरान लिखी गई पाँच कहानियों का समीक्ष्य संग्रह बहुआयामी है। भाषिक संरचना और शिल्प के स्तर पर ही इन कहानियों का पाठ हो तो बात अधूरी रह जायेगी। भूमंडलीकरण, बाजारवादी अर्थ-व्यवस्था, पूँजीवादी आतंक, आवारा पूँजी के दुष्परिणाम, उपभोक्तावादी संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक विषमताओं और विसंगतियों से पीड़ित आम आदमी की कराह और छटपटाहट, उसको अपार संघर्षशीलता और जीजिविषा आदि को कहानीकार के कथात्मक सूत्रों में पिरोया है। अतः कहानीकार की मूल चिंता भाषा की जादूगरी और कलाबाजी नहीं बल्कि तेजी से बदलते, हासोन्मुख होते भारत की तस्वीर पेश करना है। इस प्रस्तुतीकरण में भाषा साधन बन कर आती है, साध्य नहीं।

कहना न होगा कि भूमंडलीकरण ने बाज़ारवाद को फलने-फूलने दिया। बाज़ार ने पूरी दुनिया को 'प्रॉडक्ट' में तब्दील कर दिया। मनुष्य भी बिकाऊ हो गया। संबंध दरकते, टूटते और बिखरते गये। संपर्क का माया-जाल मजबूत हो गया। पूँजीवादी व्यवस्था ने मुनाफा को इस कदर बढ़ावा दिया कि उसके सामने मनुष्य और मनुष्यता की कोई कीमत नहीं रह गयी। सारे संबंध बौने और ठिगने साबित हो गये। अपनी जड़ से उखड़ने की पीड़ा एवं मशीन बन जाने की छटपटाहट को उमाशंकर ने अपनी कहानियों में पिरोया है। उन्होंने अपनी कहानियों में ऐसे अनेक संदर्भों और पहलुओं को भी उकेरा है जिन पर उनकी पीढ़ी के कहानीकारों की नज़र नहीं गई थी। हाँ, सत्ता और पूँजी की सांठ-गांठ को अथवा राजनीति की चालाकियों को भी बड़ा सफलता के उधाड़ा है। साथ ही, हाशिए पर पड़े समाज की दुर्दशा और उस पर हो रहे शोषण का चित्रण किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस युवा कथाकार ने समय की विडंबनाओं को बड़ी शिद्दत के साथ प्रस्तुत किया है। कहानियाँ लंबी हैं। मसलन, 'कट टु दिल्ली : कहानी में प्रधानमंत्री का प्रवेश' चौवालीस पृष्ठों की है तो 'मिसेज वाटसन की भुतहा कोठी' इकतीस पृष्ठों की है। लेकिन, पठनीयता बनी रहती है। विश्वसनीयता जारी रहती है। कथा कहने का ढंग विशिष्ट है। अपनी चिंताओं से रचनाकार रू-ब-रू कराते हुए आगे बढ़ जाते हैं परंतु पाठक उस पर सोचने के लिए विवश होता है। यह कहानीकार की एक बड़ी खूबी है।

उमाशंकर की कहानियों में गाँव, देहात, कस्बा, नगर और महानगर तक की कथाएँ हैं। गाँव की कथा नगर अथवा महानगर से और महानगर की कथा गाँव देहात से अंतर्ग्रथित हुई है। इन कथाओं को अलग-अलग करके न देखकर संश्लिष्ट रूप से देखना उचित होगा। कारण यह है कि इक्कीसवीं शताब्दी में केवल कुछ सुविधाओं को छोड़ दें तो महानगर और देहात में अंतर कुछ रह न गया है। राजनीति का छल-छद्म, पूँजी का वर्चस्व आदि गाँव तथा महानगर को समान रूप से प्रभावित कर रहे हैं। इसकी मात्रा में अंतर हो सकता है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की जड़ें नगर, महानगर तक सीमित नहीं रही हैं, बल्कि गाँव-देहात में भी बड़ी तेजी से पसरी रही हैं।

सबसे पहले, संग्रह की शीर्षक वाली कहानी 'कट टु दिल्ली : कहानी में प्रधानमंत्री का प्रवेश' न केवल लोकतंत्र की विद्रूपताओं को उजागर करती है बल्कि पूँजी के सामने घुटने टेकनेवाली व्यवस्था का पर्दाफाश भी करती है। दिल्ली सत्ता का केंद्र है! भगवत रावत के शब्दों में, "कहते हैं कि दिल्ली की आबोहवा कुछ और है।" उदय प्रकाश के अनुसार, "खाजा, तुमको पता होना चाहिए कि दिल्ली दौलतमंद लुटरो की नगरी है..।" दीन-हीन जनता के वोट

पाकर नेता दिल्ली के लिए 'कट' हो जाते हैं और सत्ता के मद में अपने देश तक की बोली लगा देने में पीछे नहीं हटते। अपने जीवन मूल्यों को तिलांजलि देते हुए 'कट टु दिल्ली' हो जाते हैं। बिहार राज्य के बेगूसराय जिला के चिड़ैयाटार गाँव के झोला छाप डॉक्टर बच्चा बाबू बिदेश्वरी प्रसाद सिंह "हड्डी जोड़ने में माहिर थे एकदम सिद्धहस्त।" उन्होंने पूरे इलाके में अपनी 'देसी कला' के माध्यम से नाम कमाया। इस कार्य को मिशन के तौर पर लिया। ठेठ गाँव के आदमी थे बच्चा बाबू। दो पुत्रियों के पिता पुश्तैनी जमीन के नाम पर दो खेत थे उनके पास। बेटियों के विवाह हेतु सूदभरना पर खेत बंधक रखे गये। जमींदार फूलसिंह ने खेत अपने नाम करा लिये। मामला दर्ज हुआ। पर आम आदमी को न्याय भला कब मिला है जो बच्चा बाबू को न्याय मिलता? बच्चा बाबू के लिए खेत सिर्फ खेत न थे। दोनों जमीन के टुकड़े उनके लिए बेटे थे। ऐसा आत्मीय लगाव और उसका मर्मस्पर्शी चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता है। एक ओर यहाँ जमींदारी शोषण-व्यवस्था है तो दिल्ली में फायदेमंद कंपनी के मालिकाना अधिकार को विदेशी धन सेठों के हाथ में देने की डील चल रही है। आम आदमी के अधिकारों का हनन तेजी के साथ हो रहा है। प्रसंगतया, गाँव की दुर्दशा का चित्रण तो हुआ ही है। आम आदमी के अधिकारों का हनन तेजी के साथ हो रहा है। प्रसंगतया, गाँव की दुर्दशा का चित्रण तो हुआ ही है परंतु बच्चा बाबू का चरित्र अत्यंत प्रभावशाली बना है। उसका घर सूना हो गया, परंतु वह टूटा नहीं। अनन्य संघर्षशीलता के नायाब उदाहरण हैं बच्चा बाबू।

प्रधानमंत्री की रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से की ठीक बगलवाली हड्डी टूट या उलझ गई। इसका निदान देश के डॉक्टर तो क्या अमेरिकी डॉ. प्रेंकफिन पिट की टीम के पास न था। बच्चा बाबू ने प्रधानमंत्री का सही इलाज कर दिया उनकी पूरी सेवा की। प्रधानमंत्री कट टु दिल्ली हो गये। भारत रत्न से नवाजा गया डॉ. पिट को। उपेक्षा हुई बच्चा बाबू की उसके अधिकारों का हनन हुआ। उसे पागल बना दिया समाज ने। पाठक आश्चर्य होता है जब सचाई सामने आती है कि बच्चा बाबू ने ही प्रधानमंत्री का स्वास्थ्य ठीक किया था। परंतु बड़ी बात है कि बच्चा बाबू में प्रतिशोध की भावना जीवित है। उसकी आत्मभर्त्सना युगीन सत्य को उद्घाटित करती है। — "चूतिया हैं हम ही जो तुम पर विश्वास करते हैं। साले अमेरिका जाकर वहीं का थूक चाटो बैठकर। मार दो हमको। हमको जिंदा ही क्यों छोड़े हो।" (पृ. 139) कहानी को कहानीकार जहाँ विराम देता है, वहाँ पाठक का सोचना शुरू होता जाता है। आम आदमी के छोटे-छोटे सपनों को कुचलनेवाली ताकतों के विरुद्ध विद्रोही ही उठता है। वह चिंतित हो उठता कि देश का तथाकथित राष्ट्रनायक पूँजी के सामने टिगना बना रहता है। पूँजीवादी राष्ट्र के इशारे पर नाच रहा होता है। जनतंत्र के नाम पर प्रसारित दासतंत्र की भविष्यवाणी करता है। इसलिए, इस कहानी को व्यापक परिप्रेक्ष्य की कहानी कहा जा सकता है। यह भूमंडलीय परिवेश में सतत विघटित होती कथा है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्विकारोक्ति है— "मेरे हाथ-पाँव दिखते भर हैं, लेकिन सब कटे हुए हैं। मैं तो इस कुर्सी पर बैठा एक गाँव का लोथड़ा भर हूँ। बड़े हित को साधने के लिए छोटी-छोटी घटनाओं को, छोटे-मोटे कीड़े-मकोड़े जैसे आम आदमी को भूलना ही पड़ता है।" (पृ. 138) कहानीकार ने भूमंडलीय यथार्थ को बिना सिकी लाग-लपेट के प्रस्तुत कर दिया है। ताकि हम सचेत हों और भूमंडलीकरण की चकाचौंध की असलियत को पहचान सकें।

'कन्हैयालाल वल्द रामरतन सिंह' एक उम्दा कहानी है। इसमें हाशिए के समाज के प्रति 'सभ्य' समाज के नजरिये का पता चलता है। अभाव, असुविधाओं व तकलीफों में जीने वाले

उपयुक्त शिक्षा तथा अवसर के अभाव में कुछ भी करने को तैयार हो जाते हैं। उसके लिए जितने जिम्मेदार वे हैं उससे कहीं अधिक है। हमारी व्यवस्था। रामरतन सिंह का पुत्र कन्हैयालाल चोरी करता है। छीना-झपटी करता है। गँजोड़ है, गँजा की कालाबाजारी करता है, नशे में धुत्त रहता है, नशे के लिए पैसे न मिलने पर अपने माँ-बाप को बेरहमी से मारता-पीटता है। बावजूद इसके उसमें मनुष्यत्व जीवित है। गाँव वालों की जरूरत के समय काम भी आता है जिम्मेदारी भी भली-भाँति निभाता है। कभी वह अपने ही गैंग के लोगों से ठगा जाता है तो कभी तथाकथित सभ्य समाज के द्वारा।

कन्हैयालाल इस कहानी में हीरो है और एंटी हीरो भी। वह जो भी है उसे छिपाता नहीं है। संभवतः उसे छिपाना आता नहीं है। रामरतन सिंह और कन्हैयालाल की परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं आया है। एक पीढ़ी गुजर गयी। पर, परिवेश और परिस्थितियाँ यथावत् बनी हुई हैं। और हम हैं कि विकास का ढोल पीटे जा रहे हैं बीड़ी बनाकर गुजर-बसर करने वाले परिवार की हम आलोचना जरूर कर रहे होते हैं। लेकिन कैसे और किन उपायों से उस परिवार की शोचनीय स्थिति बदल सकती है, उस पर कुछ नहीं सोचते। न समाज कुछ करता है और न व्यवस्था। लेकिन जरूरी टिप्पणी की जाती है- “रतना भी तो पाँचवीं पास है बस! तो बेटा कैसे निकलेगा! सब दिन चोरी किया है तो बेटा भी तो चोर ही निकलेगा।” (पृ. 26) कहानीकार ने आगे भी लिखा है- “हमारे मोहल्ले के लिए कन्हैया या कन्हैया का पूरा परिवार आलू के ढेर में सड़े हुए एक आलू की तरह था।” (पृ. 31) “सड़ा हुआ आलू दुर्गंध फैलाता है। उसे फेंकना जरूरी होता है। अन्यथा, वह दूसरे आलू को सड़ा देगा। मानो कन्हैया आदमी न था सड़ा हुआ आलू था। ऐसा सोचना घोर अमानवीयता है। अत्यधिक क्रोधी, नशेड़ी, चोर कन्हैया को थोड़ा-सा प्यार मिलते ही वह अत्यंत दायित्ववान होता है। कथावाचक की बहन की शादी में लगातार तीन रात वह साथ रहा। सामान्य बना रहा। बारातियों की आवभगत में उसने जोर-शोर से भाग लिया।” (पृ. 37) परंतु ट्रेन की डकैती में जब निर्दोष कन्हैया को पकड़ कर पुलिस थाने में ले गई तब अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाने पर पुलिस ने रात भर थर्ड डिग्री चलाई। उससे स्वीकार करा लिया गया कि वह उस रात को शादी में नहीं बल्कि डकैती में शामिल था। पुलिसिया क्रूर दमन का कथाकार ने हृदय को विदीर्ण करने वाला चित्रण किया है, उससे गुजरकर हमें हरिशंकर परसाई का मातादीन और विजय तेंदुलकर का घासीराम कोतवाल याद आ जाते हैं। झूठ को सच और सच को झूठ में तब्दील करना कोई इन्हीं से सीखे। मिलिटरी पुलिस भी एंटी इंसर्जेन्सी के नाम पर यही करती है। अपने पिता की तरह कन्हैया के पाँव को भी लकवा मार गया था। कन्हैया जेल में सड़ता रहा। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारी व्यवस्था के सामने बहुत बड़ा सवालिया निशान खड़ा करती हैं – “भैया, हम जो छोटा-मोटा पाप किये थे उसका त इतना बड़ा सजा मिल गया। लेकिन इ हराही लोग का कोई पाप नहीं लगेगा जो बिना कारणे हमरा जेल में बंद कर दिया है।” (पृ. 43) कन्हैया का भीतर और बाहर एक-सा है। उमाशंकर के प्रथम-संग्रह की कहानी ‘ददा यानी मदर इंडिया का सुनील दत्त’ की तरह नहीं है जो घरवालों के लिए तो भला लेकिन बाहरी दुनिया के लोगों के लिए अपराधी है। ऐसा कन्हैया नहीं है। इस पात्र को कहानीकार ने मन से गढ़ा है। इस पात्र तथा उसके पिता के माध्यम से हाशिए पर पड़े और शताब्दियों से कराह रहे, अपराध की दुनिया को अपनाते हेतु मजबूर लोगों की व्यथा-कथा को रचनाकार ने गहरी संवेदनशीलता के साथ अंकित किया है।

उमाशंकर की कहानियाँ समाजिक संदर्भों, घटनाओं और विसंगतियों से भी जुड़ी हुई हैं। 'ललमुनिया मक्खी की छोटी सी कहानी' और 'पोट्टस, हरे पत्ते और दिल्ली की उमस भरी शाम' कहानियों को 'कट टु दिल्ली' के साथ मिलाकर पाठ किया जा सकता है। यह इसलिए कि भूमंडलीकरण के बाद के भारत में फैले अंधकार, उसकी दहशत और आतंक को चित्रित करने का प्रयास है। यँ तो हिंदी में इस तरह की कहानियों का कोई अभाव नहीं है। लेकिन उमाशंकर इन कहानियों में केवल उस अंधकार का चित्रण नहीं है उससे टकराने और मुठभेड़ करने की तस्वीर भी मिलती है। 'ललमुनिया मक्खी की छोटी सी कहानी' का देवाशीष मुकर्जी और 'पोट्टम, हरे पत्ते और दिल्ली की उमस भरी शाम' का पोट्टम इसी तरह के पात्र हैं। दोनों की स्थितियाँ अलग-अलग हैं। लेकिन, भूमंडलीकरण की 'सामर्थ्य' है कि सारी स्थितियों को पाट देती है—, एक ही धरातल पर खड़ा कर देती है। सबको अपने रंग से रंग लेती है। महामंदी (ग्रेट डिप्रेशन) के दौरान उसका असली चेहरा सामने आता है। झटके से सारे सपने चूर-चूर हो जाते हैं। ये झूठे सपने भी उस दैत्य ने दिखाये थे। देवाशीष जो मार्क्सवादी पिता का पुत्र था और मार्क्सवादी विचारधारा में कोई विश्वास नहीं रखता था, उसे अपने पिता की राह सही नज़र आती है। पोट्टम को पेड़-पौधे, हरे पत्ते, हरियाली बेहद पसंद हैं। उस हरियाली में उसके प्राण बसते हैं। महानगरीय जीवन, में भी वह उसे बचाए रखने की पूरी जद्दोजहद करता है। हालाँकि, उसकी कंपनी, जहाँ वह काम करता था, उसके जीवन का सारा रस चूस लेने को आमादा रहती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ देवाशीष और पोट्टम जैसे को मक्खी के बराबर समझती हैं। लेकिन, कहानीकार ने यह दिखाया है कि मामूली मक्खी भी उन कंपनियों को ललकार सकती है, चुनौती दे सकती है। उमाशंकर ने मक्खी ललमुनिया को कहानी का पात्र बनाकर एक सफल प्रयोग किया है। पोट्टम वाली कहानी में ट्रेन के सफर में कई दिनों से उनींदा पोट्टम मोबाइल चलाकर देर रात तक गीत सुननेवाले युवक को चलती गाड़ी से बाहर फेंक देता है। यह कुछ अस्वाभाविक व अविश्वसनीय प्रतीत हो सकता है। लेकिन, क्रोध में मनुष्य जो न करे और पोट्टम मनुष्य था। इन दोनों कहानियों की तुलना करे तो पोट्टम वाली कहानी का रेंज बड़ा है। संबंधों की ऊष्मा को जीवित रखने की भरसक कोशिश जारी है। अपनी जड़ से जुड़े रहने की पार चेष्टाएँ हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि जिजीविषा है।

संग्रह की एक और कहानी 'मिसेज वाटसन की भुतहा कोठी' में रोचकता है। इसलिए, यह कहानी ध्यान आकृष्ट करती है। इस कहानी के केन्द्र में 'अधूरा पुरुष' निरंजन सिंह की पत्नी अनुराधा से अपने पति को रोज घुटते हुए देख नहीं पाती। संतान सुख नहीं मिलता है। अनुराधा ने नौकर विलायती को साँपों से भरे अस्तबल में बुलाकर शारीरिक संबंध स्थापित किया और वह गर्भवती हुई। शुद्ध नैतिकतावादियों के लिए यह अनैतिक हो सकता है। अनुचित प्रतीत हो सकता है। परंतु अनुराधा ने पीढ़ियों से चली आ रही पहले पुत्र का निस्संतान होने की पीड़ा से जमींदार परिवार को मुक्त किया। फिर नैतिकता और अनैतिकता का सवाल कैसा? इस कहानी में मिसेज वाटसन का आम के बगीचे से प्रेम का भी पर्यावरणीय पाठ हो सकता है। बावजूद इसके यह कहानी प्रभावशाली नहीं हो पाई है। उमाशंकर की शैली की खूबी है कि वे एक ही बैठक में कहानी पढ़वा लेते हैं। जेंडर डिस्कोर्स के नजरिये से कहानी का पाठ हो तो कहानी का कुछ अलग महत्त्व स्थापित हो सकता है।

कहना न होगा कि गाँव, शहर, महानगर की जिंदगी के बदलाव को कहानीकार ने अपनी आँखों से देखकर उसके प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किये हैं। कहानी में शुरू से अंत तक कहानीकार

की मौजूदगी है। हर बेहतर कहानीकार हमेशा अपनी कहानी में मौजूद रहता है। उमाशंकर का कहानीकार इस तथ्य से अवगत ही नहीं बल्कि उसे मानता भी है।

उमाशंकर की कहानियाँ पढ़ने से उनके शिल्पगत कौशल का पता चलता है। कहानी कहने का सुंदर तरीका इस रचनाकार के पास है। इसके पास पाठक को बाँधे रखने की क्षमता भी मौजूद है। आकर्षक शब्द संपदा है। उसमें एक तराश है, धार है, मारक क्षमता है और भेदन शक्ति भी। कहानीकार स्वयं बेचैन होता रहता है और अपने पाठकों को बेचैन करता रहता है। यह उसकी कहानियों से भी जाहिर होता है। आलोच्य कहानीकार कवि भी है। अतः उसकी कहानियों की भाषा में कविताई है। इससे भाषा की रवानगी दिखाई पड़ती है। उमाशंकर चौधरी का यह दूसरा कहानी संग्रह उनकी पीढ़ी का उल्लेखनीय संग्रह है। इसकी कई कहानियाँ हमारी स्मृति में बचे रहने की सामर्थ्य रखती हैं।

कट टु दिल्ली और अन्य कहानियाँ/उमाशंकर चौधरी/आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा/प्रथम संस्करण-2014/
मूल्य : ₹ 200

संपर्क : 2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता-700 042, मो. 09434884339

प्रगतिशीलता के पक्ष में वैचारिक मोर्चाबंदी

सुनील यादव

अभिव्यक्ति के तमाम खतरों के साथ प्रगतिशीलता के पक्ष में खड़े वीरेंद्र यादव एक ऐसे आलोचक हैं, जो यह मानते हैं कि साहित्य में हाशिए के समाज की केन्द्रीयता के द्वारा ही साहित्य के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया पूरी हो सकती है। 'साहित्यिक कुलीनतावाद एवं आस्वादपरक मूल्यों का प्रत्याख्यान उनकी आलोचना दृष्टि का संदर्भ बिन्दु रहा है।' वे पहले पत्रकारिता से जुड़े उसके उपरांत साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में आए। पत्रकारिता और साहित्य समीक्षा की यह आवाजाही उनके चिंतक व्यक्तित्व को समृद्ध करती है। उनकी नई किताब 'प्रगतिशीलता के पक्ष में' उनकी इस आवाजाही का पुख्ता प्रमाण है। 'उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता' के बाद यह उनकी दूसरी पुस्तक है, जिसमें अलग-अलग काल खंड में लिखे गए उनके लेख संग्रहीत हैं। इस किताब के संदर्भ में यहाँ यह बताना भी जरूरी हो जाता है कि प्रगतिशीलता का अर्थ यहाँ सिर्फ मार्क्सवादी विचार तक सीमित न होकर इसका फैलाव उन लेखकों तक भी है जो गैर मार्क्सवादी होते हुए भी समाज की प्रतिक्रियावादी ताकतों से संघर्ष करते रहे हैं। अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर दुनिया भर के विभिन्न विचार सरणियों वाले उन लेखकों के पक्ष में लिखना जो अपने लेखन में जन पक्षधर रहे हैं, वीरेंद्र यादव को रूढ़ मार्क्सवादी आलोचक की अपेक्षा गहरे अर्थों में सर्जनात्मक मार्क्सवादी चिंतक-आलोचक बनाता है। वे अपने इसी मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि से साहित्यिक परम्परा की पहचान तथा विश्लेषण के लिए विश्वसनीय आधार तलाशते हैं। उन्होंने जिस तरह हिन्दी आलोचना की कुलीन अभिजनवादी कलात्मक दृष्टिकोण का क्रिटिक पेश करते हुए, नए 'कैनन फारमेशन' की शुरुआत की और हिन्दी उपन्यासों का सबाल्टर्न अध्ययन प्रस्तुत किया, वह हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में बेहद महत्वपूर्ण है। इस सबाल्टर्न दृष्टि को उत्तर-मार्क्सवादी दृष्टि के रूप में ग्रहण करने के कारण ही वे रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचक के लेखन में ब्राह्मणवाद के प्रति नरम रुख की शिनाख्त करते हुए, 'मैला आँचल' और 'गोदान' पर लिखे उनके लेखों की सीमाओं का रेखांकन कर पाए। वे लिखते हैं कि 'रामविलास

जी की साँचे में ढली वर्गीय समझ 'मैला आंचल' को समझने में नाकाफ़ी लगती है और सबाल्टर्न पद्धति मददगार सिद्ध होती है।' भारतीय समाज को समझने की वीरेंद्र जी की दृष्टि इकहरी नहीं है। वे भारतीय समाज के वर्ग और वर्ण के विभाजन को स्वीकार करते हुए उसके जातिगत वर्गीकरण को ज्यादा जटिल मानते हैं, जिसकी हदें धर्म के भी पार चली गई हैं। भारतीय समाज की अपनी इसी मौलिक समझ के कारण वे कहते हैं कि 'यह विडम्बना ही है कि भारत के बदलते आर्थिक, सामाजिक स्वरूप के चलते जातियों का पेशागत विभाजन जहाँ दिनों-दिन अनुत्पादक और अर्थहीन होता जा रहा है, उतनी ही जाति व्यवस्था की जकड़न जोर पकड़ती जा रही है।' वे रचना को देश-काल के वृहत्तर सरोकारों से काटकर महज रूपवादी ढांचे एवं भाषाई कौशल की आस्वादपरक बहस तक केन्द्रित कर देने वाली दृष्टि की क्रिटीक पेश करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे की उस मांग का समर्थन करते हैं, जिसमें उपन्यास को महज साहित्यिक संरचना न मानकर सामाजिक संरचना के रूप में पढ़े जाने का आग्रह है। आज जब साहित्य की सामाजिक भूमिका पर सवाल खड़े किए जा रहे हों और आस्वादपरकता को साहित्यिक कसौटी बनाने की कोशिशें तेज हों तब क्या होती है आलोचना की चुनौतियाँ ? इस संदर्भ में वीरेंद्र यादव के लेख 'आज की आलोचना के समक्ष चुनौतियाँ' और 'साहित्य को सामाजिक परिप्रेक्ष्य से काटने की चालाकियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।' वे कहते हैं कि 'आज आलोचना की सबसे बड़ी चुनौती साहित्य को सामाजिक संदर्भ प्रदान कर उसे नई अर्थवत्ता देने की है, न की उसे महज साहित्यिक गढ़त बनाकर आस्वाद की वस्तु बनाने की।'

वीरेंद्र यादव प्रेमचंद के गहरे अध्येता हैं। 'गोदान' पर उनका लेख 'औपनिवेशिक, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भारतीय किसान : संदर्भ गोदान' काफ़ी चर्चित हुआ और इसे गोदान का एक मुक्कमल पाठ भी माना जाता है। इस किताब के लेख 'प्रेमचंद और किसान', 'किसान आंदोलन के दौर में गोदान', और 'कहाँ है प्रेमचंद की परंपरा' उनके इसी अध्ययन का विस्तार है। तत्कालीन समय में किसानों की समस्याओं को प्रेमचंद कितनी शिद्दत से समझ रहे थे, और उस पर लेखन कार्य कर रहे थे, उसे हम वीरेंद्र यादव का लेख 'प्रेमचंद और किसान' को पढ़ते हुए महसूस कर सकते हैं, वीरेंद्र यादव लिखते हैं कि "प्रेमचंद अपने कथा- वृत्तांत में इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि अंग्रेजी सरकार एवं जमींदार के गठजोड़ द्वारा इतनी निर्दयता से लगान वसूली और बेदखली की कार्यवाही की जाती थी कि वह भूमि की बेहतरी या उसे और उर्वर बनाने में कोई भूमिका नहीं निभाता था ...औपनिवेशिक भारत में कर्ज और भूमि के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों पर भी प्रेमचंद गहराई से विचार करते हैं...भू प्रबंधन की जमींदारी व्यवस्था का क्रिटीक रचते हुए प्रेमचंद ने किसानों की समस्या के बरक्स भूमि सुधार संबंधी कई सुझाव दिए थे....वे अपने उपन्यासों में स्वयं को जमीन का मालिक समझने वाले जमींदारों के दलाल चरित्र का तो पर्दाफाश करते हैं, जमींदार-महाजन और अंग्रेज की दुरभिसंधि की भी कलई खोलते हैं।" इस तरह की न जाने कितनी किसान समस्याएँ हैं, जिस पर प्रेमचंद ने विपुल लेखन किया है। आज जब हम प्रेमचंद की विरासत पर बात कर रहे हैं तो यह सोचने की जरूरत है कि 'बदली हुई परिस्थितियों में होरी, बलराज और कादिर का संघर्ष आज भी जारी है। मनोहर और गिरधारी के तर्ज पर आज भी किसान आत्महत्या करने को विवश हैं। किसान सभाओं के बावजूद किसान समस्या पूरी विकरालता में आज भी मौजूद है। ...आज प्रेमचंद की विरासत की लंबी पांत के बावजूद बहुत कुछ अनकहा रह गया है। जरूरत है उसे कहने की। क्या प्रेमचंद के वारिस इसे सुन रहे हैं!!!' (प्रगतिशीलता के पक्ष में)

प्रेमचंद का जब कुपाठ प्रस्तुत करके रंगभूमि की प्रतियाँ जलाई जा रही थीं, मुद्राराक्षस

को प्रेमचंद 'सवर्ण मानसिकता से ग्रस्त दलित विरोधी' नज़र आने लगे थे, जब विजय मोहन सिंह 'अज्ञेय के शेखर को हिन्दी उपन्यास का सत्ता और व्यवस्था विरोधी नायक' करार दे रहे थे। निर्मल वर्मा 'शेखर को स्वाधीन व्यक्तित्व का सबसे सशक्त प्रतिनिधि प्रतीक' मान रहे थे, जब नन्दकिशोर नवल प्रेमचंद की परंपरा से अज्ञेय और जैनेन्द्र की बेदखली से दुखी हुए जा रहे थे तथा एक वर्ष पूर्व प्रेमचंद के उपन्यास 'निर्मला' को पाठ्यक्रम से निकालने का प्रयास करने वाले भगवाधारियों को प्रेमचंद के इस अपमान की चिंता सताने लगी थी। उसी समय प्रेमचंद के पक्ष में मोर्चा संभालते हुए वीरेन्द्र यादव ने तद्भव-11 में 'कुपाठ और विरोध के शोर में प्रेमचंद' नाम से एक लंबा तर्कपूर्ण प्रतिवाद लिखते हुए बहुत क्षोभ के साथ कहा था कि 'गोदान के होरी को पंडित दातादीन ने खेत, जमीन जायदाद से बेदखल किया था, आज हिंदी साहित्य के महापंडितों द्वारा होरी को साहित्य से बेदखली करने की तैयारी है। हिंदी साहित्य में 'शेखर' का नायकत्व 'होरी' की बेदखली ही है। अफसोस यह कि 'होरी की इस बेदखली में इस बार पंडित दातादीन के साथ 'गोदान' के हरखू चमार के कुछ संगी साथी भी हैं। यह दृश्य अत्यंत क्षोभकारी व दुर्भाग्यपूर्ण है।' (तद्भव-11, 2004) इस किताब में संकलित लेख 'प्रेमचंद और प्रगतिशील मूल्य', 'कहाँ है प्रेमचंद की परंपरा' तथा 'दलित चेतना और हिंदी साहित्य' को इसके आगे की कड़ी के रूप में पढ़ा जा सकता है।

वीरेन्द्र यादव के लेखन की एक खास विशेषता यह रही है कि उन्होंने परंपरा से विद्रोह करने वाले उन लेखकों को याद किया जिन्हें लोग अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों के कारण या तो याद नहीं करना चाहते या भूल जाते हैं। नीरद सी. चौधरी और एलेन गिन्सबर्ग पर उनके लेख इस दृष्टि से महत्व के हैं। तन से भारतीय मन से अंग्रेज, आजीवन ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पैरवी करने वाले, अपने लेखन में खासे विवादित रहे नीरद सी. चौधरी को वे 'एक गुमनाम भारतीय का महाप्रयाण' नामक लेख में याद करते हुए लिखते हैं कि "अंग्रेजियत से उनका यह एकतरफा इश्क बौद्धिक दुनिया की एक ऐसी रोचक विडम्बना व त्रासद दास्तां है, जो लंबे समय तक याद की जाएगी। लेकिन दुखद यह है कि गोरे बौद्धिकों की जिस दुनिया ने इस भूरे अंग्रेज को आजीवन पांत बाहर कर रखा था, मृत्यु के बाद भी वह अंग्रेजी समाज की सुर्खियों का हकदार न बन पाया।...भारतीय देह से मुक्ति पाने के बाद भी क्या नीरद बाबू की अंग्रेज आत्मा अंग्रेजों के इस व्यवहार पर बेचैन रहेगी!!!"

साठ के दशक के सर्वाधिक चर्चित अमेरिकन कवि और बीटनिक पीढ़ी के प्रणेता एलेन गिन्सबर्ग को याद करते हुए वीरेन्द्र यादव 'एलेन गिन्सबर्ग : परंपरा के विरोध में एक चीख' नामक लेख में लिखते हैं कि 'गिन्सबर्ग अपनी कविता एवं जीवन में परंपरा निषेध के साथ-साथ चौंकाने वाली प्रवृत्ति को भी अपनाते दिखते थे। कविता में देह और वर्जित शब्दों का मुक्त प्रयोग एवं जीवन में साधुओं, भिखारियों, कोढ़ियों, एवं लुम्पेन सर्वहारा का संसर्ग उनकी इसी शैली का परिणाम था। यद्यपि वे जब-तब अपनी कविता एवं जीवन शैली का सिद्धान्त-शास्त्र भी गढ़ते थे। कविता को पारंपरिक लेखन से मुक्त करके वे वाचिक काव्यशास्त्र को गढ़ने में विश्वास रखते थे, शायद इसीलिए तंत्र-मंत्र की परंपरा उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करती थी। सच तो यह है कि गिन्सबर्ग स्वयं एक फेनामेना थे, जिससे उनकी कविता को अलगाया नहीं जा सकता।'।

आज जब कुछ जनवादी आलोचक साहित्य के प्रश्न को जीवन के प्रश्न से काटकर अज्ञेय पथ के अनुगामी हो रहे हैं, तथा मंचों से राजकमल चौधरी और धूमिल को एक ही खांचे में घुसेड़ देने की साजिश रची जा रही है, तो ऐसे समय में मुक्तिबोध की तरह साहित्य के प्रश्न

को जीवन का प्रश्न मानने वाले कवि धूमिल पर लिखते हुए, वीरेंद्र यादव द्वारा धूमिल और राजकमल चौधरी की दृष्टि में किए गए इस फर्क को ध्यान से देखने की जरूरत है-“राजकमल चौधरी और धूमिल दोनों का ही पूंजीवादी लोकतन्त्र से मोहभंग हो चुका था। लेकिन इस समानता के बावजूद दोनों में लोकतन्त्र से मोहभंग की परिणति अलग और भिन्न है। जहां राजकमल चौधरी का लोकतन्त्र से मोहभंग उन्हें ‘गांजाखोर साधुओं, अफीमची, रंडियों व भिखमंगों के मसानों’ में ले जाता है, वहीं धूमिल ‘मुनासिब कार्रवाई’ के रूप में व्यापक जनता से जुड़ने की बात कुछ यूँ करते हैं, ‘अकेला कवि कटघरा होता है/इससे पहले की ‘वह’ तुम्हें/सिलसिले से काटकर अलग कर दे/कविता पर/बहस शुरू करो/और शहर को अपनी ओर झुका लो।’ शहर को अपनी ओर झुकाने का यह उद्बोधन ही धूमिल को राजकमल चौधरी से अलग करता हुआ निराला और मुक्तिबोध की समृद्ध काव्य परंपरा से जोड़ता है, जिसकी काव्य चिंता के केन्द्र में भारतीय समाज का साधारण जन है।”

एक दौर में जब कुछ साठोत्तरी लेखक अपने लेखों और संस्मरणों में अमर्यादित एवं असांस्कृतिक भाषा के प्रयोग से धूम मचाए हुए थे, कृष्णा सोबती की कहानी ‘ए लड़की’ को ‘अपनी कथा- परंपरा की श्रेष्ठतम उपलब्धि’ बताया जा रहा था। ठीक उसी समय वीरेंद्र यादव ने ‘ए लड़की के बहाने’ (मार्च 1992) शीर्षक लेख में यह सवाल उठाया था कि “कहानी में बेटी की आत्म-केन्द्रीयता, अकेलापन तथा पहचान का संकट व्यापक नारी प्रश्नों से न जुड़कर एक वैयक्तिक संकट के रूप में प्रस्तुत होता है। एक खास अर्थ में लड़की का यह लिबरेटेड चरित्र अभासी, अराजक, समाज विरोधी तथा नारीत्व का नकार बनकर रह जाता है। निपट अकेलेपन में नारी अस्मिता की खोज का आस्तित्ववादी प्रत्यारोपण भारतीय समाज में न तो स्वीकार्य है और ना ही प्रासंगिक। फिर भला यह कहानी ‘अपनी कथा-परंपरा की श्रेष्ठतम उपलब्धि’ कैसे करार दी जा सकती है?...यह हिंदी कहानी का दुर्भाग्य है कि वह ‘परिन्दे’ के शाप से मुक्त भी नहीं हुई थी की उस पर ‘ए लड़की’ का ग्रहण लग गया। सोचने की बात यह है कि क्या सोच की दरिद्रता भाषा की अश्लीलता से क्या कुछ कम भयावह है?”

साहित्य के क्षेत्र में जब यह सवाल उठने लगा था कि क्या मार्क्सवादी राजनीति और चिंतन के हाशिये पर पहुँच जाने के बाद भी यशपाल की प्रासंगिकता बनी रहेगी? इसके उत्तर में वीरेंद्र यादव अपने लेख ‘यशपाल : आज भी प्रासंगिक हैं’ में कहते हैं कि-“जिसका जीवन भगत सिंह, आजाद, सुखदेव आदि मिथकीय व्यक्तित्वों के साथ क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक पक्ष प्रस्तुत करता हुआ बिता हो। जिसने भगत सिंह के साथ ‘बम का दर्शन’ सरीखा पम्पलेट लिखा हो, जिसने अंग्रेज वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम रखकर छह वर्ष की सजा काटी हो, जिसने ‘गांधीवाद की शव परीक्षा’ जैसी पुस्तक लिखकर गांधी के जीवन काल में ही उन्हें वैचारिक चुनौती दी हो और सबके साथ जो ‘झूठा सच’ जैसी महान औपन्यासिक कृति का लेखक रहा हो ...जिसके जीवन का विस्तार ‘बंदूक से लेखनी तक’ हो, ऐसे रचनाकार की प्रासंगिकता के प्रश्न को विचारधारा के तात्कालिक पराभव या उठान से जोड़कर नहीं देखना चाहिए। मार्क्सवादी चिंतन या राजनीति का आज जो भी हथ्र हो, लेकिन इतिहास के पन्नों में उसकी निशानदेही बरकरार रहेगी।”

आज के समय में जब भ्रष्टाचार उन्मूलन की बहस जारी है तब ‘राग दरबारी’ को नेहरू युगीन सर्वनकारवादी अनास्था की उपज मानने वाले वीरेंद्र यादव एक बार फिर श्रीलाल शुक्ल की स्मृति के बहाने ‘सर्वनकारवादी व अनास्था के दौर का रोचक वृत्तांत’ के रूप में उसे याद करते हुए उचित ही लिखते हैं कि “...राग दरबारी का शिवपालगंज तो महज एक बीज था,

यह बीज आज विष-बेल के रूप में देश को विषाक्त कर रहा है, उसका निवारण किसी एक जन लोकपाल के सामर्थ्य से बाहर है।”

इस पुस्तक में प्रगतिशील लेखन आंदोलन पर दो अत्यंत महत्वपूर्ण लेख हैं। एक ‘प्रगतिशील आंदोलन की दशा और दिशा’ जो सर्वप्रथम हंस, जनवरी, 1987 में तथा दूसरा ‘प्रगतिशील लेखन आंदोलन के 75 वर्ष’ हंस, अगस्त 2011 के अंक में प्रकाशित हुआ। इनके प्रकाशन के साथ ही बहसों का लंबा सिलसिला चला। ऐसे समय में जब प्रगतिशील लेखक संगठनों पर सवाल उठाया जा रहा हो तो इन दोनों लेखों को प्रगतिशील लेखन आंदोलन के आलोचनात्मक इतिहास के तौर पर पढ़े जाने की जरूरत है। और उन गलतियों से सबक लेने की भी जरूरत है, जिनसे यह लेखन आंदोलन कमजोर हुआ। इसी अर्थ में इन लेखों का अपना ऐतिहासिक महत्व भी है।

आज के समय में जब अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर खतरे दरपेश हैं तथा दुनिया भर के देशों में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को लेकर बहस जारी है, ऐसे समय में वीरेंद्र यादव के लेख ‘और तसलीमा भी प्रतिबंधित’, ‘अब तमिल अस्मिता भी कार्टून से आहत’, ‘आरक्षण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता’ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। जब गुंटर ग्रास जैसे कवि को उनकी कविता ‘जो कहना जरूरी था’ के प्रकाशन के साथ ही जब उनके इजराइल प्रवेश पर पाबंदी लगाते हुए उनसे नोबल पुरस्कार वापस लेने की मांग हो रही थी उसी समय इस प्रसंग पर वीरेंद्र यादव ने अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का संदर्भ लेते हुए ‘कविता से डरा हुआ देश’, नामक लेख लिखा। वे कहते हैं कि “गुंटर ग्रास की इस कविता का सबसे बड़ा निहितार्थ यही है कि यहूदी विरोधी कहे जाने का जोखिम उठाकर भी उन्होंने समूची दुनिया के युद्ध के कारोबार पर उँगली उठा दी है।” भारतीय दण्ड संहिता का ‘देशद्रोह’ जैसा प्रावधान, जिसका इस्तेमाल हाशिये के समाज के प्रतिरोधी तेवर को दबाने के लिए किया जाता रहा है, की आलोचना वीरेंद्र यादव ‘हाशिये का प्रतिरोध और राष्ट्रद्रोह’ नामक लेख में करते हुए कई महत्वपूर्ण सवाल उठाते हैं।

पाआलो फ़ेरे शिक्षा की भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि ‘शासक वर्ग यह तय करता है कि शिक्षा किसे दी जाए यानी समाज के कौन से हिस्से तक शिक्षा सीमित रखी जाए, कितनी शिक्षा दी जाए और क्या शिक्षा दी जाए। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शासक वर्ग ने शिक्षा को पूरी तरह अपने कब्जे में रखा।’ धर्म का राजनैतिक इस्तेमाल करती हुई भारतीय जनता पार्टी 1998 तथा 1999 में सत्ता में आई तो उसने शिक्षा का सांप्रदायीकरण करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों से छेड़छाड़ कर उसका भगवाकरण करने की कोशिश की गई। एन.सी.ई.आर.टी. की इतिहास के पुस्तकों से उद्धरण हटाए जाने लगे। आज भी शासक वर्ग अपने खास एजेंडे के तहत इस तरह का कार्य कर रहा है। वीरेंद्र यादव ने दो लेखों ‘माक्स और एंगेल्स की क्या जरूरत?’ तथा ‘प्रेमचंद और प्रगतिशील मूल्य’ में इन्हीं सवालों की पड़ताल करते हुए स्टेट के इस तरह की खतरनाक दृष्टि को प्रश्नांकित किया है।

आज की प्रगतिशील आलोचना की मिजाज पर बात करें तो लगभग आज भी वही हालात हैं जैसा कि मुक्तिबोध ने अपने समकालीन प्रगतिशील आलोचना के रवैये से क्षुब्ध होकर ‘समीक्षा की समस्याएं’ नामक अपने लेख में लिखा था कि—“प्रगतिशील आलोचकों की उस समय की आलोचना की प्रवृत्ति ध्वंसात्मक थी, दृष्टि संकीर्णतावादी और तरीका स्थूल। फलतः रचनाकार आलोचकों से दूर होने लगे। ऐसी स्थिति में नई कविता के कलावादी व्यक्तिवादियों द्वारा प्रगतिशील

रचनाशीलता पर आक्रमण हुए। साथ ही मुक्तिबोध ने यह साफ़ तौर पर कहा था कि प्रगतिशील आलोचना की अपनी आंतरिक कमजोरियों के कारण शीतयुद्ध प्रेरित कलावादी समीक्षकों को प्रगतिशील रचनाकारों पर हमले का स्पेस मिला।” मैं समझता हूँ कि आज के संदर्भ में भी मुक्तिबोध की इन बातों पर विचार किया जाना चाहिए। जब कुछ दिन पहले संपूर्ण मानवता को सी. आई. ए. के ऋणी होने की नसीहत दी जा रही थी, तो, इस मुद्दे के प्रतिरोध के तौर पर वीरेंद्र यादव ने जब कथादेश में ‘सी. आई. ए. ऋण बनाम अज्ञान का अंधेरा’ नाम से लेख लिखा तो उनके खिलाफ खड़े होने वालों में कलावादियों के साथ कुछ प्रगतिशील आलोचना के चेहरे भी थे, और सबसे घृणास्पद स्थिति तो तब हुई जब वीरेंद्र यादव के इस लेख के जवाब में कवि कमलेश का लेख छपा। उसका जितना विरोध होना चाहिए था वह नहीं हुआ। मुक्तिबोध प्रगतिशील समीक्षा के बिखराव को जिस रूप में महसूस कर रहे थे वह स्थितियाँ आज भी उपस्थित हैं, वे सवाल आज भी उपस्थित हैं और ‘प्रगतिशीलता के पक्ष में’ वीरेंद्र यादव का चिंतन और लेखन पूरी गंभीरता और नई ऊर्जा के साथ जारी है।

प्रगतिशीलता के पक्ष में/वीरेंद्र यादव/साहित्य भंडार प्रकाशन, इलाहाबाद/संस्करण-2013/मूल्य : ₹ 50

संपर्क : ग्राम-करकापुर, पोस्ट-अलावलपुर, जिला-गाजीपुर (उ प्र.) मो. 9453464073

साँसों को पढ़ता जोगी

जीवन सिंह

केशव तिवारी के तीसरे कविता-संग्रह का नाम है—‘तो काहे का मैं’। इससे पहले ‘इस मिट्टी से बना’ और ‘आसान नहीं विदा कहना’ शीर्षकों से उनके दो कविता-संकलन और आ चुके हैं। इनका शब्द-प्रयोग बतलाता है कि इनका कवि अनुरिक्त और विरिक्त की द्वन्द्वात्मकता में अपनी सृजन यात्रा को अंजाम देता है। जहाँ उसे अपनी मिट्टी से गहरी अनुरिक्त है, वहीं अपने ‘मैं’ से गहरी विरिक्त, बावजूद इसके कि आत्म और अन्तःकरण की समृद्धि के बिना कभी काव्य-सृजन सम्भव नहीं। कविता एक तरह से ‘स्व’ का प्रक्षेपण होती है, किन्तु कविता वही महत्त्व की स्थिति को प्राप्त करती है, तो अपने अहम्मन्य ‘स्व’ का प्रतिकार करती हुई चलती है। कहना न होगा कि केशव तिवारी के यहाँ उनका ‘स्व’ एक गहरी प्रतिकारात्मकता के साथ सृजनधर्मी होकर आता है। उन्होंने कविता लिखने की शुरुआत से ही कविता में जीवन-संगीत की लय सृजित करने का संकल्प लिया है। वे चाहते हैं कि उनकी कविता के पाठक के मन में अपनी जमीन, अपनी मिट्टी, अपने बाग-बगीचे, फसलें, कुँए, पेड़, पहाड़, नदी-नाले और उनको आकृतिवान बनाते लोग, एक गहरे इतिहास-बोध के साथ इस तरह प्रवेश कर जायें कि कहाँ कविता है और कहाँ से जीवन शुरू होता है, यह फर्क ही नहीं रहे। उनकी कविता पढ़ते हुए वैसी ही ठण्डक मिलती है जैसी ग्रीष्म ऋतु में किसी बहती नदी में भीतर धँसकर स्नान करने से। उनका शब्द-प्रयोग संन्यास नहीं, वरन् बहती हुई सरिता के स्वभाव जैसा होता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि आज बहुत कम कवि ऐसे हैं, जो केशव तिवारी की तरह ग्राम-जीवन में रमे हुए हों और उस जीवन की मुख्य एवं मूल ध्वनियों से वाकिफ हों। उनकी कविता एक चलते हुए उस धैर्यवान राही की तरह है, जो मंजिल तक पहुँचने के लिए ही यात्रा नहीं करता, वरन् यात्रा-पथ के पड़ावों की भी अपना साध्य बना लेता है। यही कारण है कि केशव तिवारी की कविता में साधन और साध्य अलग-अलग नहीं यहाँ जो साधन है वही साध्य है और जो साध्य है वही साधन है। इस रूप में उनकी छोटी-छोटी कविताएँ शब्द और अर्थ के द्वैत को भी मिटाती

चलती हैं। केशव तिवारी की काव्य-संरचना निष्कर्ष-प्रेरित नहीं है, वरन् उसमें कविता के प्रारम्भ होने से अन्त तक छोटी-छोटी लय संयोजित रहती है, जो कहीं पहले से चली आ रही रुढ़िबद्ध 'लय' को तोड़ती हैं तो कहीं अपनी स्वतन्त्र लय का सृजन करती है।

केशव तिवारी प्रबन्ध कविता से ज्यादा मुक्तक कविता के कवि हैं। कारण कार्य का विस्तार उनके यहाँ बहुत कम है। वे दृश्यों और भावों के यथार्थ में उतरने वाले ऐसे कवि हैं, जो स्वयं अपनी कविता की अन्तर्वस्तु खोजते हैं और उसे तब तक रचना में नहीं बदलते, जब तक कि उसे साध नहीं लेते। केशव, कविता के प्रचलित तन्त्र और मुहावरा, दोनों से बचकर चलते हैं। उनके यहाँ खबरों की साहित्यिक दुनिया से आया हुआ मुहावरा नहीं है, वरन् वह उस मिट्टी, पानी और आकाश के मिलन से बीज की तरह उगा हुआ है, जो सामान्यतया मध्यवर्गीय जीवन-सीमाओं से तेजी से विस्मृत हो रही हैं। इस अर्थ में वे ऐसी विस्मृतियों के रचनाकार हैं, जो उनके यहाँ स्मृतियों के माध्यम से आती हैं। वे मानो इस विकास-कुचक्र में फँसा दी जाने वाली और निरन्तर मानवीय गुणों का परित्याग करने वाली सभ्यता को पीछे के दिनों की स्मृतियों तथा बचे-खुचे वर्तमान में ले जाकर याद दिलाना चाहते हैं कि एक दुनिया ऐसी भी है, जिसमें मूँज से बनी खटिया की खूबसूरती है और यह सन्देश भी, कि जो चलता है, वही थकता है तथा जो लड़ने की ठान लेता है, वह कभी-कभी डरता भी है। जो न चलता है, न लड़ता है—उसका क्या किया जाय इस विलासी दुनिया में वह स्वयं को उस अधखाए अमरूद-सा मानता है, जिसे सुग्गे ने जमीन पर गिरा दिया है, किन्तु अभाव में पले-बढ़े बच्चों के लिए वही अमृत-सा मिठास देने वाला बन जाता है। केशव तिवारी के यहाँ इस तरह की जिन्दगी के रूपक यों ही नहीं आते। उनका मध्यवर्गीय मन उस ऊहापोह में रहता है—इस तरह की दुनिया के लिए—

*बस एक यही दुनिया है हमारे पास
जिसे कभी बेवफा प्रेमिका-सा
छोड़ देने का मन होता है*

*कभी एक अधूरी हसरत-सा
सीने से लिपटाए रखने का।*

‘जुलाहे भाई’ कविता से

केशव तिवारी के यहाँ कविता, कभी कविता होने की अपनी शर्तों को नहीं लौंघती और जिन्दगी से अपने रिश्ते को भी नहीं भूलती। एक बात और कि वे अपनी कविता को किसी भी सिरे से उठाकर कहीं भी पहुँचा सकते हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में कहूँ तो वह उस ‘आवेग त्वरित कालयात्री’ की तरह है, जिसकी यात्रा कहीं भी खत्म नहीं होती। ये कविता में व्यक्ति-मन का अपना पाठ प्रस्तुत करते हैं और अपनी कविता को अधिकांश समय तक अपने जनपदीय परिवेश में रखते हैं। यद्यपि उसका सूत्र-संचालन अपनी विश्व-दृष्टि से करते हैं। जहाँ तक विश्व-दृष्टि का सवाल है, कविता की रचना-प्रक्रिया में वह सदैव इस जीवन की रंगस्थली में नेपथ्य में रहकर अपना काम करती है। वे इस जीवन-सत्य को अच्छी तरह जानते हैं कि प्रेम कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता, वह तो किया जाता है, तभी वह प्रेम होता है। आज के मध्यवर्गीय जीवन की सबसे गम्भीर विडम्बना यही है कि इसमें प्रेम को जितना परिभाषित किया गया है, उतना किया नहीं गया। यदि वह वास्तव में किया जाता तो यह दुनिया आज बहुत बदली हुई होती। यहाँ प्रेम का यशोगान करने वालों की तादाद बहुत है, वास्तव में करने वालों की नहीं के बराबर। तभी

तो कबीर ने प्रेम को खाला के घर से मिन्न बतलाया है। इस बारे में केशव तिवारी का यह कहना है—

जिसने प्रेम किया
एक अथाह सागर थाहता रहा
जिसने प्रेम परिभाषित किया
किताबों में दबकर मर गया।

—‘विचार की बहंगी’ ‘कविता से

कबीर भी पोथी-प्रेम की ऐसी ही धज्जियाँ उड़ाते हैं। इस कारण केशव तिवारी ‘तो काहे का मैं’ जैसा सवाल उठाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के विभिन्न जीवन स्तरों पर व्यक्ति का अहं इतना मुखर और व्यक्तिबद्ध हो जाता है कि उसकी सारी रचनात्मकता निष्प्राण होने लगती है। वह मनुष्य न रहकर एक उपदेशक और प्रवचनकर्ता बनता जाता है और स्वयं उसे यह पता नहीं रहता कि वह ऐसा बनता चला गया है। केशव तिवारी की कविता आज के व्यक्ति-यथार्थ की थाह कुछ उसी तरह लेती है—

हमारे सपने कैसे विस्थापित हो गए
हमें अपनी आँखों पर कितना भरोसा था
जब रुककर सोचने का वक्त था
खुद को समेटने का
हम विचारों की घुड़सवारी कर रहे थे।

—‘विचार की बहंगी’ कविता से

यही कारण है कि आज पहाड़, नदी, पेड़ आदि पर हजारों कविताएँ लिखी जाने के बावजूद न पहाड़ हमारे मन में रहता है, न नदी और न पेड़। ये सब उन सरकारी सूचना पट्टों की तरह होती जाती हैं, जो पर्यावरण की संरक्षा के लिए कहीं भी लगे हुए मिल सकते हैं। कहा जा सकता है कि केशव के यहाँ कुछ दूसरे तरह का प्रतिरोध है। उसकी प्रकृति बदली हुई है। वह दूसरों को जाँचने से पहले अपने ‘मैं’ को जाँचता है। वह अपने ‘मैं’ का एक भिन्न निकष बनाता है—जिसमें सबसे पहले आता है—बेईमान की आँखों में खटकना, मित्रों को गाढ़े में याद आना, प्रेम को व्यवहार में उतार देना और कविता को कविता को स्तर पर जीना। इस तरह केशव की कविता, जिन्दगी के असली आवेगों की तरफ पाठक को लाने का प्रयास करती है। वह जीवन में उभरती उन मनोवृत्तियों और स्थितियों का खासतौर से अंकन करती है, जो इतिहास—गति में बाधक और साधक दोनों हैं। इसीलिए वह सबसे पहले अपने उस मन का आकलन करता है, जो तरह-तरह की निजी आसक्तियों एवं अनुरक्तियों से घिरा हुआ है। यह संयोगमात्र नहीं है कि केशव तिवारी की कविता में संगीत के रूपक बहुत आते हैं। संगीत सबसे अधिक सन्तुलन की विधा है। जहाँ यदि तारों को ढीला छोड़ दिया जाय तो स्वर या तो निकलता ही नहीं, या फिर बिगड़ जाता है। इसलिए वहाँ तारों को खींचकर बाँधना पड़ता है और सारंगी की खूंटियों को मसकते-मरोड़ते हुए स्वर-साधना के स्तर पर लाना पड़ता है। आज यदि हमारे जीवन का संगीत सध नहीं पा रहा है तो कहीं इसके तारों के खिंचाव में गड़बड़ है। केशव की एक कविता है—‘जोगी’—जिन्हें हिन्दी-प्रदेशों में अपनी तरह के लोकसंगीत के लिए जाना जाता है। कहा जाता है कि जायसी ने अवध में ‘पद्मावत’ की प्रेमकथा जोगियों से ही सुनी थी, जो

उनको अपनी सूफी दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए बहुत अनुकूल लगी। कैसा अद्भुत संयोग है कि हमारे भक्तिकाल के लगभग सभी कवि गायक भी रहे या फिर संगीत से उनकी गहरी सम्बद्धता रही। छायावादी युग में निराला स्वयं संगीत-साधक रहे और प्रसाद जी उसके बहुत नज़दीक। यह कलाओं की पारस्परिक आवाजाही नहीं है, वरन् हमारी मनोवृत्तियों की सन्तुलन-साधना भी है। मैंने स्वयं बाँदा में केशव तिवारी के घर पर सारंगी वादक छन्नू खाँ का सारंगी-वादन सुना है। इतना ही नहीं, वे उनके सुख-दुखों में साथ रहकर अपना साथीपना निबाहते रहे। हमारा यही मन है, जो आसक्ति-अनासक्ति, राग-विराग के द्वन्द्व में अपनी यात्रा तय करता है। हमारा मन जब तक इस बाने को धारण नहीं करता, तब तक विभ्रमों से मुक्त नहीं हो पाता। केशव का कवि-मन यहाँ इसी द्वन्द्व को पढ़ने की कोशिश करता है—

प्रेम यही करता है जोगी
डुबाता है उबारता है
भरमता है भरमाता है

तुम्हारा निर्गुण्य तो
कुछ और कह रहा है
पर तुम्हारी साँसें
कुछ और पढ़ रही हैं जोगी।

जब कवि भावों को अपने मुहावरे में बाँधता है तो लक्षणा तक कि सैर करना आवश्यक हो जाता है। इस तरह की कविता में क्रियाओं का वेग बढ़ जाता है। इसलिए केशव की कविता को बने-बनाये काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर नहीं समझा जा सकता। मुक्तिबोध के शब्दों में कहूँ तो उनके यहाँ चाहे वह जुलाहे के रूप में हो, या जोगी के रूप में, या गुरु पासी, या बिसेसर, या सुगिरा काकी, या धनई काका, या मड़कू या मोमिना, या मुराद अली, या फिर विनायक सेन के रूप में—सभी रूपों में हमें आज की पीड़ित मनुष्यता के दर्शन होते हैं। केशव तिवारी की मानें तो आज धरती के हृदय में कोई काँटा गड़ा हुआ है। जिसकी वजह से सुरों में डूबी हुई धरती वैसे ही कराहना रही है, जैसे रामायण में राक्षसी अत्याचारों से कराहती है। यद्यपि यहाँ रामायण का कोई सन्दर्भ नहीं है किन्तु ‘धरती का कराहना’ इस कविता को अपनी पारम्परिक लय से भी सम्बद्ध कर देता है। उनकी कविता की खासियत उसकी मार्मिकता में है। वे सतत् गतिशील रहकर अपनी वर्गीय स्थित्यात्मकता का अतिक्रमण करने का प्रयास करते हैं। अनेक कवि आज अपने मानसिक द्वन्द्वों व तनावों तथा प्रतिक्रियाओं कविता ज्यादा लिख रहे हैं, वहाँ केशव तिवारी जैसे कवि जीवन के विस्तृत क्षेत्रों में फैलते जाने में ज्यादा विश्वास करते हैं। उनके यहाँ जनपदीयता फैशन की तरह नहीं आती वरन् जीवन क्षेत्र के विस्तार की जरूरत के तहत आती है। यह आज की ‘पीड़ित मनुष्यता’ ही है, जो कविता में गति, तीव्रता और सत्य का आवेग पैदा कर उसमें मार्मिकता की तरंगें उत्पन्न करती है। मुक्तिबोध ने अपनी समकालीन नयी कविता के ‘वस्तु और रूप’ पर विचार करते हुए एक जगह पर लिखा है कि “हम केवल वाह्य जीवन में आत्मसात् ही नहीं करते, वरन् उस बाह्य जीवन-जगत् में हम फैलते भी हैं। हम उसमें अपना विस्तार करते हैं, उस पर एक विशेष अर्थ में, अधिकार करते हैं और अपने अनुसार हम उसमें संशोधन-परिवर्तन करना चाहते हैं, करते हैं, करने में सफल-असफल भी होते हैं।” इतना ही नहीं, वह अपनी भाषा, अपनी मुहावरा, अपने रूपक, बिम्ब और शिल्प आदि भी इसी तरह के

जीवन-विस्तार से प्राप्त करते हैं। जिसे हम जीवन अनुभव कहते हैं, वह केवल ज्ञान-प्रक्रिया ही नहीं है, वरन् एक इस तरह की ज्ञान-प्रक्रिया है जो हमारी जीवन-कर्मों में संलग्नता और सम्बद्धता से आती है। केशव तिवारी की एक कविता है—‘खेत जगाये जा रहे हैं—इस छोटी-सी कविता में समय-सम्बन्धों को जिस स्तर पर जाकर व्यक्त किया गया है, वे कवि के जीवन-विस्तार के बिना शायद ही सम्भव हो पाता। आज की जनपदीय परिवेश से सम्बद्ध कविता सही अर्णों में कवि के फैलाव की कविता है, जहाँ जिन्दगी के संघर्ष सबसे अधिक तीव्र, गहन एवं वास्तविक हैं। इसके बावजूद जहाँ जीवन के प्रति गहरी आस्था और उल्लास भी मौजूद है। दीपावली पर अवध में खेत जगाने की परम्परा है, जो आज भी चल रही है। केशव का कवि मन इस परिघटना को अपने गाँव जाकर देखता ही नहीं, वरन् इसके अभिप्राय को समझने की कोशिश करता है। वह खेत-जागरण की मानसिकता के सारतत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करता है तथा उस जागरण को एक नया एवं समकालीन अर्थ प्रदान करता है—

दिवाली है
 खेत जगाए जा रहे हैं
 × × ×
 मैं उनको भी जानता हूँ
 जो इन खेतों के साथ-साथ जाग रहे हैं
 और उनको भी जो लगातार
 सड़ते हुए अनाज पर
 गलत बयानी करते जा रहे हैं

कहना न होगा कि आज के कवि के लिए यह जानना कितना जरूरी है। क्या इस तरह की ज्ञानात्मक प्रक्रिया के बिना आज का कवि अपने समय के विश्व-सम्बन्धों को जाना सकता है? और वह स्वयं यदि इनमें शामिल नहीं है तो उसकी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति अपने किताबी स्वरूप का परित्याग करने में क्या सक्षम हो सकती है। यही कारण है कि आज की व्यवस्थागत विसंगतियों और विडम्बनाओं को उजागर करने वाली कविताओं में ज्यादा दम नहीं आ पाता। केशव तिवारी इस अर्थ में कुछ भिन्न हैं कि वे अपनी ज्ञान-प्रक्रिया में कार्य-प्रक्रिया को भी शामिल करने की कोशिश करते हैं, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण, उनकी ये कविताएँ, उनका स्वभाव, उनकी भाषा और इनके भीतर खनकता वह लोकसंगीत है, जो इनको पढ़ते जाने की ललक पैदा करता है। केशव तिवारी की कविताएँ इस मामले में भी भिन्न नजर आती हैं कि वे जीवन के उस सत्य को खोजने का प्रयास करती हैं, जो वास्तविक मनुष्यता के जीवन में मिलता है। केशव के यहाँ जो गाँव के खेत-जंगल आदि आते हैं, वे अपने पूरे इतिहास, भूगोल और संस्कृति तथा ऋतुबोध के साथ हमारी सभ्यता में जो उत्सवधर्मिता रहती चली आई है, उसकी गम्भीर एवं सृजनात्मक उपस्थिति उनकी कविताओं में है। इसी का परिणाम है कि उनकी कविता कहीं होली से, कहीं दिवाली से, तो कहीं देखें एकादशी से, कहीं अक्षय तृतीया से, कहीं कातिक में गंगा स्नान, कहीं चैता गायन के स्वरों से अपने भीतर झंकार-सी पैदा करती चलती है। यही उनकी कविता का जीवन है और यही जीवन उनकी कविता है, जो भावों के साथ समकालीन विचार एवं ज्ञान-प्रक्रिया को इस तरह गूँथ देता है कि पाठक का मन उस व्यक्ति और वर्ग के साथ हो जाता है, जिससे अपने जीवन में वह आमतौर पर दूरी व अलगाव बनाए रखता है। जब कि यह पीड़ित के प्रति लगाव पैदा कर देने की कविता हैं।

आज के जीवन में वर्ग-विभाजन इतना तीव्र, गंभीर और एक ऐसी बीमारी की तरह का हो गया है, जिसमें मनुष्य का पारस्परिक सहकारिता का भाव समाप्त प्राय होता जा रहा है। और यह ऊपर के उच्च और उच्च-मध्यवर्गी के स्तर पर बहुत अधिक हो रहा है। इसका असर हमारे देश में नीचे ग्रामीण स्तर तक जा पहुँचा है। बावजूद इसके आज की जो कविता ग्रामीण किसानी एवं जनपदीय प्रकृति-परिवेश को अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर रही है तथा उन जटिल होते सम्बन्धों का रूपांकन-विश्लेषण कर पा रही है, उसकी भाषा एवं रूप-विधान में कुछ अलग तरह की ताजगी का अहसास हुए बिना नहीं रहता, हालाँकि इस काव्य-प्रवृत्ति में एकरसता और एकरूपता का खतरा भी बना रहता है। कवि को एक तरह के भाव-रूपों को एक तरह की शब्द-पद्धति में व्यक्त करने का अभ्यास हो जाता है और वह उसी को विषय बदल बदलकर दुहराता रहता है जब कि कविता अपने विकास के लिए सतत जीवन-अन्वेषण की माँग करती है। एक सुसंगत, तार्किक विश्व-दृष्टि होना कवि के लिए परम आवश्यक है, किन्तु विचारधारा कभी जीवन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। केशव तिवारी के कवि-रचनाकार की खास बात यह है कि उनके यहाँ विश्व-दृष्टि कभी जीवन-चिन्ता के आगे-आगे चलती नजर नहीं आती। वे कहीं से शुरू करें, उनके यहाँ पहली लकीर जिन्दगी की खिंचती है। यह जिन्दगी उनके कवि से अचानक कुछ कहा जाती है। तसलीमा नसरीन को केंद्र में रखकर वे 'एक औरत' शीर्षक कविता लिखते हैं, जिसमें उनकी साहित्य-दृष्टि ही नहीं, सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि भी बहुत कम शब्दों में व्यक्त हो जाती है और वह 'एक औरत' की नहीं, औरत मात्र की कविता बन जाती है। वे लिखते हैं—

मेरे भीतर भटक रही है
वतन बदर एक औरत
अपने गुनाह का सबूत
अपनी लिखी किताब लिए
दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र
का नागरिक मैं
उसे देख रहा हूँ सर झुकाए।

जहाँ मुनष्यता के हत्यारे
खुले आम घूम रहे हैं
वहीं सर छुपाने की जगह
माँग रही है वह।

मुक्तिबोध ने एक जगह कहा है कि “आत्मपरक रूप से विश्वपरक होने की लम्बी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही कला है।” क्या यह सच नहीं है कि इस लम्बी प्रक्रिया का निर्वहन उन्होंने ही सबसे पहले अपनी कविता में सबसे अधिक किया है। कहना न होगा कि 'आत्मपरक रूप से विश्वपरक होने की लम्बी प्रक्रिया' को साध पाना बहुत मुश्किल होता है। इसी वजह से सभ्यता के विकास के साथ-साथ कवि-कर्म कठिन होता जाता है। कवि-कर्म असल में जीवन-कर्म ही है। एक ऐसा जीवन-कर्म, जिसमें सब कुछ जीवन-क्रियाओं के अवलोकन, निरीक्षण एवं विश्लेषण करते हुए उसी से लेकर उसी को लौटाना पड़ता है। इस लौटाने की प्रक्रिया में कवि का भाषिक व्यवहार और शब्द का स्थापत्य सबसे ज्यादा काम आता है। केशव

तिवारी की कविता में उनकी भाविक निजता का तत्त्व सबसे अधिक गौर करने लायक है, जो उनको उनके मातृ-जनपद अवध से मिला है। कविता के लिए उन्होंने अपने अवध को सीने से लगाए रखा है। इससे उनके कवि-व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमजोरी और सीमा उसके वास्तविक व्यक्तित्व से दूर हटते चले जाना है। उसका जो वास्तविक व्यक्तित्व है, यही कवि-व्यक्तित्व नहीं है। आज यह संकट जीवन के सभी क्षेत्रों और सभी स्तरों पर नजर आने लगा है। केशव तिवारी के यहाँ इस तरह के संकट के प्रति सावधानी दिखाई देती है, जो उनकी कविता के फलक को विस्तृत करते रहने का काम करती है। कविता जीवन में सर्वत्र है, बशर्ते कि उस जीवन को भीतर तक रचा-बसा लेने वाला एक वास्तविक कवि-व्यक्तित्व हो और जो कविता के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की किताब को कुछ काव्यसूत्रों के आधार पर कविता में बदलने का काम न करता हो। केशव को मैंने नजदीक से देखा है—बाँदा में, चित्रकूट, राजापुर, कालिंजर के दुर्ग तक बुन्देलखण्ड में। उत्तराखण्ड के कुमायूँ जनपद में कौसानी, अल्मोड़ा, गंगोलीहाट में उनके साथ-साथ रहा हूँ। जगदलपुर-बस्तर का इलाका उनके साथ घूमा हूँ। कहना यह चाहता हूँ कि इन यात्राओं के अन्तर्दृष्टिपूर्वक गहरे अनुभव इन कविताओं में जब मुझे पढ़ने को मिले तो यह जाना कि एक सजग और विश्व-दृष्टि से प्रेरित कवि कहीं से भी अपनी कविता की शुरुआत कर सकता है। जीवन अनुभवों को रच देना ही तो कविता है। रचाव की वह कला है, जो हर कवि को अपनी तरह से दिखलानी पड़ती है। यह रचाव उसकी भाषा में व्यक्त होता है। केशव तिवारी की कविता की जो स्वतन्त्र पहचान बनी है, वह उनकी अन्तर्वस्तु की समकालीनता में तो है ही, उनके भाषा-शिल्प और मुहावरे में भी उतनी है। और यह अवध के दशहरी आम की गमक के बिना शायद ही महक पाती है। समकालीन कविता में त्रिलोचन और मान बहादुर सिंह के बाद केशव तिवारी का मन जितना अवध में रमा हुआ दिखाई देता है, उतना शायद ही इस जनपद के किसी अन्य कवि का हो। कहना न होगा कि अपने जनपदीय जीवन तक कविता को फैला देने से ही हिन्दी के सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त होने का अवसर मिलेगा जैसा कि केशव तिवारी के यहाँ मिलता है। यह खुशी की बात है कि आज हिन्दी के विभिन्न जनपदों में कविता का जीवन-विस्तार विविध रूपों में हो रहा है। जब विस्तार होता है तो गहराई भी आती ही है।

तो काहे का मैं/केशव तिवारी/साहित्य भंडार प्रकाशन, इलाहाबाद/प्रथम संस्करण-2014/मूल्य : ₹ 50

संपर्क : 1/14 अरावली विहार, काला कुँआ, अलवर (राजस्थान) 301002, मो.-09785010072

बौराई इस हवा में हल और हलंत के साथ टिका एक कवि

आशीष मिश्र

हिन्दी भाषा, ऐतिहासिक प्रक्रिया में जहाँ अपना रूपाकार ग्रहण करती है, वह शताधिक नदियों से सिंचित, दुनिया के सर्वाधिक उपजाऊ प्रदेशों में से एक है। जहाँ 70 प्रतिशत से ज्यादा लोग गाँवों में रहते हैं और 60 प्रतिशत से ज्यादा लोगों का जीवन कृषि पर निर्भर हो, वहाँ गाँव और कृषि कविताओं में कम होता गया है! कविताओं में जो चित्र गाँव या किसानों के आते भी हैं वे बड़े रोमांटिक किस्म के हैं। जैसे कोई शहरी मध्यवर्गीय दूर से बैठ कर अपने गाँव को देख रह हो या फिर बीस-पचास वर्ष पूर्व के, स्मृतियों में बसे, गाँव को रच रहा हो। इस तरह की कविताओं में एक तरह का अनुचिंतन होता है जो बहुत कुछ प्रगीतात्मक संरचना बनाता है। इस प्रक्रिया में गाँव बहुत संवेदनशील, कोमल, अच्छाइयों का आगार बन कर उपस्थित होता है। इससे पता ही नहीं चलता कि पिछले बीस-पच्चीस सालों में उदारीकरण एवं बजारीकरण का गाँवों पर क्या प्रभाव पड़ा। अभी भी लोग गाँव और शहरों को दो समानान्तर स्थितियों की तरह ही ट्रीट कर रहे हैं। जबकि यथार्थ इससे अलग है। बाजार ने गाँवों में लोगों की महत्वाकांक्षाओं, सम्बन्धों का स्वरूप और पूरी जीवन-दृष्टि को बदल कर रख दिया है। दूसरी तरफ शहरों में लोग मिट्टी के दिये, बैलगाड़ियों के प्रतिरूप, कुदाल और डेकुल से अपना ड्राइंग रूम सजा रहे हैं जो कि अब बहुत कुछ गाँवों में भी नहीं बचा। इन चीजों को, जो बीत चुके हैं, मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने सुचिक्कन बोध के दायरे में ग्लोरीफाई कर रहा है।

इस समीक्ष्य संग्रह में तकरीबन साठ कविताएँ हैं। इन कविताओं से पता चलता है, कि अष्टभुजा जी के बोध का भूगोल गाँव से लेकर बड़े कस्बों या छोटे शहरों तक फैला है और इनकी चेतना का इतिहास 90 के बाद तेजी से बढ़े गाँवों पर उदारीकरण और बाजार के आर्थिक और सांस्कृतिक दबावों से निर्मित है। अष्टभुजा इन सारे दबावों के प्रति बेहद सजग कवि हैं। इस फेनामिना के तहत पैदा हो रही नई परिस्थितियों को, उसके पूरे संदर्भों के साथ पकड़ने में सक्षम हैं, जो समान्यतः हमारी नजर की जद से बाहर होती हैं। इनके बोध का स्वरूप क्या

है और कितना यथार्थ है, इसका पता चल जाएगा यदि उन्हीं के जातीय क्षेत्र के कवि केदारनाथ सिंह को उठा कर देखें। एक कवि के यहाँ चित्र बहुत विडंबनात्मक है तो दूसरे के यहाँ सौंदर्यपूर्ण। अब इसी बात को उलट दें, केदारनाथ सिंह के यहाँ बिडंबनात्मक स्थितियाँ भी बहुत सौंदर्यपूर्ण ढंग से आती हैं और अष्टभुजा के यहाँ सौंदर्यपूर्ण स्थितियाँ भी बहुत विडंबनात्मक और व्यंग्य के रूप में।

गाँव पर कविताएँ और गाँव की कविताएँ दो अलग-अलग बातें हैं। अष्टभुजा की कविताएँ गाँव की कविताएँ हैं—अपनी खूबसूरती और विडम्बना के साथ। 90 के बाद हिन्दी कविता में गाँव पर कविताओं की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। इसे वैश्वीकरण की प्रतिक्रिया में एक शरणगाह की तरह समझा जा सकता है। जिसमें आत्महत्या करते हुए किसान, गरीबी और प्रकृति आदि के विषय में या तो वर्णन है या फिर एक किस्म की भावुकता। इन्हें पढ़ते हुए भाषिक सर्जनात्मकता का अभाव यह बताता है, कि कविता का गाँव के वस्तुगत यथार्थ से कोई संबंध नहीं। अष्टभुजा लिखते हैं—“कविता की खेती में जितने सुख हैं/ खेती की कविता में उतने ही दुख और असमंजस।” अष्टभुजा शुक्ल किसी भी विषय पर कविताएँ लिख रहे हों वहाँ गाँव और किसानों के छोटे-छोटे उपादान विविध तरीकों से रचित-पुनर्रचित होते रहते हैं। प्रेमचंद के एक तैल चित्र को देख कर लिखते हैं—“चेहरा छीले गए खलिहान की तरह/ माथा आसमान/आँखें दो मेघ खंड/मूछें उगी हुई फसल/और होठ पानी भरा चोढ़ा।” चंद्रबली सिंह के विषय में लिखते हैं—“बाँस की पेड़ी की तरह/चहचहाते हैं उसमें कुछ पक्षी/पत्तों के पुराने सूपों को झाड़ कर/निकल रही है बगल से/एक नई करइल/सुदृढ़ शंक्वाकार पत्ता।” यह गाँव की कविता है, जिसके आते ही कविता की संरचना बदलने लगती है। अष्टभुजा शुक्ल की कविताओं की संरचना और उसकी भाषा कई स्तरों पर हिन्दी कविता की सामान्य संरचना को तोड़ती हैं, उसे अपर्याप्त सिद्ध करती हैं। ऐसा गाँव के यथार्थ से उपजे नए तरह के बोध के कारण होता है। अष्टभुजा शुक्ल इसे समझते हैं—“थोड़ी-सी बनैली हवा/और एक आदिवासी कुल्हाड़ी लाना चाहता था/लेकिन रेक्सीन का बैग/फट जाने के डर से/एक छेदना तक नहीं ला सका वहाँ से।” उनके देशज बिम्बों व विडंबनात्मक स्थितियों के कारण कविता में तहाकर रखा गया मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध तार-तार हो जाता है। ‘ए सी तृतीय’ शीर्षक कविता में इसी बात को लिखते हैं—“इस डिब्बे में/जिंदगी के हिसाब से कम/कानून कायदों के हिसाब से/ज्यादा चलते हैं लोग।” ‘हाथा मारना’ में लिखते हैं—“हरियाली के अचार/काँच के पारदर्शी जारों में सजाए गए/पानी के हाथों को पीछे से बाँध दिया गया है/और नवजात हवा नाक रगड़ रही है उन फर्शों पर/जिन पर मृग चर्म के जूतों की परछाइयाँ बिलख रही हैं/इस प्रदर्शनी में खेती के सारे अवजार करीने से लगाए गए हैं/...ऐसे ही कुदाल/हँसी जैसी हँसिया/और भूत के पिछले पाँव जैसे फावड़े/जिनपर मिट्टी का एक भी कण नहीं।”

अष्टभुजा कविता में चीजों को इतना झाड़-पोंछ और पॉलिश करके नहीं रखते वे चीजों को उनकी वस्तुवत्ता में कचरे और कर्दम के साथ उठा कर कविता में रख देते हैं। इससे मध्यवर्गीय सौंदर्यबोध को खुजली मचना स्वाभाविक है। बाजार और उदारीकरण द्वारा फैलाई जा रही संस्कृति के द्वारा एक बहुत बड़ी दुनिया तलछट में बदलती जाती है। अष्टभुजा उन्हें कविताओं में रचते हुए इस पूरी प्रक्रिया को प्रतिपक्ष में बदल देते हैं। ‘हलंत’ इसी का प्रतीक है। वे गाँवों में छोटे-छोटे परिवर्तनों और उससे जीवन-संवेदना पर पड़ने वाले प्रभावों को पकड़ने में सक्षम हैं। ‘भारत संचार निगम लिमिटेड’, ‘कम्बाइन’, ‘नई कहावत’ आदि जैसी कविताओं में अष्टभुजा के इस क्षमता को देखा जा सकता है। अष्टभुजा कहीं से भी भावुक नहीं हैं, वे उद्योग और

यंत्रों को नकारते नहीं। परन्तु जब यह एक बड़े हिस्से के जीवन को नकारात्मक रूप से प्रभावित करने लगे तब इसे उचित नहीं कहा जा सकता। कम्बाइन कृषि कार्य के लिए उपयोगी यन्त्र है परन्तु जहाँ मजदूरों का एक बहुत बड़ा वर्ग भूमिधरों के यहाँ कटिया-बिनिया पर जीवन निर्वाह के लिए निर्भर है, वहाँ यह मशीन एक महामारी है—‘गेहूँ की फसल काटने के साथ-साथ जिनके खेत नहीं हैं उनके हाथों को काट कर लूला बना दिया है उसने/बहुत से चूल्हे बुझा चुकी है फूँक मारकर...खड़ी है वह जसे बहुत सी हत्याएं करने के बाद थक कर सुस्ता रही है।’ अष्टभुजा गाँवों के अंतर्विरोधों को भी नहीं छिपाते, उसे उसके विडंबनाओं के साथ रख देते हैं।

अष्टभुजा शुक्ल के बोध के जिस इतिहास और भूगोल की बात शुरुआत में की गई है, उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं। उनकी कविताओं में व्यंग्य ही प्रधान है परन्तु कई बार संस्कृत की शास्त्रीयता के दबाव में अपने कौशल प्रदर्शन के चलते या फिर अवचेतन में जमी जातीय और लैंगिक स्मृतियाँ, इनके संवेदना और बोध की सीमाएँ गढ़ देती हैं। इस संग्रह में ‘मशरूम केयर ऑफ कुकुरमुत्ता’ शीर्षक कविता में निराला के कुकुरमुत्ता की पैरोडी बनाते हुए लिखते हैं—“अब न किसी गुलाब खातिर फारस जाना/न घोड़े के लिए काबुल/न बुद्धि के लिए कैम्ब्रिज/न रक्तपात देखने के लिए कुरुक्षेत्र/न नंगेपन के लिए किसी आदिवासी समाज में।” यहाँ आदिवासी समाज को जिस नंगेपन से जोड़ा गया है उसके पीछे के हिंसक दृष्टि से हम अपरिचित नहीं हैं। क्या विवशता और नंगापन एक ही बात है! इसी संग्रह में एक सुन्दर-सी कविता है—‘पुरोहित की गाय’। इसमें गाय में स्त्री छवि बहुत सघनता से जुड़ी हुई है या गाय की अर्थछवियाँ सामंती दबाव में घुटती हुई स्त्री तक विस्तार पाती हैं। पर एक जगह जिस तरह का व्यंग्य बनाते हैं वह बहुत कुछ स्त्री अस्मिता के खिलाफ चला जाता है—“वह खोज रही है सुख/जो जनता केवल दुख/फिर भी उसी दुख के लिए कम से कम चौबीस घण्टे का नशा तारी है/अललाहट जारी है।” ‘बाँस की जड़ें’ शीर्षक कविता में एक गैर जरूरी व्यंग्य है जो अष्टभुजा के बोध की सीमाओं की तरफ इशारा करता है। इसे पढ़ते हुए धूमिल, राजकमल चौधरी और रघुवीर सहाय कौंध जाते हैं—“बाप/सदा-सदा के लिए विदा हुए हमसे/उन्हें कंधा देने के लिए हम अपनी/बहनों को भी बुलाना चाहते थे/लेकिन अपनी ससुराल में वे/गरुण पुराण के/फटे हुए पन्नों से अपनी दुधमुंही पोतियों की टट्टी साफ़ कर रही थीं।” कई बार अष्टभुजा पर छंद और तुक का गैर जरूरी दबाव दिखता है। इस सबके बावजूद इस संग्रह से अष्टभुजा के पूरे काव्य-व्यक्तित्व की ऐसी छवि बनती है जो समकालीन कविता में सबसे ज्यादा यथार्थ और साफ़ है।

इसी हवा में अपनी भी दो चार साँस है/अष्टभुजा शुक्ल/राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली/संस्करण : 2010/
मूल्य : ₹ 200

संपर्क : मो.-0801034330, ई-मेल : ak19788@gmail.com

साहित्य और परिवेश में एक जरूरी हस्तक्षेप

अभिलाष कुमार गोड़

‘साहित्य और परिवेश’ कवि, लेखक ब्रजेन्द्र त्रिपाठी की नवीनतम आलोचनात्मक पुस्तक है जो समकालीन साहित्य और संस्कृति के प्रश्नों पर काफी गम्भीरतापूर्व विचार करती है। पुस्तक को सुविधानुसार तीन खण्डों में समाहित किया गया है—‘विमर्श’, ‘अवदान’, और ‘विविध’,। त्रिपाठी जी की यह पुस्तक उनके समस्त लेखों का संग्रह है, जिन्हें अलग-अलग पत्रिकाओं में सराहा गया है, उसके महत्त्व को उजागर करने का प्रयास किया गया है। विद्यार्थियों और सुधी पाठकों की सुविधा के लिए लेखक ने इसे संग्रहीत कर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है, जो सराहनीय है।

‘साहित्य और परिवेश’ पुस्तक में हिन्दी साहित्य के साथ नेपाली, मैथिली, असमिया और संताली साहित्य की चर्चा की गई है, साथ ही साथ उन तमाम रचनाकारों के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन भी किया गया है, जिन्होंने साहित्य को अपने अनुसार समझने और अपनी रचनाओं के माध्यम से समझाने का इस पुस्तक के माध्यम से महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। लेखक ने अपने 37 (सैंतीस) निबंधों को तीन खण्डों में समाहित करने का प्रयास किया है। पहले खण्ड ‘विमर्श’ के अन्तर्गत उन्होंने 14 (चौदह) लेखों की रचना दिया है, ‘अवदान’ के अन्तर्गत 15 (पन्द्रह) और ‘विविध’, खण्ड में 8 (आठ) लेखों को शामिल किया है। लेखों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार अलग-अलग भागों में रखा गया है। भारतीय साहित्य और संस्कृति को केन्द्र में रखते हुए लेखक ने उससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर अपनी पैनी दृष्टि डाली है। वैश्वीकरण का प्रश्न उठाते हुए समकालीन साहित्य एवं संस्कृति पर उसके प्रभाव को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास लेखक ने अपने वैश्वीकरण से सम्बन्धित लेखों के माध्यम से किया है, जिनमें साहित्य पर पड़ रहे इसके प्रभाव पर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। वैश्वीकरण शीर्षक इन लेखों को पढ़ने पर लेखक के अन्दर उठी अशान्त भावना जिसका सरोकार वैश्वीकरण से है का बोध होता है— “तमाम सभ्यताएँ संक्रमण से गुजर रही हैं, संस्कृतियाँ अपनी पहचान खो रही हैं, भाषाएँ अपना

स्वरूप बदलकर विकृत हो रही हैं। एक तरह की संकर संस्कृति बन रही है, जिसमें सब कुछ उलट-पुलट हो रहा है। यदि हम इस भूमण्डलीकरण के दुष्प्रभावों के प्रति सचेत नहीं हुए तो कुछ भी नहीं बचेगा, न हमारी भाषाएँ न हमारी संस्कृतियाँ। सबका लोप हो जाएगा। हमें पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से उबरना होगा, तभी हम अपनी अस्मिता की रक्षा कर पाएँगे।” पृ. 59

अब हमारे सामने प्रश्न यह खड़ा होता है कि किस तरह अपनी सभ्यता, संस्कृति को उबारें? किस तरह उसके हीनताबोध को कम करें? इसका सबसे आसान और स्पष्ट जवाब यही हो सकता है कि अपने साहित्य के महत्त्व को समझें उसे वैश्वीकरण की चकाचौंध के कारण उपेक्षित न करें। भारतीय साहित्य का उद्धार तभी सम्भव हो सकता है जब हम इसकी अस्मिता को न भूलकर नये साहित्य और संस्कृति का दोनों हाथ फैलाकर स्वागत और अभिनन्दन करें और एक ऐसा साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक तालमेल स्थापित करें जिससे भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति के रूप में दुनिया भर के देशों के सीने में अपनी सभ्यता की अमिट छाप छोड़े सकें।

‘साहित्य और वैश्वीकरण’ नामक लेख के माध्यम से लेखक ने उपभोक्तावाद के नंगेपन को पाठकों के सामने उजागर करने का का प्रयास किया है, “जिसके चलते प्रकृति के साथ हमारे सहज सार्मजस्यपूर्ण सम्बन्ध नहीं रह गए है और उसके दुष्परिणाम भी बाढ़, भूस्खलन, अकाल के रूप में हमें देखने को मिल रहे हैं, क्योंकि हमारे द्वारा प्राकृतिक संसाधन का भरपूर दोहन किया जा रहा है, जिससे उसका सन्तुलन नष्ट हो रहा है, ऋतु चक्र—परिवर्तित हो रहा है। यह विकास का हमारा कैसा मॉडल है कि गरीब और गरीब होता जा रहा है, जबकि एक नवधनाद्वय वर्ग ऐसा है, जिसकी पूँजी निरन्तर बढ़ती जा रही है।” पृ. 60

‘साहित्य और वैश्वीकरण’ शीर्षक लेख के माध्यम से लेखक ने समकालीन राजनैतिक सरकार जिसका उद्देश्य विकास का मॉडल तैयार करना है, के सामने देश के फटेहाल गरीबों की सामाजिक और आर्थिक दशा का प्रश्न उठाते हुए योजनाएँ बनाने वाली सरकार से जवाब माँगा है कि गरीब रात-दिन खटकर भी अपनी आर्थिक स्थिति नहीं सुधार सकते, अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते उनके लिए सरकार के पास विकास का कौन-सा मॉडल है? गरीबी दूर करने के लिए सरकार ने क्या प्रयास किया है? भारत की गरीबी तथा सरकार की नाकामयाबी का कच्चा चिट्ठा अपने इस लेखके माध्यम से खोलने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास लेखक ने किया है। वैश्वीकरण और भूमण्डलीकरण को केन्द्र में रखकर लेखक ने कई लेखों को पुस्तक में स्थान दिया है—‘वैश्वीकरण और हिन्दी’, ‘साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण के दौर में रचनाकर्म’, ‘साहित्य और वैश्वीकरण’ लेखक ने अपने इन लेखों के माध्यम से यह विश्लेषित करने की कोशिश की है कि भूमण्डलीकरण किस तरह हमारे साहित्य को, हमारी भाषाओं के साथ-साथ हमारे रचनाकर्म को प्रभावित कर रहा है, जिससे हमारी हिन्दी की तरह तमाम भाषाओं और संस्कृतियों पर आफत के काले बादल मँडरा रहे हैं। इन सब चिन्ताओं को सबके सामने लाने तथा उक्त शीर्षक के माध्यम से अपने महत्त्वपूर्ण विचारों को पाठकों तक पहुँचाने के लिए इस शीर्षक को विषय बनाकर अपनी बातों को रखने का प्रयास किया है।

विमर्श खण्ड में ‘भारतीय साहित्य’; संस्कृति एवं हिन्दी भाषा’ लेख सबसे बड़ा लेख है, जिसमें भारतीय साहित्य से सम्बन्धित कुछ बुनियादी बातों पर लेखक ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है। इस लेख में भारतीय साहित्य की अवधारणा पर लेखक ने प्रकाश डाला है, साथ-साथ ‘भारतीय साहित्य’ क्या है और उसे समझने का सूत्र क्या है जैसे प्रश्नों पर विभिन्न विद्वानों के विचारों के माध्यम से बात स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। एक इकाई के रूप में ‘भारतीय

साहित्य' की संकल्पना क्या हो सकती है? क्या भारतीय भाषाओं में विभिन्न कालखण्डों में रचित साहित्य में किसी समान अन्तर्वर्ती धारा की खोज की जा सकती है? इन सब प्रश्नों पर लेखक विद्वानों के मतों के सामने रखकर सोदाहरण अपनी बात पुष्ट करते हैं।

विमर्श खण्ड के अन्तर्गत ब्रजेन्द्र त्रिपाठी जी ने एक और महत्वपूर्ण लेख को स्थान दिया है, जिसका शीर्षक प्रशिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में कविता के नए प्रतिमान लेख के माध्यम से री नागेश्वर लाल कहते हैं "इस प्रश्न का अब सही ढंग से उठाया जा रहा है। नई कविता के प्रतिमानों के बदले कविता के नए प्रतिमानों पर विचार कराना अधिक अर्थपूर्ण है, पर जब-जब कविता बदलती है, उसके प्रतिमान भी बदलते हैं, पर यह नहीं कि नए प्रतिमान अभी-अभी बनी कविता के लिए ही होते हैं। वस्तुतः वे कविता के समग्र रिक्त के लिए होते हैं, उनके आधार पर नया युग अपनी कविता का मूल्यांकन करता ही है, पूर्वजों की कविता का भी फिर से मूल्यांकन करता है और इस तरह उसे नए सन्दर्भ में अंगीकृत करता है।" 'कविता के बुनियादी प्रतिमान' नामक अपने लेख के माध्यम से इस बात को लेखक पुष्ट करने के साथ कविता के प्रतिमान सम्बन्धी गुल्थी को सुलझाने का भी प्रयास किया है। कविता एक ऐसी विधा है जिसे किसी एक बने बनाए ढाँचे में नहीं रखा जा सकता। यह एक चेतन मनुष्य की मानस निर्मिति है, यही कारण है कि जब कभी कोई कवि किसी बने बनाए प्रतिमानों के धरातल पर कविता करता है तो कविता अपने प्रभाव को खाती हुई जान पड़ती है क्योंकि भाषा के साथ प्रतिमानों को बदलना पड़ता है। परन्तु कभी-कभी यह देखने को मिलता है कि नई कविता की आलोचना में प्रायः पुराने प्रतिमानों का प्रयोग किया जाता है, इसकी जाँच करने पर मालूम होगा कि जिसे हम 'पुराने प्रतिमान' कहते हैं, वे वस्तुतः पुराने 'संस्कार' हैं जिसे तोड़ना कठिन है, लेकिन हाथ पर हाथ रखकर बैठने के बजाए यह जरूरी है कि इन संस्कारों को तोड़ा जाए ताकि कविता एक बने बनाए साँचे से बाहर निकल सके और उसका वास्तविक मूल्यांकन किया जा सके। "अच्छी सुख दुःख चित्रित भी हो तो ऐसे कि वह सबका दुःख बन जाए।" पृ.67

कविता के बुनियादी प्रतिमानों पर बात करते हुए अपनी बातों को उदाहरण से पुष्ट करने के लिए काव्यशास्त्र का सहारा लिया गया है और काव्य प्रयोजन को महत्व दिया गया है ताकि कविता के प्रयोजन को देखते हुए बुनियादी प्रतिमानों का चयन आसानी से किया जा सके। कविता अभिव्यक्ति का माध्यम है, हरेक कवि अपनी कविता के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता है, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि वह नितान्त वैयक्तिक सुख-दुःख की अभिव्यक्ति करता है। बहुत-सी विभिन्नताओं के बावजूद एक न एक स्तर पर वह दूसरे के साथ संवेदना का अनुभव भी करता है, इसलिए कविता कवि की निजी अनुभूतियों या भावनाओं का रूपायन नहीं होती। लेखक ने बुनियादी प्रतिमानों तथा उसके बदलते रूप को स्पष्ट करने के लिए भरतमुनि से परम्परा को शुरू कर निराला, पन्त तक अपनी काव्य यात्रा अपने इस लेख के माध्यम से की है और इस यात्रा में अपनी बातों को प्रबल उदारण के द्वारा स्पष्ट करने की कोशिश भी की है। ब्रजेन्द्र जी का यह लेख पाठकों की उम्मीदों पर खड़ा नहीं उतरता, क्योंकि यह पाठकों के अन्दर प्रतिमानों को समझने और विकसित करने की खास समझ पैदा करने में असमर्थ-सा प्रतीत होता है। नये पाठकों को इस लेख के माध्यम से प्रतिमानों को समझने में दिक्कत का सामना करना पड़ सकता है, यह लेख उन पाठकों के लिए है जिन्हें प्रतिमानों की माटी-मोटी समझ हो वहीं इस लेख में आनन्द की अनुभूति कर सकता है। इस खण्ड में समकालीन हिन्दी कहानी', 'हिन्दी कविता में स्त्री स्वर' आदि महत्वपूर्ण विषयों पर लेखों को पुस्तक में शामिल किया गया है

जिसके माध्यम से स्त्रियों द्वारा रचित कविताओं में बदलती हुई स्त्री अस्मिता, उनके सरोकार और गड़न संवेदनाओं का एक अनूठा जीवन्त जगत आकार लेता है। वह पुरुष समाज में अपनी वास्तविक स्थिति को पहचानकर कही सीधे तो कही प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रही है। स्त्री मुक्ति को विषय बनाकर तमाम भारतीय भाषाओं में कविताएँ, कहानियाँ और उपन्यासों की रचना हो रही है, जो सामान्य बोलचाल में होते हुए भी पाठकों तक अपना प्रभाव छोड़ रही। हिन्दी कविता में स्त्री मुक्ति के विषय पर लेख पाठकों से सीधे-सीधे वार्तालाप करता है और स्त्री पराधीनता के बुनियादी सवालों को समझने में मदद भी करता है। साहित्य को उनकी रचनात्मक भेंट के कारण मिली समृद्धि को दुनिया के सामने लाना ताकि उनके साहित्य का सही मूल्यांकन किया जा सके। 'अवदान' खण्ड के अन्तर्गत कवि, लेखक, आलोचक सभी को शामिल किया गया है जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से साहित्य को समृद्ध बनाने में अपना योगदान दिया है। हिन्दी साहित्य के कवियों और लेखकों में गोपाल सिंह 'नेपाली, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, केदारनाथ अग्रवाल और भुवनेश्वर को शामिल किया गया है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा के रचनात्मक अवदान को याद करते हुए पुस्तक में 'रामविलास शर्मा के रचनात्मक अवदान को याद करते हुए पुस्तक में 'रामविलास शर्मा: भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के अध्येता' नामक लेख को शामिल किया गया है ताकि हिन्दी समाज उनका पुनः सम्यक मूल्यांकन कर सके।

इस पुस्तक की सबसे अच्छी बात यह है कि इसमें किसी एक भाषा के साहित्य को महत्त्व देकर अन्य भाषाएँ जैसे मैथिली, नेपाली, असमिया, संताली आदि भाषाओं के साहित्य को भी महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनके साहित्यिक अवदान को महत्त्व दिया गया है। इस खण्ड में हिन्दी साहित्य के कवि, लेखक जिसमें गोपाल सिंह 'नेपाली' केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, अज्ञेय के अलावा मैथिली के प्रख्यात लेखक हरिमोहन झा, असमिया लेखिका इन्दिरा गोस्वामी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन किया गया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए कला अलग-अलग नहीं है, कला तथा जीवन को अलग करके देखने में उनका विश्वास नहीं था बल्कि उन्हें अविच्छिन्न मानना ज्यादा पसन्द करते थे। कवि कर्म पर विचार करते हुए उन्होंने एक जगह कहा भी है, "ऐसे ही कवि को मनुष्य बड़ा कहता है, जो ऐसे सब विषयों से मनुष्य के चित को तोड़ता है, जिसमें नित्यता है, महिमा है, मुक्ति है, जो व्यापक और गहरे हैं। देश-देश में कला-कला में कला और साहित्य के भण्डार में मनुष्य के अनुराग की संपदा रचित और संचित हो रही है। इस विशाल संसार में देश के मनुष्य विशेष रूप से किस चीज़ का को प्यार करते हैं यह उनका साहित्य देखते ही हमारे समझ में आ जाता है। इस प्यार के द्वारा ही तो मनुष्य के बारे में विचार किया जा सकता है।" पृ. 99

पुस्तक में 'रवीन्द्रनाथ का काव्य' महज़ छः पृष्ठों का लेख है फिर भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य के समझने में यह लेख महत्त्वपूर्ण नायिक विभाता है। इस लेख में रवीन्द्रनाथ को प्रकृति के समानात्तर रवीन्द्रनाथ की बहुत सारी कविताओं के मूल में विश्व बन्धुत्व, मानवता है। जिस पर खड़ी रह उनको कविता सामान्यजन को अपना नायक चुनती है। हमे यह याद रखना होगा कि टूटने के दिनों में किस तरह इन गीतों ने जनसामान्य को सबल दिया, प्रेम के क्षणों में कैसे उन्हें आह्लादित किया और उनकी अन्तर में एक भावलोक की निर्मिति भी की जिसे देखने का प्रयास लेखक ने अपने लेख के माध्यम से किया है।

मैथिली साहित्य में अपनी पहचान बनाने वाले हरिमोहन झा तथा उनके साहित्य को केन्द्र में रखते हुए लेखक ने एक परिचयात्मक लेख हरिमोहन झा के साहित्य पर लिखा है जिसमें

उन्होंने झा जी के उपन्यासों, कहानियों, नाटकों के माध्यम से तीखे व्यंग्य की चर्चा की है। 'अवदान' नामक इस खण्ड में 'अज्ञेय का प्रकृति काव्य', 'भवानी प्रसाद मिश्र: एक मुकम्मल कवि', 'गोपाल सिंह 'नेपाली' 'आमजन' के कवि', 'केदारनाथ अग्रवाल की कविता: सौन्दर्य और संघर्ष की परम्परा', 'भुवनेश्वर: सम्यक् मूल्यांकन की जरूरत' आदि महत्त्वपूर्ण लेखों को पुस्तक में शामिल किया गया है जिससे लेखकों, कवियों के साहित्यिक अवदान का न्यायापूर्ण विश्लेषण करना सम्भव हो सके। भवानीप्रसाद मिश्र पर केन्द्रित लेख 'भवानी प्रसाद मिश्र: एक मुकम्मल कवि' के माध्यम से भवानी जी के प्रति लेखक के गहन लगाव का पता चलता है, जो उनके लेख में आसानी से देखा जा सकता है। लेख की शुरुआत भवानी जी की कविता से होती है। उनकी कविताओं में एक अंतः सूत्रता मिलती है, जो उन्हें अपनी बातों को निर्भयता के साथ रखने को प्रेरित भी करती है जिससे निःसंकोची स्वभाव उनकी कविताओं में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। भवानी प्रसाद के लिए कविता का प्रतिमान क्या है? या यूँ कहें कि कविताओं से उनकी अपेक्षाएँ क्या है? आदि प्रश्नों को माध्यम बनाकर लेखक ने भवानी प्रसाद मिश्र के कविकर्म की चर्चा अपने लेख के माध्यम से की है, "मैं चाहता हूँ कविता तरल, सरल और प्रांजल हो। उसमें मानवता का भाव हो। वह दुरूह और प्रचारात्मक न हो। उसमें कवि के विचार हवा में न हों, बल्कि उसकी आत्मा के स्वर गुँथे हों।" एक ऐसे कवि को उनकी जन्मशती पर याद करना, जिसने सचमुच कवितामय जीवन जिया, अत्यन्त प्रासंगिक जान पड़ता है। अपने स्वभाव और प्रकृति के कारण 'विमर्श' और 'अवदान' खण्ड में समाहित न हो सके, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि इन लेखों का सम्बन्ध साहित्य से नहीं है, लेखक ने इनकी प्रवृत्तियों के कारण इन्हें अलग खण्ड में स्थान दिया है। आठ लेखों से बना 'विविध' खण्ड अपनी रचनात्मक विविधता के कारण पुस्तक में अपनी एक अलग पहचान बनाए हुए है। जिसके अन्तर्गत 'हिन्दी ग़ज़ल का विकास', 'संताली: भाषा एवं साहित्य', 'समकालीन भारतीय रंगमंच', 'वात्सलनिधि शिविर: कुछ स्मृतियाँ', 'यात्रा जीवन को समझने का उपक्रम' आदि महत्त्वपूर्ण लेखों को समाहित किया गया है।

'हिन्दी ग़ज़ल का विकास' तीसरे खण्ड का चौथा लेख है। जिसमें ग़ज़ल के उद्भव विकास की चर्चा करते हुए ग़ज़ल परम्परा के परस्पर विकास को दिखाया गया है। यदि हम हिन्दी ग़ज़ल की बात करें तो दुष्यन्त कुमार के बाद हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में ऐसे कई कवि सृजनरत हैं जिनकी ग़ज़लें काव्य और शिल्प दोनों ही कसौटियों पर खड़ी उतरती हैं, लेकिन ढेर सारी ऐसी भी ग़ज़लें कही जा रही हैं जो शिल्पगत न्यूनता का शिकार हैं। इससे ग़ज़ल का मौलिक स्वरूप उभरकर सामने नहीं आ पाता। हिन्दी ग़ज़ल ने अपने आयामों को काफी विस्तार दिया है और इसे समृद्धि प्रदान करने की कोशिश की है। शिल्पगत दृष्टि से आज हिन्दी ग़ज़ल में एक अराजकता की-सी स्थिति भी दिखाई पड़ती है। इसके उद्धार के लिए इसे एक चुनौती के रूप में देखना आवश्यक हो जाता है। अपने एक अलग लेख में लोग प्रचलित महानायक श्रीकृष्ण को लोकगीत में खोजने का प्रयास अवधी और भोजपुरी लोकगीतों के माध्यम से किया है। ब्रज साहित्य में गोपियों के साथ कृष्ण की छेड़छाड़ का वर्णन खूब हुआ है, लेकिन अवधी लोकगीत भी इससे अछूता नहीं है इसकी एक झलक देखी जा सकती है।

तुम्हारे तो गिरधर बन बन घूँमै धरै मुँह मां मुरली।

भुज गोरी पकरै चौरू मोर फारै फोरि डारत गगरी॥

लोक में आकर कृष्ण आमजन की तरह हो जाते हैं। उनका सामान्य जीवन के साथ एकात्म्य है। 'पशु पक्षी, नदी-पर्वत, घास-फूस सभी के साथ एकात्म्य है। यहाँ कृष्ण की

परिकल्पना प्रतीक के रूप में लोकगीतों में कृष्ण को एक सामान्य जन के रूप में चित्रित किया गया है। सामान्यजन की भाँति अपने दैनिक कार्यों को स्वयं करते हैं और लोकनायकत्व का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं।

पुस्तक का अंतिम लेख 'समकालीन भारतीय रंगमंच' पर केन्द्रित है। 'विविध' खण्ड में शामिल यह लेख अपनी विषय गम्भीरता के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस लेख के माध्यम से आधुनिक भारतीय रंगमंच पर चर्चा करते हुए लेखक ने कुछ बुनियादी सवालों को उठाया है इसके अंतगत आधुनिक भारतीय रंगमंच की दशा और दिशा क्या हैं? उसकी समस्याएँ क्या हैं? उनकी उपलब्धिया क्या हैं? आदि प्रश्नों का उत्तर इस लेख के माध्यम से खोजने की कोशिश लेखक द्वारा की गई है। जिस तरह आज बंबइया फिल्में और टेलीविज़न के विविध चैनलों के आने वाले कार्यक्रमों ने दर्शकों की रुचि को विकृत करने का प्रयास किया है, जिससे समकालीन भारतीय रंगमंच पर आज कई तरह के दबाव साफ-साफ दिख रहे हैं। अर्थपूर्ण रंगकर्म के समक्ष एक बड़ी चुनौती धन की भी है। रंगकर्म की ऐसी आर्थिक व्यवस्था के कारण केवल रंगमंच के भरोसे ही अपना जीवन बिता देना सम्भव नहीं इसलिए हमारे अभिनेता जो रंगमंच पर अपनी प्रस्तुति देते हैं का दिमाग एक काम में नहीं लगा रहता। आर्थिक तंगी के कारण रंगमंच के अलावा कुछ और काम करके अपने और अपने बच्चों का पेट पालते हैं। हमारे यहाँ संस्कृत का इतना बड़ा नाट्य भण्डार है कि वह पश्चिम के मुकाबले पूरी शक्ति से खड़ा हो सकता है। लेकिन आज पश्चिम के प्रभाव में संस्कृत के शक्ति रंगकर्म की कुछ ऐसी छवि हमारे मानस में बनी है कि वह यान्त्रिक और कुछ निश्चित विचारों पर सूत्रबद्ध है, वहाँ सबकुछ पहले से ही निर्धारित और अभिजात्य में बँधा है। आज भूमण्डलीकरण की चर्चा पूरे देश में है। इसी के कारण पूँजीवादी बाजार का प्रसार पूरे विश्व में किया जा रहा है जो मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दे रहा है उसे उपभोक्ता में बदल रहा है। हमारे अन्दर औपनिवेशिकता या गुलामी की छाया व्याप्त हो रही है। इससे मुक्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब हम अपनी जड़ों की तरफ लौट कर मुक्ति की कल्पना करें, बिना इसके मुक्ति सम्भव नहीं है। "रंगमंच की शक्ति यह रही है कि वह स्वयं से भी प्रश्न करता है और समाज में कई भूमिकाएँ अदा करता है। रंगमंच हमेशा अल्पसंख्यक रहा है और इसका संघर्ष बहुसंख्यक होता है" पृ. 208

लेखक ने इस लेख के माध्यम से रंगमंच से जुड़ी समकालीन चुनौतियों को सामने लाने का प्रयास किया है।

साहित्य और परिवेश/ब्रजेन्द्र त्रिपाठी/यश पब्लिकेशन/प्रथम संस्करण : 2013/मूल्य : ₹ 495

संपर्क : शोध छात्र, हिन्दी विभाग, बी. एच. यू. वाराणसी, मो. 08090613455

निर्वासन : समय समाज और भावनाओं की बेदखली का आख्यान

अरुणेश शुक्ल

कस्बाई यथार्थ की सूक्ष्म पकड़ और कस्बे से शहर के बीच संक्रमण की ठीक समझ के साथ किस्सागोई का अद्भुत मेल अखिलेश के लेखन को विशिष्ट बनाता है। पिछले कुछ वर्ष भारतीय राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था के लिए काफी उथल-पुथल भरे रहे हैं। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में परिवर्तन की गति इतनी तीव्र मारक व हिंसक रही है गाँव, कस्बे, परिवार, शहर सहित सभी संरचनाएँ इससे बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। समाज में हिंसा, उन्माद, नफरत में बढ़ोत्तरी हुई है तो राजनीति में साम्प्रदायिक शक्तियाँ अब सत्ता के केन्द्र में हैं। पूंजी, राज्य, धर्म व जाति के पारस्परिक गठजोड़ ने पारम्परिक भारतीय समरस सामाजिक संरचना को छिन्न-भिन्न करके रख दिया है। इस गति आधारित हिंसक व्यवस्था में ऐसी तमाम चीजों की बेदखली तय है जो गति के साथ तालमेल नहीं बना पातीं या अपने जातीय प्रतिरोधी चरित्र की वजह से इस हिंसक व मनुष्य विरोधी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करतीं। मसलन शब्द, भावनाएँ, सामाजिक समरसता, पारम्परिक किस्सागोई, मनोरंजन के पारम्परिक तरीके व साधन आदि ऐसी तमाम चीजें हैं जिनकी 'बेदखली' ही इस व्यवस्था में उनकी नियति है। यह बेदखली अथवा निर्वासन या विस्थापन हमारे समय का सबसे परेशान करने वाला क्रूर सच है। इस बेदखली अथवा विस्थापन के कई स्तर व रूप हैं। यह इतने स्तरों पर विभिन्न रूपों में घटित होती है, कि रोजमर्रा के जीवन में हम यह जान ही नहीं पाते कि अमुक चीज कब हमारे जीवन समय व समाज से बेदखल कर दी जाती है। कई बार तो हम इनके होने के बावजूद इनके अस्तित्व से ही नावाकिफ हो जाते हैं। दरअसल इस बेदखली, निर्वासन अथवा विस्थापन के पीछे एक पूरा तंत्र है जो अमरीका से लेकर भारत तक समान रूप से सक्रिय है। इस बेदखली की एक ऐतिहासिक अवस्थिति भी है। साथ-साथ एक पोलिटिकल इकोनामी भी है। अखिलेश का उपन्यास 'निर्वासन' इस बेदखली के तमाम रूपों को चित्रित करता हुआ, बेदखली के कारणों, उसके पीछे काम कर रहे पूरे तंत्र, उसके इतिहास के साथ-साथ उसकी पोलिटिकल इकोनामी को हमारे सामने खोलता है। भारतीय समाज

किस तरह से इस पूरे चक्र में पिसकर बदल रहा है, संवेदनहीन हो रहा है, प्रतिरोध के स्तर कहाँ है, यदि नहीं है तो क्यों, उनका क्या हथ हुआ, युवाओं की क्या स्थिति है वर्तमान को लेकर उनके मन में किस तरह की उठापटक है द्वन्द्व है, युवा इन सामाजिक परिवर्तनों को किस तरह ले रहा है आदि तमाम बातें भी इस उपन्यास के केन्द्र में हैं। बहरहाल! किसी भी लेखक के लिए यह जरूरी होता है कि वह किस समस्या को केन्द्र में रखकर लिख रहा है उसके कारणों की पड़ताल वह इतिहास में भी जाकर करे ताकि वर्तमान को ठीक से समझा जा सके व भविष्य के बारे में सटीक तौर पर कोई अनुमान व्यक्त किया जा सके। 'निर्वासन' के रूप में समय, समाज और भावनाओं की बेदखली का आख्यान लिखते हुए अखिलेश पूर्वोक्त पद्धति का प्रयोग करते हैं। दरअसल वह उपन्यास के शुरुआती वाक्यों में ही यह बता देते हैं कि बेदखली, या निर्वासन की जड़ें अतीत से जुड़ी हुई हैं। वह लिखते हैं, दायें गलफड़े में उभर आया वह नन्हा सा हाला था। हलाकि सूर्यकांत के दाएँ गलफड़े में प्रकट होकर वह लौट गया था। वह कुछ ही दिन दिखा था और फिर अदृश्य हो गया था लेकिन उसके गमन के भी पदचिह्नों में इतनी ताकत हिंसा और किलेबंदी थी कि सूर्यकांत सुख शांति की दिशा में कदम बढ़ाता, लड़खड़ा कर लुढ़क पड़ता था। इन कुछ वाक्यों में अखिलेश ने विस्थापन या निर्वासन के ऐतिहासिक कारणों की तरफ संकेत तो किया ही है, साथ ही साथ इन वाक्यों में इतना स्पेस भी छोड़ते चले हैं कि हम जैसे-जैसे उपन्यास पढ़ते जाते हैं जैसे-जैसे यह वाक्य अपनी पूरी व्याप्ति में हमारे सामने खुलते जाते हैं। इन वाक्यों में अखिलेश ने टाइम और स्पेस का अतिक्रमण कर इन्हें सार्वकालिक बनाया है। अर्थात् इन वाक्यों में इतिहास वर्तमान व भविष्य तीनों एक साथ मौजूद हैं। दरअसल उपन्यास में भगेलू पांडेय (प्रजापति) निर्वासित होने वाले पहले व्यक्ति हैं जो उस समय गिरमिटिया मजदूर के रूप में सूरीनाम गये थे जब गोसाईगंज (अवध) में भयानक अकाल पड़ा था। यानी 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद। कहने की जरूरत नहीं अंग्रेजी राज में जो निर्वासन या विस्थापन प्रारम्भ हुआ था वह अंग्रेजी राज खत्म हो जाने के बाद आज भी जारी है। जारी क्या अब यह ज्यादा व्यापक व वृहत् स्तर पर हो रहा है। इतना व्यापक वृहत् टे यह कि जहाँ पहले विस्थापन परदेस में होता था वहीं अब यह देश में, समाज, परिवार व व्यक्ति के भीतर हो रहा है। बाजार के जबड़े ज्यादा कसे व भिंचे हुए है आज। इतना ही नहीं अखिलेश के पूर्वोक्त वाक्य में हाले का दाएँ गलफड़े में प्रकट होना भी बहुत सारगर्भित है। दरअसल उपनिवेशवादी पूंजीवादी मानसिकता का गठजोड़ दक्षिणपंथी ताकतों के साथ अनिवार्यतः होता है। अंग्रेजी राज के चले जाने के बाद भी उसकी हिंसक किलेबंदी..... हमें बाजार के बढ़ते वर्चस्व, साम्प्रदायिक ताकतों के उभार के रूप में स्पष्ट दिख रही है। दक्षिणपंथी सत्ता एफ.डी.आई के नाम पर बाजार के स्वागत के लिए बाहें फैलाये खड़ी है। मुजफ्फरनगर, मेरठ में चाहे जो हो विदेशनीति पर ज्यादा ध्यान जरूरी जो है।

उपन्यास के प्रारंभ में संपूर्णानंद वृहस्पति हैं। वृहस्पति पुनरुत्थानवादी हैं। उन्होंने साठ वर्षों में तैंतीस पुस्तिकायें लिखकर महान हिन्दू धर्म के बारे में तमाम बातें प्रतिपादित की थीं। जैसे-पाँच सौ मस्जिदों के मूल रूप में हिन्दू मन्दिर होने का सिद्धांत या कि राम का धनुष, कृष्ण का सुदर्शन चक्र या काली देवी के खंजर के आज भी इस देश में एक स्थान पर मौजूद होने का सिद्धान्त जिसे वे जल्द ही विश्व के दर्शनार्थ प्रस्तुत करने वाले थे। प्रतिभा यह कि तमाम महान विचार इन्हें शौच के समय ही आते थे (वैसे इन विचारों की असली जगह भी वही ही है)। सरकार पक्ष हो या विपक्ष की इनकी महत्ता हमेशा बनी रहती थी। वैसे भी अब जिसने 1440 नवरात्र रखकर नब्बे वर्षों की अखंड साधना से देवी माँ को साधा हो उसका इतना प्रतिभावान

होना अचरज की बात नहीं है। भगवान और बाजार की निकृष्टता व मनुष्य विरोध के प्रतीक गुटखे से इनके व्यक्तित्व को आसानी से समझा जा सकता है। 1857 के मुक्ति संग्राम के 150 वीं वर्षगांठ पर पिछली सरकार द्वारा प्रस्तावित मुक्ति पथयोजना जिसके तहत जिस रास्ते से विद्रोही आगे बढ़े थे उन्हें जोड़कर एक कॉरीडोर का निर्माण कर पर्यटन स्थल के रूप में विकसित करने, संग्रहालय व थीम पार्क बनवाये जाने थे के ये प्रबल विरोधी थे। वृहस्पति (देवगुरु की तरह धूर्त) ने इस योजना को निरस्त कर दूसरी योजना का प्रस्ताव बनाने को कहा। वैसे तो यह हिन्दू राष्ट्र के समर्थक थे इसलिए मूल दिक्कत इनको मुसलमानों से थी क्योंकि 1857 की लड़ाई हिंदू मुस्लिम एकता का प्रतीक भी है। इसलिए वह इन्हें स्वीकार कैसे हो सकती थी। फिर भी चूंकि यह 2007 के वृहस्पति हैं यानी आधुनिक समय के इसलिए इन्होंने मुक्ति पथ योजना का विरोध तर्कों के आधार पर किया जिसमें इन्होंने मुक्ति पथ योजना के कारण गोरे पर्यटकों के न आने बच्चे, युवा स्त्रियों की रुचि इतिहास में खत्म होने व समय के साथ 1857 को लेकर उत्साह धूमिल पड़ने व बाद में 1857 को ही देश द्वारा भुला दिये जाने का तर्क रखा। इतना ही नहीं 14000 करोड़ वा सतयुग वापसी का ऐसा प्रोजेक्ट तैयार किया जो सभी हिन्दू धार्मिक स्थलों को जोड़ने वाला और अपने मूल स्वरूप में हिन्दू धर्म की आज के समय के हिसाब से मार्केटिंग वाला था। वह एक ऐसा क्षेत्र बसाना चाहते थे जहाँ हनीमून, ऋषि-मुनि, सुरा, संगीत, ब्राह्मण, शूद्र सब हों। वर्णाश्रम का पावन भी हों। नगरवधुएं हों, दक्ष शिल्पी हों, अन्तः पुर हो। ऐसे पर्यटक केन्द्र हों जहाँ स्त्रियां अपने पतियों से रतिक्रिया के बाद गर्भवती हों और महान धार्मिक वातावरण में जन्म लेने वाली संतान अत्यंत बलवान, वीर्यवान और तेजस्वी तो होगी ही। सूर्यकांत उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता और उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ता है। बहरलाल! हम आगे बढ़ें और उपन्यास के तमाम कथातंतुओं व विमर्शों को मिलाकर देखने की कोशिश करें उससे पहले यह समझ लेना जरूरी है कि सम्पूर्णानंद वृहस्पति के चरित्र के माध्यम से या कि उपन्यास के शुरुआती अध्याय के द्वारा ही अखिलेश क्या स्पष्ट करना चाहते हैं। वस्तुतः पहला अध्याय हमारे सामने आज की प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक शक्तियों के एजेण्डे को स्पष्ट करता है। उसकी पोलिटिकल इकोनामी को अनावृत्त करता है। चार सौ पचीस करोड़ की जगह चौदह हजार करोड़ रुपये खर्च करने के तर्क (पी.पी.पी. मॉडल द्वारा) से ही यह तय होता है कि राष्ट्र की दशा व दिशा क्या हो रही है। वर्तमान राजनीतिक अर्थशास्त्र देश को अनिवार्यतः श्मशान व बदहाली में ही ले जायेगा जैसा कि अंत में सूर्यकांत वृहस्पति से कहता है कि सर उसके लिए तो देश में अकाल लाना होगा श्मशान में बदलना पड़ेगा। हालांकि उपन्यास में अखिलेश निष्कर्ष देने से बचे हैं किन्तु भविष्य क्या होगा इसको उपन्यास की शुरुआत में ही स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है।

नौकरी जाने के बाद सूर्यकांत की मुलाकात रामअजोर पांडे से होती है। यह रामअजोर पांडे उन्हीं भगेलू पांडे के पोते हैं जो गिरमिटिया मजदूर बनकर सूरीनाम चले गये थे। अब रामअजोर पांडे भारत पुरखों को खोजने आते हैं। उन्हें सिर्फ 'गोसाईगंज' गांव का नाम पता है। वह अपने सम्बन्धियों को खोजने का जिम्मा सूर्यकांत को देते हैं। सूर्यकांत द्वारा रामअजोर पांडे के परिजनों को खोजने के क्रम में ही यह उपन्यास विस्तारित होता है और अपने भीतर तमाम समाजार्थिक, राजनैतिक विमर्शों व परिवर्तनों को समेटता है। इस उपन्यास की बड़ी ताकत इसका वितान है। यह समाज में हो रहे प्रत्येक परिवर्तन को बहुत ही बारीकी से नोट करता है। उपन्यास में अखिलेश गाँव, कस्बों, शहरों में हो रहे परिवर्तन को तो लक्षित करते ही हैं किन्तु वह विकास के उस छद्म...को ज्यादा बारीकी से उद्घाटित करते हैं जो विकास के नाम पर गढ़ा

जा रहा है। विकास का सच यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर 'डर पशु अपनी अयालें हिला रहा है।' सुबह घर से निकलने के बाद शाम को सकुशल घर पहुँचने पर ही वह चैन की सांस लेता है कि आज जीवित बच गया। परिवर्तन या विकास हुआ है गाँवों में भी। अब गाँव पहले जैसे नहीं रहे गौरी कहती है वहाँ भी बहुत सारे मकान होते हैं। लेकिन विकास का सच यह है कि वहाँ भी एक घर को कई सारे मकान छुपा देते हैं या कभी-2 एक बड़ा सा मकान कई सारे घरों को छुपा देता है। वहाँ कई घरों में रोशनी होती है कई घरों में नहीं। बाजार की पैठ इतनी कि टेलीविजन आदि से अकेलापन बढ़ा है। सामूहिकता नष्ट हुई है। अखिलेश 'डाकू आया' के प्रसंग से यह बताते हैं कि किस तरह से यथार्थ को छाया यथार्थ ने विस्थापित कर दिया है। यथार्थ की जगह अब छाया यथार्थ ही यथार्थ हो गया है। विकास के नाम पर बाजार के लिए स्पेस तैयार किया जा रहा है। लाइट कटौती कर इनवर्टर का बड़ा बाजार ही तो बनाया जा रहा है। हालत यह है कि हमारी सोच में भी रोमांस व प्रेम की जगह डर व असुरक्षा बोध ही आता है। पारम्परिक आकाशदीप तो चाइनीज आकाशदीप से कब के विस्थापित हो चुके हैं। सब तरफ आर्थिक असमानता को देखा जा सकता है चाहे वह गाँव हो या शहर। विकास यह खास वर्ग के लिए ही है। व्यवस्था चूँकि गति आधारित है इसलिए हमें इससे तालमेल बिठाने हेतु गतिशील होना पड़ता है। यह गतिशीलता अकेलेपन व अपरिचय को बढ़ाती है। गतिशीलता की वाहक संचार क्रांति ने हमारे भीतर के डर को और बढ़ा दिया है। सूर्यकांत उपन्यास में सोचता है : 'हम अपनी रफ्तार के चलते अपने आस-पास से वंचित रहते हैं। बहुत पैनी निगाह से अखिलेश बाजार की चालों का विश्लेषण करते हैं। वह लिखते हैं, "उसके मन में उठा : मन्तों और मौत। शायद इस संसार का तम्बू इन्हीं दो होरों पर टंगा हुआ है। मन्तों रक्तबीज की तरह होती हैं। एक के पूरी होने पर अनेक जन्म लेती है और मृत्यु ही उनकी उर्वरता का समापन कर पाती है।" दरअसल बाजार इन्हीं मन्तों/इच्छाओं को उभारता है। वह विवेक की जगह इच्छा को केन्द्र में लाता है और मनुष्य को एक मशीनी उपभोक्ता में तब्दील कर देता है और जाहिर तौर पर उपभोग की ललक मृत्यु के साथ ही समाप्त होती है। वैसे भी बाजार यह बताता है कि जो लोग खरीद नहीं सकते उनका जीना किसी काम का नहीं है। उन्हें मर जाना चाहिए था आत्महत्या कर लेनी चाहिए। बाजार हत्याएँ करता है। यह एक ऐसा समय है जिसमें सब कुछ बिकाऊ है। हम मोबाइल पर समय खरीदते हैं। विज्ञापन में समय खरीदा जाता है। खाद्य, पानी, समय, दुःख और मृत्यु सब कुछ बिकाऊ है। शव यात्राओं के बीच में विज्ञापन होते हैं। सूर्यकांत के कैंसर को समाचार चैनल बेचना चाहता है। क्रूर व संवेदनहीन समाज व समय के यही सच हैं। अखिलेश इस सच को पूरी शिद्दत से 'निर्वासन' में उभारते हैं। वह यह दिखाते हैं कि मनुष्य व मशीन के बीच फासला लगातार कम होता जा रहा है। 'सूर्यकांत के अलावा सिर्फ कंप्यूटर ही था जो नहीं सोया था और उसके इंटरनेट की सेज पर दुनिया चाकचौबंद, बनी-ठनी, विराजमान थी।' जाहिर तौर पर मशीन की दुनिया झूठी व वर्चुअल है। यह एक ऐसा बाजार है, जहाँ 'खोटे सिक्कों को कोई जांचता नहीं था, अंगीकार कर लेता था।'

सुल्तानपुर शहर के माध्यम से बाजारवाद के कारण हुए परिवर्तन को चित्रित करते हुए अखिलेश लिखते हैं, "दिलचस्प स्थिति थी कि कभी उसे लग रहा था मेरे वक्त का कस्बाई शहर बहुत ज्यादा बदल गया है। और कभी उसे महसूस होता, वह वैसा का वैसा है, जस का तस। गौर करने पर उसने देखा : दुकानों की भरमार हो गई है, सड़कें टूटी-फूटी जिनके दोनों ओर दुकाने ही दुकाने जो बड़े-बड़े शोरूमों से लेकर कोठरियों तक में थीं। दुकानों के सामने ठेले या पट्टरी पर कोई कुछ बेच रहा था। थाह लेने पर पता चला कि शहर मोबाइल कम्पनियों के

विज्ञापनों से रंगा हुआ था। उनके सुंदर रंगीन दैत्याकार विज्ञापन स्कूलों, कचहरी, अस्पताल, डाकखाना, रेलवे स्टेशन, बस अड्डा आदि के सामने आगे-पीछे मुस्कुरा रहे थे। इनको टक्कर देने वाला कोई अन्य पदार्थ पृथ्वी पर था तो वह था शीतल पेय। दोनों एक दूसरे से कम न थे लेकिन दोनों में कोई मुकाबला या जीत-हार का जोश नहीं था। दोनों जैसे एक ही नृत्य संरचना की नृत्यांगनाएँ हों। दोनों एक साथ थिरक-झूम रहे थे।” अर्थात् मार्केट का हर जगह बोलबाला है। किन्तु इन पंक्तियों के आगे जो अखिलेश लिखते हैं वह ज्यादा भयावह सच को व्यक्त करता है। वह लिखते हैं कि “शहर में तहसील, स्कूल और कोतवाली नहीं बदले थे। अर्थात् स्टेट का चरित्र नहीं बदला है। तहसील और कोतवाली के माध्यम से स्टेट अपने पावर व हिंसा का नग्न प्रदर्शन आज ज्यादा क्रूरता से कर रहा है तो स्कूलों के माध्यम से ऐसी पीढ़ी तैयार कर रहा है जो बाजार की ऐजेण्ट हैं। निश्चित तौर पर अखिलेश यहाँ स्टेट व बाजार के मनुष्य विरोधी गठजोड़ को उजागर करते हैं। बाजार यूनीफार्मिटी लाता है। वह विविधता को खत्म करता है। वर्तमान राज्य व्यवस्था भी यही चाहती है। इसी को चित्रित करने हेतु उपन्यास में अखिलेश ने चाची के घर में सभी चीजों का रंग एक जैसा ही दिखाया है। चाची अपनी पूरी संरचना में बाजार की ऐजेण्ट हैं। उस बाजार की जिसने मानवीय सम्बन्धों को सबसे ज्यादा क्षति पहुँचायी है। उपन्यास में जब भी दो लोग बात करते हैं या किसी महत्वपूर्ण विषय पर बातचीत चल रही होती है मोबाईल की घंटी जरूर बजती है। यह भी दर्शाता है कि बेहद निजी मसलों में भी बाजार की पहुँच है व उसका हस्तक्षेप निजी जीवन में किस कदर बढ़ा है। उपन्यास में अखिलेश की निगाह प्रतिरोध के स्पेस के सिकुड़ते जाने व नष्ट होते जाने पर भी है। कामरेड कोमल की दुकान जो एक जमाने में क्रांतिकारियों का अड्डा हुआ करती थी वहाँ अब प्रापर्टी डीलर का आफिस खुल गया है। और एक सरयूपारी ब्राह्मण वहाँ बैठता है। यह तथ्य यह दिखाता है कि मार्केट ने किस तरह से भारतीय पारम्परिक जाति व्यवस्था (खासकर ब्राह्मण तबके से) गठजोड़ कर अपना वर्चस्व कायम किया है और प्रतिरोध के स्पेस को हस्तगत कर उन्हें नष्ट किया है।

निर्वासन में अखिलेश ने कास्ट, क्लास, जेंडर और रिलीजन का एक वृहत् डिस्कोर्स रचा है। यह चारो मुद्दे पूरे उपन्यास में साथ-साथ चलते हैं। कास्ट यानी जाति का मसला उपन्यास में सर्वाधिक केन्द्रीय है। सूर्यकांत रामअजोर के परिजनों का पता लगाने के क्रम में जिस सच तक पहुँचता है वह यह कि रामअजोर के बाबा भगेलू पांडे वास्तव में कुम्हार थे। लेकिन इसका न तो उसके पास कोई प्रमाण है और न ही उपन्यास में इसकी गुंजाइश बनती है कि वह कहीं से प्रमाणित भी हो सकेगा। क्योंकि बाबा ने कभी अपनी जाति के बारे में बताया नहीं और कोई दूसरा उनकी हकीकत जानता था। ऐसे में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि अखिलेश ने ऐसी स्थितियाँ रची ही इसलिए क्योंकि उनके लिए भगेलू की वास्तविक जाति क्या है इससे ज्यादा जरूरी इस डिस्कोर्स को उभारना था कि भारत में जाति व्यवस्था कितनी अटूट है। उसमें भी उसका सोपानीक्रम जिसमें आप नीचे से ऊपर जा ही नहीं सकते। ऊपर से नीचे भले आ जायें। इस व्यवस्था में कोई शूद्र कभी ब्राह्मण नहीं बन सकता। सोच भी नहीं सकता। शम्बूक का उदाहरण सबको पता है। इतना ही नहीं इस पूरे प्रसंग से अखिलेश की मंशा वर्तमान भारत में जाति की स्थिति के विमर्शों के साथ-साथ इंडियन डायस्पोरा या कि प्रवासी भारतीय जाति के बारे में क्या सोचते हैं इसको भी उभारने की कोशिश की है। हालत व हकीकत यह है कि प्रवासी भारतीय समाज भारत को लेकर काफी नास्टैलजिक है। इसीलिए रामअजोर पांडे कहता है कि यह साबित करो कि जगदम्बा ब्राह्मण से कुम्हार कैसे हो गये। जाहिर तौर पर यह साबित नहीं हो सकता क्योंकि न तो इतिहास में ऐसा हुआ है और न ही वर्तमान में ऐसा होने की

गुंजाइश है। आखिर विदुर दासी पुत्र ही रहे। बहरलाल! प्रवासी भारतीय यहाँ के सोशल प्रगति, तनाव, द्वन्द्व, सामाजिक न्याय की लड़ाई आदि से प्रायः अनभिज्ञ रहकर हिन्दू भारत से ही अपने को जोड़ते हैं, भारतीय हिन्दू अस्मिता के निर्माण का प्रयास भी करते हैं। करण जौहर की फिल्में, निर्मल वर्मा का लेखन इसी तरह के नास्टोलिजिक भावों को कैश करता है। प्रवासियों के लिए अब भी भारत का मतलब रामायण, गंगा, गीता ही है। भारतीय संविधान उसमें कहीं नहीं है। अखिलेश इस पूरे वृहत्तर फेनामिना को 'निर्वासन' में चित्रित करते हैं।

उपन्यास में अखिलेश ने चाचा-भतीजे की जोड़ी रची है। एक कथावाचक भी है। पारम्परिक भारतीय आख्यान शैली में श्रोता-वक्ता युग्म होते हैं। जिसमें नैरेटर कथा लिखते हुए इस प्रविधि का इस्तेमाल करता है। शुक-शुकी संवाद, तोता-मैना संवाद, भृंग-भृंगी संवाद, शंकर-पार्वती संवाद या कि रामचरित मानस के युग्म इसके उदाहरण हैं। निर्वासन में अखिलेश ने इस पद्धति को थोड़ा बदला है। इसमें चाचा-भतीजा की जोड़ी कॉमिक सेंस भी रचित करती है और कथा में श्रोता-वक्ता युग्म नहीं अपितु पात्र-युग्म के रूप में हैं। लोक किस्सागोई पारम्परिक आख्यान शैली और वर्तमान नावेल शैली के मिले-जुले रूप से निर्मित यह पात्र देशजता व आधुनिकता दोनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह हिन्दी उपन्यास में अखिलेश ने पहली बार किया है कि भविष्य खुद वर्तमान में आकर अपनी कहानी सुना रहा है। अखिलेश 'निर्वासन' में सच से शुरू कर अगव्यात्मक होते हुए हमें भयावह सच तक ले जाते हैं। जातीय वर्चस्व व हिंसा को उन्होंने इस उपन्यास में उसके विविध रूपों में कई जगह अनावृत किया है। इस हिंसा के कितने रूप हैं इसका पता हमें तब चलता है जब हम उपन्यास में अकाल के दौरान निम्न जातियों के विद्रोह को दबाने के लिए सवर्णों की नाकेबन्दी व एकता देखते हैं और एक दूसरे प्रसंग में पण्डित द्वारा हरहू राम की हत्या के संदर्भ में इसे और घना पाते हैं।

अखिलेश वर्तमान दलित विमर्श से भी आहत और क्षुब्ध दिखते हैं इसीलिए वह इसके लिए इसके पुरोधों अम्बेडकर और फुले को कटघरे में खड़ा करते हैं। वैसे भी वर्तमान दलित विमर्श की स्थिति को देखते हुए यह जरूरी जान पड़ता है कि दलित चिंतक अपनी आत्मालोचना इतिहास से लेकर आज तक की करें।

गौरी उपन्यास की महत्वपूर्ण स्त्री पात्र है। वह पूरे उपन्यास में एक स्वाभिमानी, सहृदय, प्रेम के प्रति समर्पित, रेडिकल स्त्री के रूप में उभरती है। गौरी को जिस तरह अपमानित कर सूर्यकांत के पिता कुहरे की रात में गालियाँ देते हुए घर से बेदखल करते हैं वह इसे भूल नहीं पाती और पूरे उपन्यास में वह पीड़ा व आक्रोश से गुजरती रहती है। गौरी को घर से बेदखल किये जाने का प्रसंग अपने भीतरी रचाव में तमाम स्त्री मुद्दों को समेटे हुए है। चाचा कहता है, “दरअसल औरत जाति और धर्म-इन तीनों के नाम पर बुजदिल, नरमदिल, नेकदिल भी खौफनाक बन जाता है। एक डरपोक इंसान अपनी स्त्री के सामने बाघ बना रहता है। इसी तरह धर्म के नाम पर होने वाले दंगों को देखो, जो लोग रोजमर्रा की जिंदगी में घायल परिंदा देखकर दुःखी हो जाते हैं, चींटियों को आटा खिलाते हैं, बंदरों को चना परोसते हैं वे भी इंसान के खून की होली खेलने की बात करने लगते हैं... तो ये है वो खुदा का बंदा, परमेश्वर का सपूत जो दूसरे मजहब के लोगों की लाशों को धरती का बिछौना बनाना चाहता है...। और जो जाति है न, शोर कम मचाती है... खून भी कम बहाती है, ...पर भीतरी हिंसा करती है। ये मामूली से मामूली बात में मौजूद रहती है और बड़ी से बड़ी बात में भी। वाकई इसकी हिंसा दिखे भले न पर होती हर जगह है। जन्म से मौत तक चिपकी रहती है। लेकिन गौरी के मामले में तो चौथी ही चीज है... इसमें पिछली तीनों के जोखिम हैं और इनके अलावा भी बड़े ऊबड़-खाबड़ हैं।”

दरअसल जाति, धर्म और लिंग का वर्चस्व मूलतः हिंसाधारित विमर्श है। यह अपने भीतरी रचाव में हिंसक हैं। गौरी के साथ जो चौथी चीज है वह यह कि वह स्त्री है। जिसे अपनी जाति धर्म के बारे में स्पष्ट पता नहीं। उसे उसकी उस नानी ने पाला जो अकाल के दिनों में बेच दी गयी थी। दरअसल इस पितृसत्ताक समाज में स्त्री की अपनी कोई अस्मिता नहीं होती। वह हमेशा पुरुष से निर्मित, परिभाषित होती है। पिता, पति, भाई आदि के हैसियत से उसकी, सामाजिक हैसियत तय होती है। उसकी योनिशुचिता का प्रमाण भी यही होते हैं। अपने दम पर जीवन यापन करती आत्मनिर्भर स्त्री को हमेशा चालू (रेडी) माना जाता है। इसीलिए सूर्यकांत को अवधनारायण कहते हैं 'जा साला जांघ सहला रेडी की। वस्तुतः अपनी स्वयं की अस्मिता रखने वाली स्त्रियों से यह पुरुषप्रधान समाज ऐसे ही खतरा महसूस करता है। वह जानता है कि प्रेम, करने वाली स्त्रियां या कि स्वतंत्रचेता आत्मनिर्भर स्त्रियां इसके सामाजिक-सांस्कृतिक व यौनिक वर्चस्व के लिए खतरा हैं इसलिए वह इन्हें स्वीकार नहीं पाता। उन स्त्रियों को तो बिलकुल नहीं जो अपनी जड़ें किसी स्त्री में तलाशती है और अपने होने को अपनी स्त्री वंशावली स्त्री परम्परा से निर्मित व पारिभाषित करती हैं। जाहिर तौर पर ऐसी स्त्रियां स्वतंत्र चेता व स्वाभिमानी होती हैं इसलिए यह पितृसत्ताक...पौरुष दम बड़े ही कुटिल व हिंसक तरीके से सर्वप्रथम उनके इसी आत्माभिमान को कुचलता है और इसके लिए वह सीधा हमला उनकी देह पर करता है। चाहे वह भौतिक हिंसा के रूप में हो या यौनिक अथवा शाब्दिक/देह को केन्द्र में रखकर दी गई गालियां स्त्री देह पर वर्चस्व व अधिकार को प्रदर्शित करती हुई पौरुष दंभ को तृप्त करती हैं। वह पौरुष दंभ जो स्त्री को देह, खासकर योनि में रिड्यूस...करके देखता है। गालियां दी भले ही पुरुषों को भी जायें किन्तु निशाने पर स्त्री देह होती है। इसीलिए सूर्यकांत को दी जाने वाली गाली उसके भीतर के पौरुष ग्रंथि को उभारने व उसे आहत करने दोनों का प्रयास होती हैं। चूंकि गौरी एक पड़ी-लिखी चेतना सम्पन्न स्त्री है इसलिए वह इस पूरे षड्यंत्र को समझती है और यह सोचती है कि गाली भले ही सूर्य को दी जा रही हो किन्तु निशाने पर तो वो ही थी। वैसे भी उस समाज में स्त्री के प्रति दृष्टिकोण और हो ही क्या सकता है जिसमें अकाल में बेटियां ही बेच दी जाती थीं पर कहीं भी बेटे को बेचने का कोई उदाहरण न मिलता हो। स्त्री को शुरु से ही यह समाज पण्य वस्तु मानता रहा है। गौरी उपन्यास में यह बात उठती है कि "वंश की आधारशिला पिता के ही कुल में नहीं गड़ी होती, उसका दूसरा सिरा माँ और उसके पुरखों की तरफ से भी प्रारंभ होता है। क्या पिता ही श्रेष्ठ होता है? यह श्रेष्ठता क्या यह रहती है कि रक्त से बढ़कर वीर्य होता है।" इन्हीं सबको लेकर वह अपनी नानी के बारे में पता लगाने के लिए सूर्यकांत को ई-मेल करती है। किन्तु उस पर सूर्यकांत का जो जवाब है वह अद्भुत है। वह लिखता है, "अगर तुमको इतिहास से इतना अधिक लगाव है तो अपनी क्षमता और जरूरत के मुताबिक स्वयं एक इतिहास की कल्पना अथवा रचना कर लो। तुम पेशोपेश में हो कि इतिहास की कल्पना कैसे हो सकती है? दरअसल सारे इतिहास एक तरह से गढ़त ही होते हैं जिसमें कुछ सच्चे नामों, स्थानों, तिथियों की मदद से सत्ता अपनी क्षमता और जरूरत के अनुसार किसी गढ़त को ही रचती है। तुमको—जिसका अपना कोई इतिहास नहीं है—कुछ झूठे नामों, स्थानों और तारीखों का इस्तेमाल करते हुए एक सत्य निर्मित करना चाहिए। इतिहास से बेदखल किये गये लोगों का अपना इंतकाम लेने का यही तरीका होता है।" यहाँ दरअसल अखिलेश अब तक के इतिहास लेखन को प्रश्नांकित करते हैं किन्तु सबाल्टन इतिहास लेखन को भी क्लीन चिट नहीं देते। वह भी एक गढ़त ही है जिसकी अपनी राजनीति, सामयिकता, कालबोध है। वैसे भी बेकन ने लिखा है, 'रिवेंज इज ए काइंड आफ वाइल्ड जस्टिस'। इसलिए जब सत्य निर्मित किया जाता

हो चाहे वह जिस भी कारण से हो, अन्तिम सत्य किसी को नहीं माना जा सकता, सबाल्टर्न इतिहास लेखन को भी नहीं।

चाचा 'निर्वासन' का सर्वाधिक प्रगतिशील, आधुनिक भावबोध सम्पन्न व चेतस पात्र है। चूँकि उसकी अध्ययन की एक लम्बी रुचि रही है जो कस्बे की दुकान व लाइब्रेरी से होती हुई कॉलेज तक पहुँचती है इस कारण वह चीजों के बारे में अपनी राय (तार्किक राय) कायम करता है। 'बतर्ज हिन्द स्वराज' अध्याय में अखिलेश चाचा के माध्यम से पूरी की पूरी सभ्यता समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस अध्याय में भतीजे के हर सवाल के जवाब में चाचा जो कहता है वह इस सभ्यता का क्रूर सच है। चाचा आधुनिकता विरोधी नहीं है। वह हमेशा नएपन को गले लगाता रहा है। किन्तु वह इस विकास की हकीकत समझ गया है। करोड़ों वृक्षों का वध कर बनाये गये राजमार्ग को वह सुन्दर मानने को तैयार नहीं। वह कहता है, "आजकल विकास अपने आप में साध्य हो गया है। मैं कहता हूँ साध्य है मनुष्य की बेहतरी और विकास इसका उपाय है लेकिन इन दिनों पहिया उल्टा घूम रहा है।" इसलिए विकास के बारे में उसका मत है, "...इस तरह उत्पादन बढ़ाओं कि स्वाद बचा रहे या बेहतर हो जाये। संसार की हर प्रिय वस्तु का रूप, रस, गंध, स्पर्श बचाते हुए तरक्की की मंजिले हासिल हों, ऐसी कोशिश क्यों नहीं होनी चाहिए? विकास करो जमकर करो पर अच्छी चीजों को खोकर उसे पाना अक्लमंदी नहीं है।" चाचा के लिए दूसरों की खुशी के लिए मिटना ही ऊँचे उठना है। वस्तुतः चाचा इस समय के सच को जान रहा होता है, तार्किक रूप से समझता है किन्तु वह इस भयानक व्यवस्था के शरीर पर एक खरोंच भी नहीं लगा पाता। वह जानता है कि इस अर्थकेंद्रित उपभोगवादी व्यवस्था में उसकी ऊँची हैसियत कितनी तुच्छ है इसलिए वह अहिंसक प्रतिरोध के रास्ते अपने ढंग से निकालता है। वह इस समय के होने को ही इनकार कर देता है। कहीं न कहीं अतीत में चला जाता है किन्तु अखिलेश बहुत सचेत ढंग से यह दिखाते हैं कि आज की समस्याओं का समाधान अतीत या पुनरुत्थान नहीं है। वह क्या है यह निष्कर्ष देने से अखिलेश बचे हैं। मेफेयर रजिस्टर के पन्ने कोरे हैं समय उन पर कई इबारत लिखेगा। प्रतिरोध व संघर्ष का रास्ता क्या होगा यह आगे तय होगा, नई पीढ़ी तय करेगी।

इस उपन्यास में अखिलेश ने मानवीय सम्बन्धों का अद्भुत ताना बाना रचा है। देवदत्त, कामना, नूपुर, चाची उनके बच्चे आदि पात्र या कि गोसाईगंज के तमाम जाति समूह, जिनके सम्बन्ध जैसे से तय होते हैं। अमरीका जाने की ललक पाले यह सब लोग गप्प कथा गढ़ने में माहिर है। रिश्ते-नातों से लेकर गांधी, योग, आयुर्वेद, धर्म तक को विश्व बाजार में बेचने को आतुर इन लोगों के पास अपने-अपने तर्क व कहानियां हैं। दिलचस्प यह है कि शहर के तथाकथित सीधे-साधे लोग हों या शहर के परम्परा-आधुनिकता के बीच में झूलते लोग, अमेरिका प्रेम सबका देखने लायक है। इच्छा की केंद्रीयता का यह समाज विवेक को तिलांजलि दे चुका है। इस उपन्यास को अखिलेश ने ह्यूमर, सेटायर, विट आदि का प्रयोग कर एक सिटिंग में पढ़े जाने हेतु विवश करने वाला बनाया है। पूरा उपन्यास आद्योपांत हँसाता है। जगदम्बा का पादना हो या उनका ज्यादा खाना, सब इसे रोचक बनाये रखते हैं। कथाकार इस मामले में सचेत है कि जगदम्बा का पादना या उनकी बेइंतहा भूख को पाठक रचनाकार की संवेदनहीनता न समझ ले इसलिए वह कहते हैं क भूख के सामाजार्थिक कारण रहे हैं। गरीबी के ही गोमुख से जगदंबा का यह दर्दनाक जीवन निकला है। उपन्यास की गढ़न यह कि कथा का सिरा जहाँ से अखिलेश शुरु हुआ जीवन व समय का चक्र जगदम्बा के यहाँ चाक व मिट्टी के विस्थापन से पूरा होता है। अनिवार्यतः उस कला व मिट्टी की बेदखली होती है जिसको कुम्हार से पांडे हो जाने व भारत

से सूरीनाम पहुँच जाने के बावजूद भगेलू ने जिंदा रखा था। वह कला अपने ही देश व माटी में बेदखली भुगतती है, यही आज की व्यवस्था की सबसे निर्मम विडम्बना है। प्रधान द्वारा बोली जाने वाली शुद्ध हिन्दी व उसका पूरा व्यक्तित्व जहाँ इससे पैदा करता है वहीं यह भी दिखाता है कि गाँव व राजनीति कितना बदल चुके हैं। अखिलेश की भाषा में चुहलबाजी मौजूद है जो लोकशैली का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। अखिलेश ने पारम्परिक कथा शैली की बेदखली पर भी उपन्यास में मार्मिक दृश्य खींचा है। आजकल टी.वी. ने पारम्परिक कहन शैली को बदल दिया है। शब्द की जगह दृश्य की प्रधानता वाला यह उपकरण एलियनेशन को बढ़ावा तो देता ही है साथ ही इतनी गति समेटे हुए है कि किसी भी चीज को ज्यादा समय तक मस्तिष्क में टिकने नहीं देता। निर्माण-नाश की इसकी प्रक्रिया बहुत तेज है। ऐसे में दादी का अकेलापन सिर्फ दादी का अकेलापन नहीं वरन उस पारम्परिक किस्सागोई की भी बेदखली है जिसमें हुंकारी के माध्यम से दर्जनों श्रोता एक वक्ता से संवाद कायम किये रहते थे। कई-कई रातों तक समूह में किस्से कहे सुनाये जाते थे। अब न तो इतना वक्त है और न ही किसी की रुचि। जाहिर तौर पर ऐसे में अखिलेश ने इस वर्तमान कहन पद्धति के प्रति इस उपन्यास की संरचना के माध्यम से अपना प्रतिरोध दर्ज कराया है। उपन्यास की गति उन्होंने बहुत तेज न रख के कुछ मद्धिम रखी है और इसको पढ़ते हुए पारम्परिक किस्सागोई का जो सुख मिलता है वह इसके कम गति के कारण भी है।

इतना विश्वसनीय व प्रामाणिक चित्रण दुर्लभ है। इस उपन्यास में अखिलेश खुद तो आख्यान के भीतर आख्यान गढ़ते ही हैं, उनके पात्र भी आख्यान निर्माण में निपुण हैं। यह भारतीय व लोक पर अखिलेश के पकड़ का शानदार नमूना है। बतरस तो उनकी संरचना में निहित है ही।

निर्वासन/अखिलेश/राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/संस्करण-2014/मूल्य : ₹ 600

संपर्क : डी-3/303 फॉर्च्यून डिवाइन सिटी, मिसराँड, भोपाल-462026, मो.-08975250626 arunesh.sh@gmail.com

संकट के दौर में उत्तर कृष्ण की कथा

संजय कुमार

काशीनाथ सिंह कथा लेखन के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय हैं। हिंदी के पाठकों के लिए यह हर्ष और सुकून की बात है। अपने नये उपन्यास 'उपसंहार' में उन्होंने 'उत्तर महाभारत की कृष्णकथा' कही है। इसे उत्तर कृष्ण की भी कथा कह सकते हैं, क्योंकि कथा के केंद्र में कृष्ण हैं। महाभारत का अमर संग्राम वह अनिवार्य संदर्भ है जिसकी स्मृति मात्र से उपन्यास में अर्थ की नयी तरंगें उत्पन्न होती हैं। कथाकार की सूझ, उसका कौशल और उसकी मौलिकता इस बात में अंतर्निहित है कि वह उत्तर कृष्ण के जीवन प्रसंगों को पूर्व कृष्ण के जीवन प्रसंगों और महाभारत के युद्ध से जोड़कर अर्थों के नये-नये आयाम निर्मित करता है। अर्थों के ये नये-नये वृत्त ही उपन्यास के कथ्य हैं। एक कथ्य नहीं कई कथ्य।

इस कथा को चूँकि एक आधुनिक कथाकार ने पुनर्निर्मित किया है, इसलिए यह भगवान कृष्ण की कथा नहीं है, मानव कृष्ण की कथा है। ऐसे मनुष्य की कथा है जो अपने गुणों और शक्तियों का विकास करके ईश्वर की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। कृष्ण के व्यक्तित्व के इस विकास के पीछे छिपे कारणों को कथाकार ने धैर्य और अंतर्दृष्टि के साथ उद्घाटित किया है। उसी के शब्दों में "लोक को, उसके महत्त्व को न जानने का ही परिणाम था कि भारत के किसी नरेश का असुरों-राक्षसों के अत्याचार की ओर ध्यान नहीं गया। इसके उलट वे कभी-कभी अपने शत्रु के विरुद्ध उनका उपयोग करते थे। कृष्ण ने द्वारका में स्थिर होने के बाद से ही ऐसे क्रूर, अहंकारी, बर्बर दानवों के सफाए का लक्ष्य जैसे निर्धारित कर लिया और इसके लिए वे आर्यावर्त के दूसरे छोर प्रागज्योतिषपुर (असम) तक गए। उनके इस लोकहित के काम ने द्वारका को वैभवशाली बनाया, प्रतिष्ठा दिलाई और उन्हें 'ईश्वर' की गरिमा दी। ऐसी गरिमा कि आर्यावर्त के जिस यज्ञ या स्वयंवर या सभा में कृष्ण न हों, वह जैसे हुआ ही नहीं।" (पृ. 24) कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में ईश्वरत्व की यह गरिमा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। कृष्ण जैसे इस युद्ध के सूत्रधार थे, वहाँ जो कुछ घटित हो रहा था उस पर उनका पूरा नियंत्रण

था। सत्रह योजन तक फैले युद्धक्षेत्र में तमाम आग्नेयास्त्रों, वारुणास्त्रों, वायवास्त्रों और ब्रह्मास्त्रों की घनघोर वर्षा के बीच वे निहत्था और निर्द्वंद्व विचरण करते रहे, लेकिन उनके बदन पर एक खरोंच तक नहीं आयी। यह विस्मय-विमुग्ध कर देनेवाला दृश्य था। वेदपाठी वटुकों और ब्राह्मणों ने अपने स्तुतिगान से कृष्ण की इस ईश्वरीय महिमा को पूरे आर्यावर्त में फैला दिया। वे अपने युग के शिखर पुरुष बन चुके थे, बल्कि उससे भी आगे बढ़कर अवतारी पुरुष।

पर हर शिखर के बाद ढलान शुरू हो जाता है। महायुद्ध के अठारहवें दिन की आधी रात से ही कृष्ण की शक्तियों का क्षय होना आरंभ हो गया, “...द्रौपदी की कई बार रक्षा इतनी दूर रहकर उन्होंने की थी, उसी के पाँचों बेटों को इतना पास रहकर भी नहीं बचा सके, जबकि उन्हें घटना का पूर्वाभास था।” (पृ. 113) धीरे-धीरे उनकी शक्तियाँ नष्ट होती गयीं। पांचजन्य (शंख), जिसकी ध्वनि से धरती और पहाड़ हिल उठते थे, समुद्र किनारा छोड़कर भाग खड़ा होता था, उसमें इतनी प्राणशक्ति नहीं बची थी कि बज सके। सुदर्शन चक्र वापस लौट गया, अब वह उनके आवाहन पर भी आता नहीं था। और एक दिन उन्होंने अपनी आँखों से देखा कि उनका प्यारा रथ ‘गरुडध्वज’ घोड़ों सहित उड़ता हुआ दूर चला गया, वे विवश देखते रह गये। जिस रथ को देखते ही असुर और राक्षस थर-थर काँपने लगते थे, वह अब उनके पास नहीं था। उनके पास बचा रह गया था सिर्फ गुरु संदीपन का दिया अजितंजय धनुष और बाबा नंद का दिया पुशैनी नंदक खड्ग। सारांश यह कि, शक्ति-संपन्नता के मामले में उत्तर-कृष्ण पूर्व कृष्ण के छाया मात्र रह गये थे। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा हुआ क्यों? असल में महाभारत के विजय में ही कृष्ण के तेजोमय रूप के अवसान के कारक छिपे हुए थे, जो बाद में धीरे-धीरे प्रकट हुए। आर्यावर्त की पूरी परम्परा में यह पहली बार घटित हो रहा था कि सेना और सेनापति एक दूसरे के विरोध में लड़ रहे थे। स्वयं कृष्ण पांडवों के पक्ष से और उनकी एक अक्षौहिणी सेना कौरवों के पक्ष से। कृष्ण विजयी रहे लेकिन उनकी सेना हार गयी। अधिकांश सैनिक मारे गए, जो बच गए वे घायल थे। द्वारकाधीश के महल में विजयोत्सव की तैयारी चल रही थी, उधर पूरी द्वारका शोक में डुबी हुई थी। हरेक परिवार ने अपना कम-से-कम एक प्रिय सदस्य सदा के लिए खो दिया था। किसी ने बेटा खोया, किसी ने भाई और किसी ने अपना पति। हाहाकार मचा हुआ था। कृष्ण जीत गए द्वारका हार गयी। राजा जीत गया प्रजा हार गयी।

घायल सैनिकों ने महायुद्ध का वृत्तांत अन्य लोगों को सुनाया। युद्ध के पूर्व, इसमें शामिल होने की आवश्यकता बताते हुए श्री कृष्ण ने द्वारका वासियों से कहा था कि यह पांडवों और कौरवों का घरेलू मामला नहीं है। यह वस्तुतः धर्म और अधर्म का, न्याय और अन्याय का, सत् और असत् का, प्रकाश और अंधकार का युद्ध है। किंतु घायल सैनिकों के वृत्तांत से लोगों के मन में धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि कुरुक्षेत्र का महाभारत न्याय युद्ध नहीं था। भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे अप्रतिम योद्धाओं को छल से मारा गया था। और युद्ध की यह रणनीति स्वयं कृष्ण ने तैयार की थी। कृष्ण की आलोचना करते हुए बलराम उन्हीं से कहते हैं, “मैं हिमालय धूनी रमाने के लिए गया था ? तपस्या करने गया था ? उस ऊँचाई से वह सारा कुछ देख-सुन रहा था, जो तुम कुरुक्षेत्र में कर रहे थे। तुम अधर्म की नींव पर धर्म की जर्जर इमारत खड़ी कर रहे थे। कहकर गये थे द्वारका से कि यह अधर्म के विरुद्ध धर्मयुद्ध है, धर्म की स्थापना करनी है। किस धर्म को स्थापित किया? न्याय को? ईमानदारी को? भाईचारे को? प्रेम को? किसको? प्रेमयोग का ज्ञान देते घूम रहे हो और दादा को पोते से, मित्र को मित्र से, गुरु को शिष्य से और भाई को भाई से मरवा रहे हो! पूरे आर्यावर्त में घूम कर देखा मैंने, ब्राह्मणों,

महिलाओं और बच्चों को छोड़कर कोई नहीं बचा है। इसे किस धर्म की स्थापना कहेंगे?” (पृ. 63-64) वे कृष्ण को एक और नकारात्मक श्रेय देते हैं, कहते हैं, “तुमने युद्ध की शास्त्रीय और पुरानी शैली को नाकारा साबित कर दिया, अपनी छल और कूट बुद्धि से। इसका प्रयोग तुम राक्षसों-असुरों के संहार के लिए करते हो। लेकिन युद्ध में छल से तुमने जिनका वध किया, वे असुर और राक्षस नहीं थे। भीष्म, द्रोण, कर्ण ये अनमोल रत्न थे आर्यावर्त के, जो किसी-किसी युग में कभी-कभार ही पैदा होते हैं।” (पृ. 64) यहाँ बलराम के स्वर में जैसे पूरी द्वारका बोल रही है, ऐसे तीखे सवाल पूछ रही है जिसका कोई विश्वसनीय उत्तर कृष्ण के पास नहीं है। जिस लोक में लोकप्रियता के बल पर कृष्ण को ईश्वरीय गरिमा मिली थी, वही लोक अब गहरे संदेह की नजर से उन्हें देख रहा था। महल से लेकर नगर तक विरोध की आवाजें उठने लगी थीं।

महायुद्ध के परिणाम युद्ध से भी अधिक भयानक निकले। महाभारत में दिव्यास्त्रों के प्रयोग के कारण धरती का एक हिस्सा बंजर हो गया था, कई नदियाँ सूख गयी थीं, कई जंगल जलकर राख हो गये थे। पर अब इन सब की चिंता करनेवाला कोई नहीं था, वे जस के तस छोड़ दिये गये थे। हस्तिनापुर राज्य की बची हुई बस्तियों में महामारी फैल रही थी, लोग मर रहे थे और उन्हें जलाने के लिए लकड़ियाँ नहीं मिल रही थीं। युधिष्ठिर राजा बनने के बाद राज-काज में रुचि नहीं ले रहे थे, वे रात-दिन कुछ तपस्वियों के साथ बैठकर ब्रह्म, जीव और माया के बारे में बातें या बहस करते रहते थे। फलस्वरूप उनके राज्य में अराजकता फैल रही थी, “उन स्वर्गीय वीर योद्धाओं की संतानें—जिनसे उम्मीद की जा रही थी कि वे अपने पिताओं से दो-चार हाथ आगे जाएँगे और अपनी कलाओं से त्रिभुवन को चमत्कृत करेंगे—वे गोधन, पशुधन और अन्नधन लूटने में व्यस्त थे।” (पृ. 51)

कहने की जरूरत नहीं कि साधन ने साध्य को प्रभावित किया। छल और अधर्म के माध्यम से धर्म की स्थापना संभव नहीं हो पायी। कौरवों को तो रौंद डाला गया, लेकिन जिन मूल्यों की स्थापना के लिए युद्ध लड़ा गया वे भी साबुत नहीं बचे। महायुद्ध के दरम्यान उन्हें भी बार-बार रौंदा गया। तीनों लोकों में सबसे सत्यवादी माने जानेवाले युधिष्ठिर ने झूठ का सहारा लिया, ईश्वरीय गरिमा वाले कृष्ण ने पग-पग पर छल और अन्याय का सहारा लिया। महाभारत के समापन के बाद जब लोगों ने इन वृत्तांतों को सुना तो सत्य, न्याय, ईमानदारी, भाईचारा इन सब पर से उनका भरोसा उठ गया। पूरे आर्यावर्त में असत्य, अन्याय, बेईमानी, छल, कपट और लूट की संस्कृति का प्रभाव तेजी से फैला। द्वारका में भी इस अप-संस्कृति का असर शीघ्र ही दिखायी पड़ने लगा। यादव तो स्वभाव से ही ‘लंठ, हेकड़ और झगड़ालू’ थे। कृष्ण ने बहुत मुश्किल से यादवों के अठारह कुलों के बीच सौहार्द और भाईचारे का संबंध विकसित किया था। पर अब लोग स्वयं कृष्ण के प्रति शंकालु थे, उनका प्रभामंडल ध्वस्त हो चुका था। यादव-कुलों में पुराने वैमनस्य और संदेह फिर से उभरे, झगड़े शुरू हो गये। अंततः उग्रता इतनी बढ़ी कि यादव-कुल आपस में ही लड़कर नष्ट हो गये। कहा जाना चाहिए कि कथाकार ने साधन और साध्य के बीच संबंध को बहुत सलीके और कुशलता के साथ बुना है। यह पौराणिक वृत्त का एक नया आख्यान है, बहुत ही प्रासंगिक आख्यान। हम जानते हैं कि साधन और साध्य के बीच रिश्ते का प्रश्न आधुनिक युग की केंद्रीय चिंताओं और बहसों में से एक रहा है। एक ऐसी बहस जिस पर अभी तक कोई आम सहमति नहीं बन पायी है। इस संदर्भ में महात्मा गाँधी के चिंतन और कर्म का अपना विशेष महत्व है। पर यहाँ दिलचस्प और महत्वपूर्ण यह है कि इस बहस को नये सिरे से एक ऐसे कथाकार ने उठाया है, जो

मार्क्सवादी परम्परा के लेखक माने जाते हैं। क्यों उठाया है? संभवतः इसलिए कि सोवियत संघ और उससे जुड़े समाजवादी देशों के पतन के बाद इन प्रश्नों पर पुनर्विचार आवश्यक हो गया है। सोवियत संघ के अनुभवों से बहुत कुछ सीखे बगैर मार्क्सवादी चिंतन परम्परा का विकास और उसकी प्रासंगिकता का बने रहना संभव नहीं है। पर इसे सिर्फ वामपंथी विमर्श तक सीमित करना अनुचित होगा। आज जब धर्म के नाम पर अधर्म की राजनीति हो रही हो, जब मुख्यधारा की राजनीति का पर्याय ही छल-छद्म, झूठ, बेईमानी, धूर्तता और अन्याय हो गया हो तो उपन्यास के इस कथ्य की प्रासंगिकता से भला कौन इंकार कर सकता है ! एक व्याख्याकार और कथाकार के रूप में काशीनाथ सिंह की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि उन्होंने उपन्यास के अंत तक आते-आते 'गीता' के लोक-प्रसिद्ध उपदेश का निहितार्थ तक विश्वसनीय ढंग से बदल डाला है। कृष्ण अपने प्रिय सारथी और सेवक दारुक से कहते हैं, "दारुक! अच्छा याद दिलाया तुमने। जब युद्धभूमि में दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार हुई, तो अर्जुन गांडीव फेंककर बैठ गया क्यों लड़ें ? किसके लिए लड़ें ? मारकर क्या मिलेगा ? यह पितामह हैं, ये भाई हैं, ये चाचा हैं, यह गुरु हैं, सभी सगे-संबंधी हैं। किससे लड़ें ? मैंने मन में कहा हुआ बंटाधार ! तब मैंने लम्बा-चौड़ा भाषण पिलाया उसे। ताकि वह जी-जान से लड़े, युद्ध करे। क्या होगा, क्या नहीं होगा सोचना छोड़े। उसी में मैंने कहा था कि तुम्हारा अधिकार सिर्फ कर्म करने में है, फल में नहीं। वह आधी बात थी, पूरी बात नहीं। पूरी बात यह है कि फल कर्म में ही निहित रहता है, भले दिखाई न दे। इसलिए कह रहा हूँ कि आज द्वारका में जो कुछ हो रहा है, वह मेरे ही कर्मों का परिणाम है। मेरे उपदेश के बाद अर्जुन की दृष्टि भले कर्म पर टिकी रह गई हो, मेरी दृष्टि बराबर उसके परिणाम पर बनी रही अपनी प्रतिष्ठा के लिए, अपनी मर्यादा के लिए, अपने ऐश्वर्य के लिए। मुझे हर हाल में युद्ध जीतना ही था चाहे धर्म भंग हो, चाहे नियम टूटे। हार जाता तो कौन-सा मुँह दिखाता दुनिया को?और दारुक, उस समय मैंने यह नहीं सोचा था कि जो कर रहा हूँ, उसे देर-सबेर द्वारका को, मेरे घर को भुगतना पड़ेगा।" (पृ. 107-108)

'उपसंहार' का एक दूसरा कथ्य भी है। और मैं जिसे दूसरा कह रहा हूँ लेखक और प्रकाशक की नजर में वही पहला और मुख्य कथ्य है, क्योंकि मुखपृष्ठ पर विज्ञप्ति है 'चरम सफलता में निहित है एकाकीपन का अभिशाप'। लेखक ने इस कथ्य को भी पौराणिक वृत्त की अंतर्दृष्टिपूर्ण व्याख्या और कथा-रचना के असाधारण कौशल से संभव बनाया है। कान्हा का बचपन बड़े लाड़-प्यार में बीता। और किशोर-वय हमउम्र ग्वालों के साथ गायों को चराते, दिन-भर तरह-तरह का खेल खेलते, मस्ती करते और गोपियों के साथ रास रचाते बीत रहा था। तभी एक दिन मथुरा से कंस का बुलावा आया। जाने के सिवा कोई चारा नहीं था। "कंस-वध के बाद स्थितियाँ ऐसी बनीं कि वे लौट नहीं सके। अपनी विलाप करती विधवा बेटियों को देखने के बाद जरासंध ने मथुरा को मटियामेट करने की तैयारियाँ शुरू कर दीं।" (पृ. 72) इधर महाराज उग्रसेन ने मथुरा की सुरक्षा का भार दोनों भाइयों को सौंप दिया। एक दिन के लिए भी मथुरा छोड़ना खतरे से खाली नहीं था अपनी और मथुरा दोनों की सुरक्षा की दृष्टि से। जरासंध ने मथुरा पर आक्रमणों की छड़ी लगा दी एक के बाद एक सत्रह आक्रमण। अतुलित बलशाली जरासंध और उसकी विशाल सेना से निरंतर युद्ध करते रहना बहुत कठिन था। कृष्ण ने मथुरा निवासियों की सुरक्षा की दृष्टि से यह तय किया कि इस जगह को छोड़कर एक ऐसे सुरक्षित स्थान पर बसा जाए जहाँ तक मगध-नरेश के लिए पहुँचना बहुत मुश्किल हो। फिर मगध से हजारों योजन दूर रैवतक पर्वत के पास कुशस्थली में द्वारका नाम का नया

नगर बसाया गया, जो अपने स्थापत्य और सौंदर्य के कारण इंद्रपुरी से होड़ लेता जान पड़ता था। पर मगध से दूर जाने के क्रम में गोकुल और वृंदावन भी हजारों योजन दूर हो गया। शैशव की वह क्रीड़ास्थली कहीं बहुत पीछे छूट गयी और कृष्ण बहुत आगे निकल आए। लेकिन वे गायों, ग्वालों, तमाल के पेड़ों, करील के कुंजों और यमुना के मनोहर तट को कभी बिसरा नहीं पाए। और राधा? राधा को भुला पाना भला कहाँ संभव था! उसकी स्मृति 'यमुना की लहरों की हिलोर' की तरह बार-बार मन में उठती और उदास कर जाती।

कृष्ण द्वारका में गणतंत्र की स्थापना, और फिर उसे सफल एवं समृद्ध बनाने में लगातार व्यस्त रहे। साथ ही राक्षसों एवं असुरों के संहार में भी लगे रहे, जिससे उनकी प्रतिष्ठा निरंतर बढ़ती रही। फिर कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में उन्होंने जो भूमिका निभायी, उसके कारण वे प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच गए। उन्हें 'ईश्वर' माना जाने लगा। ऊपर हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि महायुद्ध में अपनी भूमिका के कारण जहाँ एक ओर वे सफलता के शिखर तक पहुँचे, वहीं दूसरी ओर उसी में उनके अवसान के कारक भी छिपे हुए थे, जो बाद में चलकर धीरे-धीरे स्पष्ट हुए। पर यहाँ कथाकार का फोकस इस बात पर भी है कि सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर कृष्ण अपने को अकेला, बहुत अकेला महसूस कर रहे थे। जिस द्वारका को समृद्ध और सुदृढ़ बनाने में उन्होंने पूरा जीवन लगा दिया, उसी के आम लोगों का भरोसा उन पर से उठ गया था। महाभारत में उनकी भूमिका और रणनीति के कारण द्वारका के लोग उनके प्रति शंकालु हो गये थे। उनके सबसे प्रिय सखा और बड़े भाई बलराम भी उनसे नाराज थे। रनिवास में भी शांति नहीं थी। वहाँ भी विरोध की आवाजें उठ रही थीं। दुर्योधन की बेटी लक्ष्मणा जिसका विवाह कृष्ण के बेटे साम्ब के साथ हुआ था, दोनों महल छोड़कर चले गए। क्योंकि लक्ष्मणा को यह पता चल चुका था कि उसके पिता की हत्या छल से हुई थी, और वह भी स्वयं कृष्ण के इशारे पर। द्वारका के इस माहौल में कृष्ण अपने को बहुत अकेला महसूस करते थे। पर प्रश्न यह उठता है कि कृष्ण के इस 'एकाकीपन' का संबंध सिर्फ 'चरम सफलता' के साथ जुड़ा हुआ है या इसे पाने के लिए अपनाये गये अनुचित साधनों से भी है? गोकुल से मथुरा जाना, और मथुरा की सुरक्षा में व्यस्त हो जाना, फिर जरासंध के आक्रमणों से विवश होकर द्वारका नगर बसाना, यह सब तो परिस्थितियों की अनिवार्य माँग का परिणाम था। इसलिए गोकुल के अपने प्रिय जनों से बिछड़ जाना इस एकाकीपन का सीधा संबंध तो सफलता के साथ बनता है। पर यही बात महायुद्ध में प्राप्त की गयी सफलता के विषय में नहीं कही जा सकती। कृष्ण ने अपने ही द्वारा स्थापित गणतांत्रिक व्यवस्था को नजरअंदाज करते हुए महायुद्ध में शामिल होने का निर्णय ले लिया। उन्होंने द्वारकावासियों से सहमति लिए बगैर ही यह भी तय कर दिया कि वे स्वयं पांडवों के पक्ष में रहेंगे और द्वारका की एक अक्षौहिणी सेना कौरवों के पक्ष से युद्ध लड़ेगी। महाभारत में विजय पाने के लिए उन्होंने छल, कपट और बेईमानी की रणनीति अपनायी। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा उन्होंने क्यों किया? कथाकार ने जो आख्यान रचा है उसमें इस प्रश्न का उत्तर बहुत स्पष्ट है अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के कारण। बलराम के प्रश्नों के जवाब में कृष्ण कहते हैं

दाऊ, मैंने अब तक जो किया, कुछ भी गलत नहीं किया।

यादव, ग्वाला, चरवाहा, रासरचौया, बंसीबजैया सुनते-सुनते थक चुका था मैं

मैंने तय कर लिया था कि जब मैं गौवें चरा सकता हूँ

तो तुम जैसे पशुओं को भी चरा सकता हूँ।

और रही बात ईश्वर की
तो मैं ईश्वर कहो या वासुदेव होना चाहता था
क्योंकि उसकी कोई जाति नहीं होती, वर्ण नहीं होता, गोत्र नहीं होता
अकेला वही है जो वर्णाश्रमों के बंधनों से मुक्त है। (पृ. 67)

कृष्ण अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए अधर्म और अन्याय का सहारा लेते हैं, द्वारका की सेना का अनुचित उपयोग करते हैं। फलस्वरूप द्वारकावासियों का भरोसा उन पर से उठ जाता है, उनके सबसे प्रिय सखा और बड़े भाई बलराम उनसे नाराज हो जाते हैं, रनिवास तक से विरोध की आवाजें उठने लगती हैं। कहना होगा कि कृष्ण का एकाकीपन सिर्फ परिस्थितिजन्य नहीं है, और न ही सिर्फ सफलता के 'चरम' पर पहुँचने के कारण है, बल्कि सफलता प्राप्ति के लिए अनुचित साधनों का उपयोग भी इसका एक महत्त्वपूर्ण कारक है। इस तरह से उपन्यास का पहला और दूसरा कथ्य अलग-अलग रास्तों पर चलकर भी एक ही मंजिल पर पहुँचते हैं और एक-दूसरे को पुष्ट करते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि न सिर्फ राजनीति बल्कि पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी छल, कपट, झूठ और धूर्तता का उपयोग इंसानी रिश्ते को रुग्ण और अमानवीय बनाता है।

'उपसंहार' अस्मिता-विमर्श के युग में लिखी गयी है, इसलिए इससे अछूती कैसे रह सकती है? वह भी तब जब कथा स्वयं यदुराज श्रीकृष्ण की हो ! इस उपन्यास के तीसरे कथ्य का संबंध यादव समुदाय की अस्मिता से है। कंस-वध के बाद जब मथुरा पर जरासंध ने आक्रमणों की झड़ी लगा दी, तो 'कृष्ण को चिंता मथुरा की नहीं, यादव-कुलों की हुई कि उन्हें कैसे बचाया जाए ?' उन्हें लगा कि अतुलित बलशाली जरासंध और उसकी विशाल सेना से लड़ते-लड़ते यादव एक दिन नष्ट हो जाएँगे। इसलिए मगध से हजारों योजन दूर द्वारका नाम का नगर बसाया। वहाँ यादवों के अठारह कुलों के अठारह मोहल्ले बनाए गए। "कृष्ण के लिए द्वारका माने सपना। ...वे चाहते थे ऐसा गणराज्य, जिसमें सारे कुल मिलकर रहें, सब समान रूप से सम्पन्न और सुखी रहें, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना न रहे, सब समान सुविधाएँ भोगें, सब निर्भय और निःशंक विचरण करें।...यह तभी सम्भव है, जब गणप्रमुख और कुल के मुखिया मिलकर शासन की नीति बनाएँ और जो भी निर्णय करें, महाराज और युवराज उसे लागू करें।" (पृ. 23)

कृष्ण इस बात से भी चिंतित थे कि यादवों को क्षत्रिय नहीं माना जाता था। क्योंकि उनके आद्यपुरुष यदु पिता के शाप से शापित थे तब से उनके क्षत्रियत्व का लोप हो गया था। इसलिए क्षत्रियों के जब स्वयंवर होते थे तो यादवों को सिर्फ देखने के लिए बुलाया जाता था, उसमें भाग लेने के लिए नहीं। कृष्ण ने इस व्यवस्था को चुनौती दी रुक्मिणी के स्वयंवर में। वे जानते थे कि रुक्मिणी उनका वरण करना चाहती है, लेकिन उसके चारों भाई उसकी इच्छा के विरुद्ध हैं। उन्होंने क्षत्रियोचित रीति से उसका हरण कर लिया। कृष्ण उस प्रसंग की चर्चा बलराम से करते हुए कहते हैं

मैंने उन जाति-अभिमानी, पाखंडी, दम्भी क्षत्रियों के दर्प को
विदीर्ण करते हुए कह दिया था कि यह
अनामंत्रित ग्वाला अपनी रुक्मिणी को
लिये जा रहा है जो करना हो, कर लो! (पृ. 66)

महायुद्ध में भी कृष्ण ने जो सबसे प्रभावशाली भूमिका निभायी उसके पीछे भी यही प्रेरणा

अंतर्निहित थी क्षत्रियत्व की अपनी खोयी हुई अस्मिता को पुनः स्थापित करना। वे जैसे यह सिद्ध करना चाहते थे कि वे क्षत्रियों में भी सबसे श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं। इस संदर्भ में वे बलराम के आरोपों का उत्तर देते हुए कहते हैं

और दाऊ, यह अपनी द्वारका
जो हमेशा से हाशिए पर रही थी
हमारे-तुम्हारे तमाम अभियानों और सफलताओं के बावजूद
जो आर्यावर्तियों की नजर में
भेड़-बकरी-गाय चराने वाले ग्वालों के टीले से ज्यादा
अहमियत नहीं रखती थी
वही द्वारका आज उनके लिए दर्शनीय स्थल है।
देख रहे हो लगातार आने वाले ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों को ?
अगर वे आते हैं, पूजा-अर्चना-अभ्यर्थना करते हैं
तो इसमें क्या बुरा है? (पृ. 67-68)

पर एक सीमा के बाद कृष्ण ने भी वही गलती कि जो अस्मिता की राजनीति करनेवाले आज-कल के नेता करते हैं। उन्होंने व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सामुदायिक हितों की अवहेलना की या यह भी कह सकते हैं कि उनकी बलि चढ़ा दी। द्वारका की एक अक्षौहिणी सेना कौरवों के पक्ष से लड़ते हुए मारी गयी। महायुद्ध के बाद जब पूरे आर्यावर्त में श्रीकृष्ण की जय-जयकार हो रही थी तब द्वारका में यादव-कुल के आम-जन अपने प्रियजनों की मृत्यु पर बिलख रहे थे।

‘उपसंहार’ का चौथा कथ्य पर्यावरण के संकट से संबंधित है। उपन्यास के तीसरे खंड में कथाकार ने महायुद्ध के दुष्परिणामों का उल्लेख किया है। दिव्यास्त्रों के प्रयोग के कारण धरती का एक हिस्सा बंजर हो गया, कई नदियाँ सूख गयीं, कई जंगल जलकर राख हो गए। महाभारत के अठारह दिनों में अठारह अक्षौहिणी अर्थात् लगभग छत्तीस लाख वीर योद्धा मारे गए। यह युद्ध नहीं जैसे नरसंहार था। पूरे आर्यावर्त में जैसे ‘ब्राह्मणों, महिलाओं और बच्चों को छोड़कर कोई नहीं बचा’। हस्तिनापुर में जो थोड़ी-बहुत बस्तियाँ बची रह गयी थीं, उनमें महामारी फैल रही थी। लोग मर रहे थे और उन्हें जलाने के लिए लकड़ियाँ नहीं मिल रही थीं। महामारी के बाद भीषण अकाल फैला, क्योंकि हस्तिनापुर की धरती का एक बड़ा हिस्सा बंजर हो चुका था। लोग त्राहि-त्राहि कर उठे।

‘उपसंहार’ के पाँचवें अर्थात् अंतिम खंड में द्वारका के पर्यावरण में आनेवाले भयानक बदलावों का वर्णन किया गया है। द्वारका चारों तरफ से समुद्र से घिरी हुई थी वह कई मंजिलों वाले विशाल जहाज के समान दिखाई पड़ती थी। धीरे-धीरे समुद्र का जलस्तर बढ़ने लगा। नगर की सड़कों और गलियों में मगर और घड़ियाल घूमने लगे। आकाश में विशाल दैत्यनुमा गिद्ध उड़ने लगे, वे झपट्टा मारकर किसी व्यक्ति को उठा लेते और मांस खाकर हड्डियाँ समुद्र में फेंक देते। नगर की शोभा सरोवरों और तालाबों से थी जिनकी मछलियाँ अपने स्वाद के लिए प्रसिद्ध थीं। पर मछलियाँ पटापट मरने लगीं और पानी बदबू करने लगा। आरंभ में लोगों को यह लगा कि ये मुश्किलें थोड़े दिनों की हैं अपने आप खत्म हो जाएँगी। किंतु परिस्थितियाँ बद से बदतर होती चली गयीं :

मौसम हेमंत का था, लेकिन हवाएँ ऐसी चल रही थीं
जैसे जेठ की लू हो।

कभी-कभी आकाश अचानक धुंध से भर जाता
 क्षितिज पर काले-पीले-केसरिया बादल दिखाई पड़ते
 और कंकड़-पत्थर बरसाती हुई ऐसी आँधी आती
 कि बड़े-बूढ़े पेड़ जड़ों से उखड़कर भवनों की छतों पर गिरते
 और उन्हें खंडहर बना देते।
 खेतों की सारी फसलें पीली पड़ कर झुलस गई थीं
 किसान उन्हें देखते और हाय-हाय करते।
 सबसे आश्चर्यजनक बात यह हुई थी कि
 अग्नि अपना स्वभाव छोड़ रही थी
 चूल्हे कभी गरम होते, कभी नहीं गरम होते
 तवे और कड़ाहियाँ जैसे ही रह जाते
 और दूध में उबाल ही नहीं आता, चाहे जितना उबालो। (पृ. 109)

एक दिन कृष्ण संध्या कर रहे थे। गायत्री मंत्र के जाप के बाद उन्होंने डूबते सूर्य को अर्घ्य दिया। “उन्होंने सूर्य को देखा सफेद फक् निर्जीव सूर्य। उदय और अस्त बेला का सूर्य इस रंग का नहीं होता। उसके घेरों में तीन रंग थे किनारे का भाग काला, बीच का भस्म के समान धूसर, अंदर का निस्तेज गुलाबी।...यह अपशकुन था।” (पृ. 115) उन्हें कहीं दूर से आती हुई एक अनुगूँज सुनायी पड़ी “वासुदेव, सुख के दिन बीत चुके। अब तो भयानक संकट का समय आ रहा है। आने वाला हर नया दिन बीते हुए दिन से अधिक त्रासद होगा। धरती ने अपना यौवन खो दिया है।” इन सब बातों को देख-सुनकर कृष्ण ने निष्कर्ष निकालते हुए द्वारकावासियों से कहा, “द्वारका की धरती अशुद्ध और अपवित्र हो गई है हमारे-आपके कर्मों से। हमारे कुलगुरु गार्ग्य मुनि ने ग्रह-नक्षत्रों को देखकर बताया है कि द्वारका पर संकट है। किसी भी समय समुद्र में तूफान और भीषण ज्वार आ सकता है।” (पृ. 116) क्या इन सब बातों में हमें अपने युग के पर्यावरण संबंधी संकट की अनुगूँज नहीं सुनायी पड़ती? आधुनिक युग के एक प्रमुख इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम बीसवीं सदी के विश्व-इतिहास का समापन करते हुए लिखते हैं, “हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जो पूँजीवाद की दैत्याकार आर्थिक और प्रौद्योगिक-वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया द्वारा बंदी बनाकर उन्मूलित और रूपांतरित कर दी गयी है, जिसने पिछले दो या तीन शताब्दियों से प्रभुत्व जमा रखा है। हम जानते हैं या कम-से-कम यह मानना तर्कसंगत है कि यह अनंतकाल तक जारी नहीं रह सकता। भविष्य अतीत का सातत्य नहीं हो सकता। आंतरिक और बाह्य दोनों तरह के संकटों से यह स्पष्ट है कि हमलोग ऐतिहासिक संकट के एक बिंदु पर पहुँच चुके हैं। प्रौद्योगिक-वैज्ञानिक अर्थव्यवस्था द्वारा जो शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं वे अब इतनी विशाल हैं कि पर्यावरण अर्थात् मानव जीवन के भौतिक आधारों को ध्वस्त कर सकती हैं।” (Age of Extremes, P. 584) इसलिए हमें अपनी जीवन शैली और अर्थव्यवस्था को पर्यावरण के अनुकूल बदलना होगा ! अगर हम बदलाव लाने में असफल रहे तो द्वारका की तरह सर्वनाश निश्चित है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि ‘उपसंहार’ के ये चारों कथ्य आपस में गुंफित हैं। ये अपने चरित्र में अंतर्विरोधी नहीं हैं बल्कि एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। महज एक सौ सत्ताईस पृष्ठों में इन चारों कथ्य को सफलतापूर्वक बुन देना, कथा लेखन के असाधारण कौशल का

प्रमाण है। निश्चय ही इसका श्रेय लेखक की गहरी अंतर्दृष्टि और उसकी कथा-भाषा को जाता है। काशीनाथ सिंह ने तत्सम शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग के द्वारा इस उपन्यास के लिए एक नयी कथा-भाषा निर्मित की है। एक ऐसी भाषा जो कथ्य के अनुरूप 'सांस्कृतिक आस्वाद' देने में सफल हो सके। उन्होंने भाषा की आंतरिक संरचना को ही नहीं उसके बाह्य ढाँचे को भी परिवर्तित किया है। इसके लिए उन्होंने गद्य को कविता की तरह लिखने की तकनीक अपनायी है। इससे कथा में संक्षिप्त और लाघव का गुण आया है। यह कविता का आभास देनेवाली भाषा है, पर मूलतः यह गद्य है जिसे कविता की तरह लिखा गया है। क्योंकि इसे आसानी से गद्य की तरह पढ़ा जा सकता है, लेकिन कविता की तरह पढ़ने से बार-बार परेशानी उत्पन्न होती है। वैसे भी काशीनाथ सिंह का भाषिक स्वभाव ठेठ गद्य का है, काव्यात्मकता का अतिरिक्त आग्रह उन्होंने कभी नहीं रखा। यह अलग बात है कि प्रसंगानुकूल उसमें सहज ही काव्यत्व उत्पन्न हो जाता है, जैसे कृष्ण को जब राधा की याद आती है

और राधा भी जैसे यमुना की लहरों की हिलोर
और उस हिलोर की वह कूक
इठलाते, मचलते, चलते मोर की चाल जैसी कूक
क्यों पूँज रही है इधर कई दिनों से उनके कानों में? (पृ. 71)

किंतु उपन्यास की भाषा का जरा ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि काशीनाथ जी तत्सम शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग के द्वारा जिस नयी भाषिक संरचना को निर्मित करने का प्रयास करते हैं, उसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली है। उनके मूल देशज भाषिक मिजाज के जाने-अनजाने दखल के कारण उपन्यास की संरचना में दरारें पड़ गयी हैं। उदाहरण के लिए एक भिन्न संदर्भ में उद्धृत किए गए उपन्यास के एक अंश को फिर से देखा जा सकता है। दारुक! अच्छा याद दिलाया तुमने। जब युद्धभूमि में दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार हुईं, तो अर्जुन गांडीव फेंककर बैठ गया क्यों लड़ें? किसके लिए लड़ें? मारकर क्या मिलेगा? यह पितामह हैं, ये भाई हैं, ये चाचा हैं, यह गुरु हैं, सभी सगे-संबंधी हैं। किससे लड़ें? मैंने मन में कहा 'हुआ बंटोधार! तब मैंने लम्बा-चौड़ा भाषण पिलाया उसे। ताकि वह जी-जान से लड़े, युद्ध करे। "यहाँ 'बंटोधार' जैसे देशज शब्द का प्रयोग और 'मैंने लम्बा-चौड़ा भाषण पिलाया' जैसे सस्ते चलाऊ वाक्य के प्रयोग ने महायुद्ध आरंभ होने के समय के परिदृश्य की विराटता और उसके तनाव को नष्ट कर दिया है। यह कहा जा सकता है कि यहाँ कथाकार ने महायुद्ध के आरंभ का वर्णन या चित्रण नहीं किया है, बल्कि कृष्ण आत्म-विश्लेषण के क्रम में अपने प्रिय सारथी और सेवक दारुक से इसकी चर्चा कर रहे हैं। तब भी इस तरह के सस्ते चलाऊ वाक्यों के प्रयोग से पूरे प्रसंग की गंभीरता नष्ट हो गयी है। असल में इस तरह के शब्दों और वाक्यों से भी अधिक कुछेक स्थलों पर कथाकार के अगंभीर टोन ने उपन्यास में समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। नतीजतन कृष्ण का वह चरित्र निर्मित नहीं हो पाया है जो अपने पराभव में भी उदात्त नजर आए। कथाकार ने कृष्ण के युगीन सांस्कृतिक परिवेश को भी निर्मित करने में बहुत रुचि नहीं दिखाई है। द्वारकावासियों के भौतिक और सांस्कृतिक जीवन के विस्तृत एवं कुशलवर्णन से निर्मित समृद्ध परिवेश के बीच कृष्ण का चरित्र अधिक वास्तविक और विश्वसनीय जान पड़ता। इसके अभाव में कृष्ण का व्यक्तित्व आवश्यकता से अधिक वर्तमानकालिक प्रतीत होता है। द्वारका की सांस्कृतिक गरिमा भी इसी के कारण

उद्घाटित नहीं हो पाती। वरना उसके पतन में भी उसके भव्यता की झाँकी मिलती। तब शायद उसकी त्रासदी भी और अधिक गहरी और व्यंजक होती।

इन कमियों के होने पर भी उपन्यास के पिछले पृष्ठ पर अंकित यह प्रकाशकीय दावा सर्वथा संगत नजर आता है कि 'अपने संक्षिप्त कलेवर के बावजूद इसका स्वर महाकाव्यात्मक है'। पौराणिक वृत्तों की नयी अंतर्दृष्टिपूर्ण व्याख्या के द्वारा काशीनाथ सिंह ने अपने युग की गहन समस्याओं और संकट से संबंधित कथ्यों को जिस कौशल के साथ कथा में पिरोया है, उसके कारण यह न सिर्फ उनके अपने लेखकीय जीवन का एक महत्वपूर्ण उपन्यास माना जाएगा, बल्कि हिंदी के पौराणिक-ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा में एक नयी और महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

उपसंहार/काशीनाथ सिंह/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दरियागंज, नई दिल्ली-02/संस्करण-2013/मूल्य : ₹ 250

संपर्क : 239, कनिष्क अपार्टमेंट, ब्लॉक सी एवं डी, पॉकेट-1, शालीमार बाग, दिल्ली-110088, मो.-9868465200

ग्राहक/सदस्यता-प्रपत्र

संपादक

पक्षधर

प्रिय महोदय,

पक्षधर के लिए वार्षिक/पंचवार्षिक/आजीवन सदस्यता शुल्क रुपये.....

का धनादेश/चेक/ड्राफ्ट द्वारा भेज रहा/ रही हूँ। कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :

नाम.....

पता.....

.....

दूरभाष.....

पता:

सम्पादक

पक्षधर

C-4/604 ऑलिव काउंटी,

सेक्टर-5, वसुंधरा

गाजियाबाद-201012

मो. 09560236569

ई-मेल: pakshdharwarta@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति—75/रुपए

वार्षिक व्यक्तिगत—200 रुपए, संस्थाओं के लिए—300 रुपए (डाक खर्च सहित)

पाँच वर्षों के लिए—1000 रुपए

आजीवन—2500 रुपए

विदेश के लिए (वार्षिक)—75 डॉलर

आप सीधे बैंक खाते में भी सदस्यता शुल्क जमा कर सकते हैं।

बैंक खाता का विवरण :

A/C No. 31266280438

बैंक—स्टेट बैंक ऑफ इंडिया

शाखा—दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

IFSC—SBIN0001067

MICR Code—110002030

ड्राफ्ट/चेक 'पक्षधर' के नाम से भेजें। दिल्ली से बाहर के चेक के साथ 50 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।

